प्रथम संस्करण : जनवरी १९६५

मूल्य—दस रुपये पचास पैसे

प्रकाशक : समुदय प्रकाशन, ५९४ उन्नीसवाँ रास्ता, खार, बम्बई–५२
मुद्रक : ओमप्रकाश कपूर, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी (बनारस) ६२८९

हिन्दीके समर्थ समीक्षक

आचार्य पं० नन्ददुलारे वाजपेयी

को सादर समर्पित

—भगीरथ दीक्षित

'कामायनीके अध्ययनकी समस्याएँ'में आचार्य नगेन्द्रजीने ठीक ही लिखा है कि "अभी तक कामायनीकी कथाकी एक निर्भ्रान्त रूपरेखा नहीं बन पाई......। अतः कामायनीके अध्ययनकी एक आवश्यकता उसकी कथाकी रूपरेखाका स्पष्टीकरण भी है।" मैंने इस पुस्तकमें इसी रूपरेखाको समझानेका प्रयत्न किया है। वह कहाँ तक ठीक बन पड़ा है, इसे तो विद्वान् अध्येता ही समझें।

१४ नवम्बर, १९६४

हिन्दी विभाग,
जयहिन्द कालेज,
बम्बई।

—भगीरथ दीक्षित

कॉलरिजने शेक्सपिअरकी समीक्षा करते हुए लिखा है कि "खेदका विषय है कि हम पुस्तकोंका मूल्यांकन पुस्तकोंके माध्यमसे करते हैं, जब कि वास्तवमें हमें उनकी परख निजी अनुभूति, अनुभवके आधारपर करनी चाहिये"[1]। इस कथनकी ध्वनि यही है कि प्रत्येक व्यक्तिकी अन्तरात्माको ही सत्यका द्रष्टा और अन्तिम निर्णायक होना चाहिए। कदाचित् इसी कारण 'ब्राउनिंग'ने सत्यकी कसौटीके लिए लिखा था कि "सत्य हमारे भीतर होता है, वह बाह्य वस्तुओंसे उत्पन्न नहीं होता"[2]। 'कार्लाइल'का मत है कि "कवित्व शक्ति कोई अलग मानवीय शक्ति नहीं होती है, वह अन्य मानवीय शक्तियोंके साथ ऊपरसे जोड़ी गयी या उनसे विच्छिन्न शक्ति नहीं होती है; वरन् वह सभी मानव शक्तियोंकी सामान्य संगति और पूर्णताका परिणाम होती है। कविमें जो अनुभूतियाँ या देन होती हैं, वे सभी न्यूनाधिक विकसित रूपमें प्रत्येक मानवात्मामें अवस्थित होती है।"[3] क्रोचेने भी प्रत्येक व्यक्तिमें कवित्व शक्तिका अस्तित्व स्वीकार किया है।

साहित्यिक कृतिका रसास्वादन और मूल्यांकन प्रथम इसी सामान्य कवित्व शक्तिके द्वारा होना चाहिए। प्रत्येक व्यक्तिको चाहिए कि वह कृतिमें व्यक्त भावों, विचारोंका स्वयं अनुभव करे और तब वह किसी निर्णयपर पहुँचे। 'पर'के माध्यमसे कोई भी महान् उपलब्धि सम्भव नहीं होती है। इसलिए प्रत्येक समीक्षक, या कृतिके मनोवैज्ञानिक व्याख्याताका यह कर्तव्य होता है कि वह पाठकोंकी अन्तर्चेतनाको, कृतिके विषयमें, उद्बुद्ध करे, न कि उसके सामने अपनी मान्यताओंका आरोप करें। 'गेटे' का यह कथन सर्वथा ठीक है कि "कलाके सम्बन्धमें हमें अपने कार्यको उस बिन्दुपर लाना चाहिए, जहाँ सभी कुछ वैयक्तिक ज्ञानके रूपमें उपलब्ध हो जाय, परम्पराके रूपमें कुछ न रहे।"[4]।

1 It is to be lamented that we judge of books by books instead of referring what we read to our own experience 2 'Truth is within ourselves, it takes no rise From outward things, whatever you may believe 3 Poetry is no separate faculty, no organ which can be superadded to the rest or disjoined from them, but rather the result of their general harmony and completion The feelings, the gifts, that exist in the poet, are those that exist with more or less development in every human soul 4 In art I must bring my affairs to such a point that all become personal knowledge, and nothing remains tradition and name.

इस सन्दर्भमें टी० एस० इलियटका यह मत भी उल्लेखनीय है कि महत्त्वपूर्ण है उसकी अनुभूति, जो कवितासे आनन्द पाने योग्य, विभिन्न युगों भाषाओंके, मनुष्योंमें समान रूपसे पायी जाती है। इसलिए (कविता-कृतिका) समीक्षक वह है जो हमें वह देखने योग्य बना दे जिसे हमने कभी नहीं देखा था, अथवा देखा भी था तो साग्रह आँखोंसे, जो हमें उसके सामने अवस्थित करके, हमें उसके साथ छोड़कर हट जाय। इसके उपरान्त हमें अपनी संवेदना-शक्ति, बुद्धि और विद्वत्ताकी शक्ति, पर निर्भर रहना चाहिए।"

साहित्यिक समीक्षाके विषयमें यह मत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण और स्वस्थ है। वास्तवमें समीक्षकका यह कर्तव्य होता है कि वह किसी कृतिके अनुद्घाटित अथवा पूर्वग्रहाच्छादित रूपको निरावृत करके पाठकको वह सभी कुछ बता दे जिसके सहारे पाठक कृतिकी आत्मा, अनुभूतिके सामने खड़ा हो जाय, पाठककी अन्तर्चेतना कृतिकी आत्माका प्रत्यक्ष दर्शन उपलब्ध कर ले। इसके निमित्त, आवश्यकतानुसार, वह चाहे कृतिकारकी जीवनी प्रस्तुत करते हुए उसके स्वभाव वैशिष्ट्यका निदर्शन करे, उसकी अन्य कृतियोंका साक्ष्य प्रस्तुत करे, अथवा कृतिके शब्दार्थका, कलेवरका विश्लेषण विवेचन करे।

परन्तु काव्य-रसका आस्वादन उसे पाठककी अन्तर्चेतना, सामान्य मानवीय प्रकृति, पर ही छोड़ देना चाहिए। यदि वह कृतिमें व्यक्त देश-काल निरपेक्ष मानवीय भावको पाठककी संवेदना-शक्ति और बुद्धिके सम्मुख रख देनेमें सफलता प्राप्त कर लेता है, तो ऐसा माना जायगा कि उसने अपने समीक्षक-कर्तव्यका महत्त्वपूर्ण अंश सम्पादित कर लिया। हम जानते हैं कि काव्यमें दो पक्ष होते हैं : रूप पक्ष (या विभाव पक्ष) और भाव-पक्ष। भाव ही रूपमें व्याप्त होता है। या यों कहिये कि रूपके सम्यक् बोधसे उसका भाव स्वयं उपलब्ध हो जाता है। समर्थ समीक्षक अपनी स्वतन्त्र और तथ्य-स्पर्शी दृष्टि शक्तिके द्वारा कृतिकी 'वस्तु'का (रूपका) पूर्ण बोध प्राप्त करता है और अपनी विवेचना शक्ति द्वारा वह उस 'वस्तु'को पाठकके सम्मुख इस रूपमें रख देता है कि उसमें निहित भाव पाठकके हृदय और बुद्धिके लिए प्रत्यक्ष एवं सुलभ हो जाते हैं। अपने सामने पाकर पाठक-हृदय उसे स्वयं ग्रहण कर लेगा और उसका आस्वादन करेगा।

कविता एक हृदयसे निकलकर सीधे दूसरे हृदयतक जाती है। परन्तु उसकी यह यात्रा कलाके सहारे पूरी होती है। कविकी आत्माकी अनुभूति 'रूप' स्वीकार करके व्यक्त होती है। "नोऽदिता कविता लोके यावज्जाता न वर्णना", अर्थात् वर्णनाके अभावमें कविताका उदय होता ही नहीं। यह 'वर्णना' ही कविकी आत्मिक अनुभूतिका प्रकट रूप है। अनुभूतिके रूप ग्रहणकी प्रक्रिया कला कहलाती है। अतएव मूल अनुभूतिको इसी कलाके माध्यमसे ग्रहण किया जा सकता है। परन्तु सर्वसाधारण कला-बोधके अभावके कारण इस कार्यमें असमर्थ होता है। यहीं पर समीक्षक सर्व-

साधारणकी सहायता करता है। यही उसकी प्रथम सामाजिक उपयोगिता और महत्त्व है। गोसाईंजीका कहना है कि—

> "अति अपार जे सरित सर जो नृप सेतु कराहिं।
> चढ़ि पिपीलिकउ परम लघु बिनु श्रम पारहिं जाहिं।"

समर्थ समीक्षक एक ऐसा सेतु-बन्ध निर्मित करता है, जिसके सहारे साधारण हृदय भी कविके असाधारण, महान्, हृदयतक पहुँच जाता है। लाजायनसने कहा है कि "कविता मानव आत्माकी (ध्वनि नहीं) प्रतिध्वनि होती है"[1]। समीक्षक इस प्रतिध्वनिका सूत्र पकड़कर जिज्ञासुओंको उसके मूल उद्गम कविकी आत्मिक अनुभूतितक ले जाता है।

किन्तु समीक्षकका कर्तव्य यहींपर समाप्त नहीं हो जाता है, यह तो उसका एक पक्ष है, मौलिक या प्राथमिक पक्ष। यहाँ से उसके दूसरे पक्षका आरम्भ होता है। यहाँ-पर हमें यह स्मरण रखना होगा कि जिज्ञासुके कृतिकी आत्मा, अनुभूति, के सम्मुख उपस्थित कर देने (अर्थात् समीक्षक-कर्तव्यके पूर्व-पक्षके पालन)के उपरान्त ही समीक्षक-को अपने इस दूसरे कर्तव्य पक्षका पालन करना चाहिए। समीक्षक कर्तव्यका यह दूसरा पक्ष है कृतिकी अनुभूतिका मूल्यांकन करना, कृतिके प्रभावकी मीमांसा और उसका मूल्यांकन करना। क्योंकि इतना ही पर्याप्त नहीं है कि कोई कृति हमें अनुभूति प्रदान करे, हम यह भी देखना आवश्यक है कि उस अनुभूतिका हमारे जीवनपर किस प्रकार-का और किस कोटिका प्रभाव पड़ता है।

परन्तु कृतिके प्रभावकी मीमांसा और उसके मूल्यांकनके लिए समीक्षककी जीवनके यथार्थ और उद्देश्यकी पूरी पूरी पकड़ होनी चाहिए, उसे यह बोध होना चाहिए कि 'हम क्या हैं' और 'हमे क्या होना चाहिये'। मैथ्यू आर्नोल्डका यह कथन मैं ठीक मानता हूँ कि "साहित्य जीवनकी समीक्षा है।" साहित्यकार हमें इस प्रश्नका उत्तर देता है कि हमें कैसे जीना चाहिए।[2] और इसके लिए वह यह भी स्पष्ट कर देता है कि 'हम क्या हैं।' ये दोनों प्रश्न और इनके उत्तर परस्पर सम्बन्धित हैं। जीवन इन दोनों प्रश्नों (हम क्या हैं और हमें क्या होना चाहिए)के उपयुक्त उत्तर द्वारा ही जाना जा सकता है। प्रश्न होगा कि 'उपयुक्त उत्तर' का क्या तात्पर्य है?

ध्यान रहे, मैथ्यू आर्नोल्डने जहाँ साहित्यको 'जीवनकी समीक्षा' कहा, वहाँ उन्होंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि "मनुष्य जातिको इस तथ्यका निरन्तर अधिकाधिक बोध होता चलेगा कि जीवनकी व्याख्याके लिए, जीवनको सान्त्वना प्रदान करनेके लिए, और जीवनके पोषणके लिए, उसे साहित्यकी शरणमे जाना होगा।" स्पष्ट है कि 'मैथ्यू'के अनुसार, जिस साहित्यमें जीवनकी प्रकृतिका बोध हो, जिससे हमें

[1] Poetry is an echo of great soul. [2] How to live.

सान्त्वना मिले और जो जीवनका पोषण करे, उसीमें 'जीवनकी समीक्षा' होगी और उसीमें उपर्युक्त दोनों प्रश्नोंके 'उपयुक्त' उत्तर मिलेंगे।

एफ० आर० लीविस[1] ने मैथ्यू आर्नोल्डके उपर्युक्त मतकी अन्तर्ध्वनिको स्पष्ट करते हुए यह ठीक ही लिखा है कि "धर्मके विषयमें आर्नोल्डके मतसे जो लोग असह मत हैं वे (भी) यह मानेंगे कि चूँकि अन्य सभी परम्परायें शिथिल पड़ गयी हैं और सामाजिक व्यवस्थायें विच्छिन्न हो गयी हैं, इसलिए साहित्यिक परम्पराको सुरक्षित रखना अधिक महत्त्वपूर्ण हो गया है।" साहित्यिक परम्परा निरन्तर प्रगतिशील रहती है, रूढ़ि परम्पराकी विकृति होती है। लीविसका तात्पर्य यह है कि "जीवनकी व्याख्या करना, उसे सान्त्वना प्रदान करना, तथा उसका पोषण करना" साहित्यकी परम्परा है। इसका निर्वाह करना साहित्यकारका उत्तरदायित्व है। हम जानते हैं कि युग-युगसे मानव जातिने जिन साहित्य-ग्रन्थोंको सर्वोपरि आदर प्रदान किया है उनमें इस उत्तरदायित्वका निर्वाह हुआ है। उन गौरव ग्रन्थोंने मानवताके सपोषण, सवर्धन और सुरक्षामें अपूर्व योग प्रदान किया है।

आजके साहित्यकारका उत्तरदायित्व और अधिक हो चला है। क्योंकि आधुनिक युग अत्यधिक शकाओं, विभ्रमों, अनिश्चितताओं, निराशा, अव्यवस्थाओंका युग है। विज्ञानने पुराने विश्वासों और आचारोंको अस्वीकार कर दिया है। बढते हुए नवीन ज्ञानने प्राचीन आचारोंके प्रति अविश्वास उत्पन्न होनेमें सहायता ही प्रदान की है। विभ्रम और अनिश्चितताके इस क्षणमें सर्वाधिक व्यापक और जटिल समस्या यह है कि आजतक सामान्य रूपसे मानवविषयक किसी निश्चित सिद्धान्तकी स्थापना नहीं हो सकी। फ्रायडने मनुष्यको मात्र प्राणिशास्त्रीय[2] पदार्थ स्वीकार किया। डार्विनकी परम्पराका पालन करते हुए उसने मनुष्यको जड प्रकृतिका अश बताया। मार्क्सकी आँखमें मानव आर्थिक और सामाजिक शक्तियोंकी निर्मिति जँचा, वह उस विकासशील आवश्यकताका फल है जो उतनी ही कठोर[3] है जितनी उसे हम प्राकृतिक विश्वमें देखते हैं। एक आशावादी मानव चित्र उन बुद्धिवादियोंका है जो मनुष्यकी विभिन्न बुद्धिसम्मत[4] इच्छाओंकी सगतिमें विश्वास करते हुए यह मानते हैं कि यदि मानव प्रकृतिको बाह्य हस्तक्षेपोंसे बचाया जा सके तो मानव-समाजमें व्याप्त विभिन्नतामें आतरिक सगति स्थापित हो जायगी। ये लोग मूल मानवीय प्रकृतिको कल्याणकर मानते हैं। 'रूसो'को इस वर्गका प्रमुख प्रतिनिधि कहा जा सकता है।

उन निराशावादी वैज्ञानिक मानवतावादियोंका मत भी हमारे सामने है जो मानते हैं कि मनुष्यकी आकाक्षायें और आशायें[5] 'अणुओंके आकस्मिक सघटनके परिणाम मात्र हैं'[6]। यह मत बर्ट्रेण्ड रसलका है। इन सभी उपर्युक्त मान्यताओंमें मानवको प्रकृतिका दास ही माना गया है। ये मत उन पुराने आध्यात्मिक धार्मिक

1 F R Leavis 2 Biological 3 Rigid 4. Rational 5 Aspirations and hopes 6 But the outcome of chance collocation of atoms

मतोंसे मूलतः भिन्न हैं, जिनके अनुसार मनुष्यको जड़ प्रकृति और प्रकृतीतर चेतनका संघात माना जाता रहा है, जिनके अनुसार यह माना जाता रहा कि मनुष्य स्वतन्त्र-चेता और आत्म निर्णय करनेवाला प्राणी है, वह पाप तभी करता है जब वह अपनी इस स्वतन्त्रताका दुरुपयोग करता है। मानवात्माको विश्वात्मा, विश्वकी मूलसत्तासे अभिन्न माननेवाले मतोंसे भी इन उपर्युक्त मतोंका स्पष्ट विरोध है। यद्यपि इन धार्मिक और आध्यात्मिक मतोंकी प्रतिध्वनि आधुनिक युगमें भी अक्षुण्ण है, परन्तु उसमें पहले जैसा बल नहीं रह गया है। अधिकांश लोगोंको उपर्युक्त वैज्ञानिक मत ही आकर्षित कर रहे हैं।

सामाजिक नीति[1]के क्षेत्रमें भी आज अत्यधिक विभ्रम छा गया है। पुराने धार्मिक और नैतिक सिद्धान्तोंकी निरपेक्षता[2]के विरोधमें हम 'सापेक्षतावाद'[3]के प्रति प्रबल आग्रह देख रहे हैं। रूथ बेनेडिक्ट[4]ने 'पैटर्न्स ऑफ कल्चर'में लिखा है, और मेरे मतमें उनका कथन सत्य भी है, कि "आधुनिक कृत्रिम तर्कवादी प्रवृत्तिने *सामाजिक सापेक्षताको निराशाका सिद्धान्त बना दिया है। इसने परम्परागत शाश्वतता* और आदर्शवादिताके स्वप्नोंसे तथा पूर्ण वैयक्तिक स्वतन्त्रताकी भ्रान्तिसे एक साथ ही असंगति व्यक्त की है।"[5]

बात यह नहीं है कि जीवन और जीवन-मूल्योंकी समीक्षामें सापेक्षतावादका महत्त्व नहीं है। उसका महत्त्व अत्यधिक है। व्यक्तिका जीवन पैतृकता[6] और परिवेश[7]से प्रभावित होता है, यह तथ्य है। 'परिवेश' स्वयं जटिल होता है; उसी प्रकार व्यक्ति और उसके 'परिवेश'के विभिन्न सम्बन्ध भी जटिल होते हैं। साथ ही, व्यक्ति परिवेशसे प्रभावित होता है और परिवेशको प्रभावित भी करता है। वह अपनेको 'परिवेश'के अनुकूल बनाता रहता है।[8] परन्तु इसकी प्रक्रिया और रूप भी कई प्रकारके होते हैं, जैसे प्राणिशास्त्रीय[9], शारीरिक[10] और सामाजिक[11] आदि। इसलिए व्यक्तिके जीवनको परिवेश निरपेक्ष रूपमें समझना कभी भी ठीक नहीं माना जा सकता है।

परन्तु जैसा कि ऊपरकी पंक्तियोंमें संकेत किया जा चुका है, व्यक्ति और उसके *परिवेशकी मीमांसा अत्यधिक विवेककी अपेक्षा रखती है। अविवेकके सहारे हम इसके* द्वारा गलत निर्णयपर भी पहुँच सकते हैं। नैतिक मूल्योंकी निरपेक्षता[12]को न मानना अविवेक ही कहा जायगा। सापेक्षतावादके अन्ध आग्रहने नैतिक मूल्योंको भूगोल तथा समाज या परिवेशकी सापेक्षताकी ही सीमामें घेरकर बन्द कर दिया है। परन्तु

1. Social ethics 2 Absoluteness 3 Relativism 4 Ruth Benedict 5 The *sophisticated* modern temper has made *social relativity* a doctrine of despair It has pointed out its incongruity with the orthodox dreams of permanence and ideality and with individual's illusions of *autonomy* 6 Heredity. 7. *Environment* 8 Adaptation 9 Biological 10. Physical 11. Social 12 Objectivity of moral judgements.

यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो यह स्पष्ट होगा कि जीवनके कुछ मूल्य निरपेक्ष ही होते हैं। समाजके स्वास्थ्यके लिए उनकी निरपेक्ष प्रतिष्ठा अनिवार्य है। रूथ बेनेडिक्टका जो मत ऊपर उद्धृत किया गया है, वह इसी मूल्य निरपेक्षताका समर्थन करता है। एक सगन ही सभी जीवन मूल्योंको सापेक्षताके कठघरेमें भर देना निराशावाद, अव्यवस्थाका कारण ही होता है; और वही आज हो रहा है। विस्तार भयसे मैं इस प्रसंगपर इतना ही संकेत कर देना ठीक समझ रहा हूँ कि हमें जीवन मूल्योंकी परख करते समय सापेक्षता और निरपेक्षता दोनोंके सम्यक् विवेचनके आधारको स्वीकार करना चाहिए। आज जो मूल्यविषयक इतनी अव्यवस्था दिखलायी पड रही है, उसका प्रमुख कारण इस आधारके सम्यक् बोधका अभाव ही है।

समाजशास्त्रीय अध्ययन मनुष्यका, उसके सभी प्रकारके परिवेशका, वैज्ञानिक अनुसन्धान करते चल रहे हैं। इनकी विवेचनायें और उपलब्धियोंका निश्चित रूपसे महत्त्व है। हमें इनका उपयोग करना ही चाहिए। परन्तु हमें यह याद रखना चाहिए कि ये सभी वैज्ञानिक अध्ययन मनुष्य जीवनके केवल उसी अंशकी विवेचना कर सकते हैं, जो विज्ञानकी परिधिके भीतर आ सकता है, जो विज्ञानकी पहुँचके भीतर है। जीवनका जो अंश विज्ञानकी पहुँचके बाहर है वहाँतक ये नहीं जा सकते हैं। 'आत्मा' विज्ञानके अध्ययनका विषय नहीं है। आधुनिक भौतिकशास्त्र, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र आदि सभी इस तत्वको अपने अध्ययनका विषय नहीं स्वीकार करते, क्योंकि वे वैसा कर भी नहीं सकते। जिसका विश्लेषण नहीं हो सकता है, वह 'आत्मा' इन विज्ञान के अधिकारसे परे होगी ही। जिन्हें आत्माकी अनुभूति है, जिन्होंने इसका साक्षात्कार किया है, उन (ऋषियों)की भी सुनना हमारा कर्तव्य है। उन्हें गलत तभी कहा जा सकता है जब उनके द्वारा निर्धारित साधनाओंका, मार्गोंका, अनुगमन करनेके, उपरान्त हमें उनके मतोंसे भिन्न मतका बोध हो।

आजके बढते हुए उद्योग, यन्त्रज्ञान, जनसम्पर्कके विविध माध्यमों (रेडियो, सिनेमा, टेलीविजन इत्यादि)ने हमारी संस्कृति, आचार व्यवहारको अनतुमानित मात्रामें प्रभावित किया है। कभी-कभी क्या, प्रायः हम इस प्रभावको समझ भी नहीं पाते हैं। इन प्रभावोंके कारण हम द्रुतगतिसे बदलते जा रहे हैं। सबसे भयावह स्थिति तो यह है कि मनुष्यका व्यक्तित्व वास्तवमें नष्ट होता जा रहा है। व्यक्तित्वका ह्रास चिन्ताका विषय है। हमारी रुचि भी हमारी नहीं रह गयी, और हमें इसका पतातक नहीं। आइ० ए० रीचर्ड्सने ठीक ही लिखा है कि :—

"आज क्षुद्र साहित्य, क्षुद्र कला, चल चित्र इत्यादिका अधिकांश वस्तुओंके प्रति हमारी अपरिपक्व और वस्तुतः अनुपयुक्त प्रवृत्तियोंके निर्धारणमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण प्रभाव है। यहाँतक कि एक सुन्दर लडकीके या लडकेके सौन्दर्य निर्णायक — हैं, यह भी आज व्यापक पैमानेपर पत्रिकाओंके मुख पृष्ठों और सिनेमाके

नायक-नायिकाओंके द्वारा निर्धारित हो रहा है; वास्तवमें उनका निर्धारण करना स्पष्टतः प्राकृतिक और व्यक्तिगत कार्य होना चाहिए।"[1]

इस कथनकी सत्यता हमारे सामने है। हालीवुड (या सिने-जगत)का प्रभाव व्यक्तिगत वेश-भूषा, केश-विन्यास, साज-सज्जा, घरके भीतर सामानोंकी व्यवस्था आदिमें ही नहीं, वरन् प्रेम, विनोद, सम्भाषण आदि जीवन व्यापारोंमें भी परिलक्षित हो रहा है। कहनेका तात्पर्य यह है कि अधिकांश लोग छाया जगसे उपलब्ध छाया-अस्तित्वमें जीवन-यापन कर रहे हैं। उनकी कोई अपनी रुचि नहीं है, उनका व्यक्तित्व उभर नहीं पा रहा है। अधिकांश साहित्यकारों और समीक्षकोंके सामने भी यही समस्या है। अनजानमें वे इस छाया अस्तित्वको ही अपना व्यक्तित्व मानकर चल रहे हैं।

राजनीतिके क्षेत्रमें भी यही हो रहा है। कई प्रकारकी शासन व्यवस्थायें प्रयोगमें चल रही हैं। परन्तु यदि ध्यान दिया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि वहाँ भी वास्तविक व्यक्तित्वके विकासमें अवरोध प्रस्तुत है। रूसको छोड़ दीजिये तो भी जन-तंत्रीय' कही जाने वाली व्यवस्थामें व्यक्तित्वके दमनकी सभी संभावनायें बनी हुई हैं। डे टोक्वीने 'डेमाक्रेसी इन अमेरिका'में इस विषम समस्याको बड़ी दूरदर्शिता औरबुद्धिमत्ता-के साथ इन पंक्तियोंमें स्पष्ट कर दिया है, जिसपर हमें ध्यान देना वांछनीय है :—

"समानताके सिद्धान्तमें मैं अत्यधिक स्पष्ट रूपसे दो प्रवृत्तियाँ पाता हूँ। एक प्रवृत्ति वह है, जो प्रत्येक व्यक्तिको अपरीक्षित विचारोंकी ओर ले जाती है, और दूसरी उसे सोचने या विचार करनेसे ही विरत कर रही है। और, मैं देखता हूँ कि कुछ नियमोंके प्रभावसे जन-तन्त्र किस प्रकार मनकी उस स्वतन्त्रताको ही समाप्त कर देगा, जिसके लिए जन तन्त्रीय सामाजिक दशा अनुकूल होती है। परिणामस्वरूप व्यक्तियों या वर्गों द्वारा किसी समय आरोपित सभी बन्धनोंको तोड़ लेनेके उपरान्त, मानव मन बहुमत (या अधिकतम मत)की सामान्य इच्छाके प्रबल पाशमें बँध जायगा।"[6]

1. At present bad literature, bad art, the cinema etc. are an influence of the first importance in fixing immature and actually inapplicable attitudes to most things. Even the decision as to what constitutes a pretty girl or a handsome young man, an affair apparently natural and personal enough, is largely determined by magazine covers and movie stars. 2. Furniture. 3. Fantasy existence 4. Democratic. 5 De Tocqueville 6. In the principle of equality, I very clearly discern two tendencies, the one leading the mind of every man to the untried thoughts, the other inclined to prohibit him from thinking at all. And I perceive how, under the dominion of certain laws, democracy would extinguish the liberty of the mind to which a democratic social condition is favourable, so that, after having broken all the bondage once imposed on it by ranks or by men, the human mind would be closely fettered to the general will of the greatest number.

साहित्यकी ओर ध्यान दीजिये, यहाँ भी वही अव्यवस्था है। औद्योगिक क्रान्तिके प्रत्यक्ष परिणामस्वरूप स्थितियोंमें महान् परिवर्तन हो चला। प्रिंटिंग प्रेसके आविष्कारने साहित्यमें वाणिज्यका अभूतपूर्व प्रवेश करा दिया। पुस्तकों, पत्रिकाओं तथा पत्रोंकी संख्यामें अत्यधिक वृद्धि होने लगी। साथ ही साहित्यका स्तर भी नीचे खिसक आया। नवीन वैज्ञानिक आविष्कारों (एंजिन, टेलीग्राफ, रेडियो, टेलीविजन, सिनेमा आदि)ने बौद्धिक क्रान्ति प्रस्तुत कर दी। हमें सभी प्रकारके, और सभी देशोंके विचार, सुगतापूर्वक उपलब्ध होने लगे हैं। भौगोलिक सीमाएँ टूट गयी हैं, इसलिए साहित्यका भौगोलिक वैशिष्ट्य भी दूर तक प्रभावित हुआ है। जान ड्यूई[1] ने यद्यपि इस स्थितिको कल्याणप्रद और बौद्धिक पुनर्जागरण प्रदान करनेवाली समझा था, परन्तु एफ० आर० लीविस[2]का इस विषयमें यह मत भी विचारणीय है :—

"स्थिति यह है कि संगठनात्मक साधनोंको जटिल बनाने और बढानेमें समाजने मानो बुद्धि, स्मृति और नैतिक उद्देश्योंको खो दिया है।"[3]

जन सामान्यके लिए लिखे जानेवाले साहित्यमें इस भयप्रद स्थितिको देखा जा सकता है। अंग्रेजी साहित्यमें बीसवीं शतीके लगभग प्रारम्भसे (और हिन्दी साहित्यमें तीन दशकों बादसे) साहित्यकारोंने जो कुछ लिखा है, उसके अधिकांशमें यही प्रकट होता है कि जनताके कल्पना प्रवण जीवन[4]में विक्षुब्धिकारक ह्रास हो चला है। ऐसी साहित्यिक कृतियोंकी बिक्री अधिक हो रही है, जिसमें लीविसके अनुसार बुद्धि, स्मृति और नैतिक उद्देश्योंका अभाव-सा होता है। व्यक्तिके जीवनके कुछ अंश, शरीरके कुछ अंगोंके समान ही, केवल निजी साक्षात्कारके लिए होते हैं, व्यक्ति इसे समाजसे गोपनीय रखना चाहता है।

परन्तु इन साहित्योंमें व्यक्तिकी इस गोपनीयताको, जो उसका केवल अपना[5] है, उघाड दिया जा रहा है, और उसमें व्यक्तिकी विजयका डंका पीटा जा रहा है। वस्तुत: यह व्यक्तिके निजत्वकी हार है। साहित्यमें पायी जानेवाली अश्लीलता, क्षुद्रता और उत्तेजना आदिकी अपेक्षा व्यक्तिके निजत्व[6] की यह हार अत्यधिक चिन्ताकी बात है। मानवको बाह्याभ्यन्तर नग्न करके देखनेकी प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है। नग्नपनको देखनेमें जहाँ कहीं थोडी बहुत बाधा प्रस्तुत होती है, वहाँ प्रतीकोंका सहारा लिया जा रहा है।

"वाणिज्य प्रवृत्तिने जन सामान्यकी क्षुद्र प्रवृत्तियोंको पर्याप्त उभार दिया है। उनका विरोध होना चाहिए केवल इसलिए नहीं कि उसने साहित्यमें प्रेम और अपराधकी कहानियाँ देकर लोगोंको व्यभिचार और अपराध करनेकी दिशामें प्रेरित किया है, वरन् इसलिए भी कि इस कोटिके साहित्यमें मानवीय सम्बन्धों और

1 John Dewey 2 F. R Leavis 3 It is as if society, in so complicating and extending the machinery of organization, had lost intelligence memory and moral purpose 4 Imaginative life. 5 Private 6 Privacy.

नैतिक चुनाव[1] जैसे महत्त्वपूर्ण विषयोंमें ऐसी प्रवृत्तियाँ व्यक्त की जाती हैं, जो अपेक्षाकृत अधिक उदात्त या सूक्ष्म प्रतिक्रियाओंका निरोध करती हैं। ऐसे उपन्यासों या कहानियोंमें चित्रित जोरलोंको पढ़ते पढ़ते लोग प्राय उन व्यक्तियोंको समझनेमें असमर्थ हो जाते हैं, जिनके सम्पर्कमें उन्हें रहना है। इस प्रकार व्यावहारिक जीवन संघर्षमय प्रतीत होने लगता है। आज यही हो रहा है।

जनसम्पर्कके विभिन्न यान्त्रिक साधनोंके कारण रात दिन साहित्य द्वारा सहस्रों, लक्षों व्यक्तियोंके भावोंको निःसत्व[2] और प्रवृत्तियों तथा दृष्टिकोणको एकरूप[3] किया जा रहा है। फिर भी लोग अपनेको प्रबुद्ध मानकर चैनकी साँस ले रहे हैं। लोग माननेको तैयार भी नहीं हैं कि उनका निजी व्यक्तित्व नष्ट हो गया है। वे समझते हैं कि वे एकदम आधुनिक हैं, और प्रगतिशील हैं।

बदलते हुए 'परिवेश'के अनुकूल बननेमें ही प्रगतिशीलता नहीं होती है। परिवेशके प्रति व्यक्तिकी अनुकूलता[4] कई प्रकारकी होती है। जिस प्रकार एक बूँद पानी जलाशयमें मिलकर पूर्णतः खप जाता है, उसकी निजी इकाई सर्वदाके लिए विलीन हो जाती है, उस प्रकार व्यक्ति अपने परिवेशमें विलीन नहीं हो जाता। परिवेशके अनुकूल अपनेको बनाने और अपनेको परिवेशमें विलीन कर देनेमें अन्तर होता है। सामाजिक अनुकूलीकरण[5]में मूल्यकी कोई-न-कोई मान्य प्रतिष्ठाका अन्तर्भाव बना रहता है। व्यक्ति अपने परिवेशका चुनाव और सुधार[6] इस प्रकार करता है कि उसकी अधिकतम इच्छाओंकी पूर्ति सम्भव हो सके। लेकिन ऐसा वह किसी मान्य, सामाजिक रूपसे मान्य, जीवन मूल्यके आधारपर ही करता है।

जीवन एक गतिशील प्रक्रिया है, समाजका जीवन भी बदलता रहता है। परन्तु यहाँपर पुनः यह ध्यान रखना आवश्यक है कि 'बदलना'का अर्थ यह नहीं है कि पुराने मूल्योंका सर्वथा लोप हो जाता है। सामाजिक वरासत[7] और परिवेश दोनोंका इस मूल्य परिवर्तनमें अनिवार्य योग रहता है। प्रत्येक व्यक्ति, और समाज, के पास परम्परागत मूल्य भावना होती है। परिवेशके परिवर्तनके साथ ही, उसमें परिवर्तन होता है, परन्तु यह परिवर्तन 'परम्परा'का विरोधी नहीं, वरन् उसका प्रगतिशील रूप ही होता है।

परम्परागत जीवन मूल्योंके, नये परिवेशके कारण, परिवर्तित रूपोंको ठीक ठीक हृदयगम करनेके लिए व्यक्तिमें निजी उत्कृष्ट विचार-शक्ति होनी चाहिए। परन्तु हम ऊपरकी पंक्तियोंमें यह देख आये हैं कि आधुनिक युगमें निजी विचार शक्ति ह्रासोन्मुख है। 'दी ह्यूमन कण्डीशन' (१९५८) में हना अरेण्ट[8]ने, इसीलिये ठीक ही लिखा कि—

'वैयक्तिक जीवन वस्तुतः जातिकी सामान्य-जीवन प्रक्रियामें विलीन हो गया है, और व्यक्तिके जिस सक्रिय निर्णयकी आज भी आवश्यकता बनी हुई है वह मानो

1 Moral choice 2 Sterilization 3 Standardization 4 Adaptation 5 Social adaptation 6 Modification 7 Social heredity 8 Hannah Arendt

वैयक्तिकताके त्यागकी हो गयी है''' यह सुगमतापूर्वक अनुमान किया जा सकता है कि आधुनिक युग, जो मानवीय सक्रियताके अपूर्व और सफलोन्मुख उद्रेकके साथ प्रारम्भ हुआ, उस विनाशकारी निःसत्व निष्क्रियतामें समाप्त होगा जो मानव इतिहासकी अभूतपूर्व घटना होगी।[1]

सक्षेपमें इस चर्चाका उद्देश्य केवल यह दिखाना रहा है कि जीवनके सभी क्षेत्रोंमें अव्यवस्था फैली हुई है। व्यक्तिकी स्वतंत्र विचार शक्ति दबती जा रही है। अतएव किसी साहित्यिक कृतिके मूल्यांकनका कार्य आजके युगमें अत्यन्त कठिन और अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। जिसे नये परिवेशमें जीवनका बोध नहीं होगा, वह 'जीवनकी समीक्षा' (साहित्य)का मूल्यांकन नहीं कर सकता है। वह समीक्षक महान्को तुच्छ और तुच्छको महान् कह सकता है, और हम ऐसा देख भी रहे हैं। यदि कोई अप्रौढ आग्रही व्यक्ति महान्को महान् और तुच्छको तुच्छ कहता है तो उस दशामें भी वह न तो अपनी मीमांसाको उपयुक्त रूप प्रदान कर सकेगा और न उसके मतका उपयुक्त प्रभाव ही पड़ेगा, क्योंकि उसकी उपलब्धि 'घुणाक्षर न्याय'के आधारपर होती है, न कि आत्मिक चिन्तनके आलोकके सहारे।

सत्यका क्षेत्र सदा सबकी शोध शक्तिके लिये खुला रहता है। अपनी सामर्थ्यके बलपर लोग उसे ग्रहण करते हैं। परन्तु जिसमें स्वतन्त्र चिन्तन शक्ति नहीं है, जिसमें अपनी निजी दृष्टि नहीं है वह अर्थोंकी सत्यविषयक उपलब्धियोंको परख नहीं कर सकता। यही कारण है कि आज लोग किसी-न-किसी 'व्यास'के 'गुरु' बनकर, मीमांसा कर्ममें प्रवृत्त होकर, "श्रुतिविप्रतिपत्तियों"की सर्जना करते चल रहे हैं। किसीके व्यास, मार्क्स, लेनिन आदि हैं, तो किसीके फ्रायड, युग आदि। कोई निजको ही व्यास माननेके भ्रममें पड़ा चल रहा है। स्थिति बड़ी ही भयावह है।

इसलिए मेरा मत है कि साहित्यकी समीक्षाको इस भयावह स्थितिसे उबारना आवश्यक है। प्रश्न है कि इसका उपचार क्या है? उत्तरमें यह निवेदन किया जा सकता है कि समीक्षक बनकर कृतिका मूल्यांकन करनेके पूर्व प्रत्येक व्यक्तिको निजसे यह प्रश्न करना चाहिए कि "क्या मैंने निजी चिन्तन शक्ति और व्यवहारके माध्यमसे जीवनकी आत्माको ग्रहण कर लिया है?" हाँ में उत्तर मिलनेपर ही उस मूल्यांकन कर्ममें प्रवृत्त होना चाहिए। अन्यथा उसे वैयक्तिक ज्ञानकी मौन रहना चाहिए।

अबतक मैंने समीक्षकके दो कर्तव्योंपर विचार किया। अब मैं पुनः यह कह

---

1 Individual life had actually been submerged in the over-all life process of the species and the only active decision still required of the individual were let go so to say, to abandon his individuality It is quite conceivable that the modern age—which began with such an unprecedented and promising outburst of human activity—may end in the deadliest, most sterile passivity history has ever known

देना आवश्यक समझ रहा हूँ कि किसी भी स्थितिमें इन दो कर्तव्योंका भ्रम विपर्यय या मिश्रण नहीं होना चाहिए। पाठककी अन्तर्चेतनाको कृतिविषयक उद्बुद्धता प्रदान किये बिना, काव्यकी आत्मा या उसके स्वरूपकी स्पष्ट विवेचना किये बिना, यदि कोई समीक्षक उस काव्यके लक्ष्य एवं कलाकी मीमांसा और मूल्यांकनमें प्रवृत्त होगा तो यह निस्सन्दिग्ध है कि साधारण पाठक उस काव्यको स्पष्ट रूपसे न समझ सकेगा। क्योंकि ऐसी स्थितिमें पाठक, समीक्षकके तर्कों या मूल्य-मीमांसाकी उपलब्धियोंपर स्वतन्त्र विचार नहीं कर सकेगा।

यदि समीक्षक समर्थ विद्वान् एवं तटस्थ मीमांसक है तो यह सभावना नहीं होगी कि उसकी समीक्षासे पाठक काव्यका गलत आशय ग्रहण करेगा। परन्तु ऐसी दशामे भी यह सभावना तो बनी ही रहेगी कि पाठकका काव्य-बोध समीक्षकके काव्य बोधपर ही ऐकान्तिक रूपसे आधृत होगा। परिणामत इस कोटिकी समीक्षा काव्य-बोधका आन्तरिक माध्यम न होकर बहिर्साक्ष्य मात्र होगी। वास्तवमें समीक्षा उस स्थितिमें उत्कृष्ट और स्वस्थ होती है जब वह पाठककी अन्तर्चेतनाकी निजी उपलब्धिके रूपमें उभरती चले, जब यह न प्रतीत हो कि हम जो कुछ पा रहे है वह किसी अन्यकी अन्तर्चेतनाकी उपलब्धिका आरोप है। और ऐसा तभी सभव है जब समीक्षक अथसे इतितक काव्यकी आत्माका क्रमिक उद्घाटन करता चले, जब वह प्रजापति कविके जगत्के सम्पूर्ण रहस्यका क्रमिक निदर्शन करता चले। तभी वह समीक्षा हमारे हृदय और बुद्धिकी उपलब्धि होगी।

इसलिए समीक्षकका यह दायित्व है कि किसी कविता-कृतिके साथ न्याय करने के लिए वह पाठककी बोध वृत्तिपर अपनी उपलब्धियोंका आरोप न करे, चाहे वे उपलब्धियाँ अत्यन्त स्वस्थ एव सुविचारित ही क्यों न हों। आरोपित समीक्षा द्वारा साहित्यका अहित होता जा रहा है, क्योंकि इसके कारण ग्राहककी बोध शक्ति तिल भर भी उभर नहीं पा रही है। परीक्षाओंमें सफलता पानेपर भी छात्र-जगत्की बोध-शक्तिकी डिग्री कम होती जा रही है।

समीक्षाका यह आरोपित रूप तब और अधिक अवाछनीय होता है, जिस समय कोई व्यक्ति कविके प्रतिवादमें, या आग्रह विशेषका नशा लेकर, समीक्षा क्षेत्रमें अवतरित होता है। समीक्षकका बौद्धिक स्तर साधारण छात्रके बौद्धिक स्तरकी अपेक्षा निश्चित अधिक होता है, अत वह समीक्षक छात्रोंको जिधर चाहे उधर चक्कर कटा सकता है। नानाविध उद्धरणोंके भारसे वह छात्रोंको चकित कर सकता है। कभी कभी इस चक्कर काटने और चकित होनेमे छात्रोंको इतना अभ्यास और आनन्द प्राप्त हो जाता है कि उन्हे सीधी, सरल, समीक्षा सत्वहीन-सी प्रतीत होती है। उसमे अधिक बोझिलता और चक्कर न पाकर वे उसे निम्नकोटिकी समीक्षा मानकर उससे विरत हो जाते हैं।

आज हम प्राय यह देखते है कि समीक्षक पाठकको एक चश्मा प्रदान कर देता है, और फिर काव्य विनोद प्रारम्भ कर देता है। इस स्थितिमें पाठक उसी चश्मेके

भीतरसे उस काव्यका दर्शन करने लगता है। यह स्थिति स्वस्थ समीक्षाके लिए घातक है (श्री गजानन माधव मुक्तिबोधजी ने 'कामायनी—एक पुनर्विचार' नामक समीक्षा-कृतिमें, इसी कोटिकी समीक्षा-पद्धतिका अवलम्ब लिया है।) उन्होंने उस चश्मेसे 'कामायनी'को देखा है जो अब अपने निर्मायक देश रूसमें ही टूट चुका है। जिस गलत मार्क्सवादी मतकी भर्त्सना स्टैलिनने सन् १९३६ ई० में करके उसे रूसमें समाप्त कर दिया, उसे ही मुक्तिबोधजी ने न जाने क्यों गौरव प्रदान किया।

इसका उल्लेख कर देना इसलिए आवश्यक समझा गया कि इसके कारण कामायनीके विषयमें एक और भ्रम प्रस्तुत हो गया। मुक्तिबोधजीका कहना है कि "कामायनी एक फैंटेसी है, प्रसादका मनु उसी वर्गका है जिस वर्गके स्वय प्रसादजी हैं। उसे मनन मात्रका, मन मात्रका, प्रतिनिधि कहना सरासर गलत है। मनु एक टाइप है, उस वर्गका टाइप जिसकी शासन-सत्ता, ऐश्वर्य छिन गया हो।" "वस्तुतः मनुकी प्रकृति ठीक उस पूँजीवादी व्यक्तिवादकी प्रकृति है जिसने कभी जनतन्त्रात्मकताका बहाना भी नहीं किया; केवल अपने मानसिक खेद, अन्तर्विप्लव और निराशासे छुटकारा पाने तथा स्वस्थ, शान्त, अनुभव करनेके लिए श्रद्धा और इडाके समान अच्छी साधनोंका सहारा लिया, जो उसे सौभाग्यसे प्राप्त भी हुई।" "ध्यान रहे कि प्रसादजी वणिक थे। उनके व्यावसायिक जीवनके भी तो अपने अनुभव थे। वे यह जानते थे कि बड़ा पूँजीपति छोटा पूँजीपतिको पहले स्पर्धामें पराजित कर, फिर उसे आत्मसात् कर लेगा, अथवा नेस्तोनाबूद कर देगा" (मुक्तिबोधजीका यह मत 'काम'के इस कथनपर है : —

"यह नीड़ मनोहर कृतियोंका
यह विश्व कर्म रंगस्थल है
है परम्परा लग रही यहाँ
ठहरा जिसमें जितना बल है।"

मैं इन मतोंपर प्रसंगानुसार विचार करूँगा। यहाँपर मैं इस समीक्षकके कुछ और उद्धरण देना ठीक समझ रहा हूँ। लीजिये —"अद्वैतवादने एक ओर सामाजिक संघर्षसे बचनेका न केवल भाववादी रहस्यवादी रास्ता तैयार किया, वरन् व्यक्तिवादी, अन्तर्मुख अभिप्रायोंको आत्मगरिमा भी दी। किन्तु सामन्ती सामाजिक बन्धनोंसे मुक्तिके वास्तविक संघर्षको न उसने गति दी, न उस संघर्षके लक्ष्य-आदर्श तथा उसके दौरानमें सृजित होनेवाले व्यावहारिक जीवन मूल्य ही प्रस्थापित किये।" + + + "बात यह है कि अद्वैतवादका दर्शन संघर्षका दर्शन नहीं है। यह मूलतः एक असामाजिक दर्शन है। अतएव उसने असामाजिक प्रणालीपर ही व्यक्तिवादका परिस्फुटन किया।"

वेदान्तके अद्वैतवादको असामाजिक दर्शन बता देना अत्यधिक चापल्य इनके अतिरिक्त और क्या हो सकता है! आनन्दवादकी चर्चाके अवसरपर मैं

इसपर विचार करूँगा। वास्तवमें यह समीक्षक मत विशेषके आग्रहसे अन्य जीवन-दर्शनोंका सहानुभूतिपूर्ण अनुशीलन करनेका स्वस्थ एवं प्रशस्त मार्ग बन्द कर चुका है। मैं स्थल स्थलपर मुक्तिबोधजीके कामायनीविषयक इन तथा ऐसे ही अन्य मतोंकी परख करनेका प्रयत्न करूँगा।

"कामायनीके विषयमें अन्य दिशाओंसे भी भ्रमका सृजन हुआ है। कोई कहता है कि मनु अत्यन्त दुर्बल पात्र है, वह महाकाव्यका उपयुक्त नायक नहीं हो सकता है। कभी यह भी सुननेमें आता है कि कामायनीमें कर्म पक्ष दबा रह गया, मनु और श्रद्धा जीवनके यथार्थसे पलायन कर गये। कविने समस्याओंको उठाया तो अवश्य परन्तु उसने उनका कोई व्यावहारिक समाधान नहीं प्रस्तुत किया। आचार्य शुक्लका मत है कि "कामायनीमें समन्वित प्रभावका अभाव है।" श्री वाजपेयीजीका कहना है कि "वस्तु विन्यासकी दृष्टिसे 'कामायनी'को दुखान्त रचना मान लेनेमें कोई आपत्ति नहीं। उपसंहारके आनन्दात्मक दृश्योंको हम सन्धियोंसे परे काव्यकी दार्शनिक और आलंकारिक पूर्ति मानकर भी संतोष कर सकते हैं।" श्री दिनकरजीने भाषा और अभिव्यक्ति एवं अनुभूतिके आधारपर 'कामायनी'की पर्याप्त भर्त्सना की है। 'पंत, प्रसाद और गुप्त' नामकी अपनी समीक्षा पुस्तकमें उन्होंने लिखा है :—

"कामायनीका अन्तिम सन्देश नवयुगकी विचारधाराके अनुकूल नहीं है।"

× × ×

"'प्रसादजी' कामायनीमें जिस चेतनाको लेकर चले, वह इच्छा और ज्ञानके लिए अनुकूल थी, किन्तु कर्मके साथ उसकी सहानुभूति अधिक सिद्ध नहीं होती।"

× × ×

"वास्तवमें कामायनीके निगूढ़ अन्तर्तममें कर्म नहीं, इच्छा और ज्ञानके लिये प्रेम था। उनकी असली मनोदशा वह थी, जिसकी प्रेरणासे मनुष्य अतिशय भावुकताके कारण अपूर्ण इच्छाओंके लिए तड़प-तड़पकर जीनेमें सुख मानता है और इस स्थितिसे खीझकर एक दिन सन्यास ले लेता है। मनुने और क्या किया?"

× × ×

"कर्मकी जो प्रशंसा प्रवृत्तिके प्रसंगमें की गई है, उससे अब यह विदित होता है कि प्रवृत्तिके समर्थक नवयुगने उतना अंश प्रसादजीसे उनके मनके विरुद्ध लिखवा लिया।"

× × ×

"छायावादके इस परम-श्रेष्ठ कविको, भावुकतावश, कर्मकी भूमि कर्कश दिखायी पड़ी, कठोर जान पड़ी।"

× × ×

(इस प्रकारकी बहुत सी बातें श्री दिनकरजीने लिखी हैं, जिन्हें मूल पुस्तकमें ही पढ़ लेना ठीक होगा।)

× × ×

मेरे विचारसे इन भ्रान्तियोंका कारण यह है कि मैंने आरम्भमें जिन दो समीक्षक-वर्गोंकी विवेचना की है उनके सम्यक् आधारपर ये उपर्युक्त उपलब्धियाँ नहीं प्राप्त की गयी हैं। हमें इस बातको निरन्तर स्मरण रखना होगा कि किसी भी प्रबन्धात्मक कृतिके सम्यक् बोधके लिए यह नितान्त आवश्यक होता है कि हम उसमें निहित अनुभूति, विचार-तत्वको पूर्णतः प्राप्त करें। और ऐसा तभी सम्भव होगा जब हम कृतिकारके हृदयको उपलब्ध कर लें, जब हम कवि हृदयकी उस 'असाधारण अवस्था'को आत्मसात् कर लें, जिससे कविताका उद्रेक हुआ है। 'रस-मत'में इसे ही 'सहृदय' होना (अर्थात् समान हृदयवाला होना) कहा गया है। 'सुहृदय' होना कृति-बोधकी प्रथम अनिवार्यता है।

निष्कर्ष यह रहा कि समीक्षकका सर्वप्रथम कर्तव्य यह है कि वह कविके जगके सभी रहस्योंको, संकेतोंको, अपनी नहीं वरन् कविकी आँखसे देखनेका प्रयत्न करे। प्रश्न होगा कि हमें कविकी दृष्टिका पता किस प्रकार चल सकता है? उत्तरमें कहा जा सकता है काव्यके शब्द, अर्थ, संगीत, वधान आदि सभी तत्वों एवं कौशलोंमें कविकी दृष्टि ही व्याप्त रहती है। अतएव काव्यके शब्दार्थका उपयुक्त ग्रहण करना, उसपर वस्तुनिष्ठ विचार करना, काव्यको कविकी आँखसे देखना कहा जायगा।

साहित्यका माध्यम है शब्द, और स्थान, सान्निध्य, आकांक्षा आदिके कारण शब्दोंके विभिन्न अर्थ व्यक्त होते हैं। सदर्भका भी शब्दार्थमें अपूर्व हाथ होता है। अतएव बड़े विवेकके द्वारा हमें किसी साहित्यिक कृतिकी व्याख्यामें प्रवृत्त होना चाहिए। पूर्व ग्रहके कारण इस कोटिका विवेक नष्ट हो जाता है और व्याख्या सही मार्ग छोड़ चलती है। विभिन्न आग्रहोंके कारण एक ही 'ब्रह्मसूत्र'के विविध भाष्य विविध उपलब्धियाँ प्राप्त कर चले। कविता सूत्रसे कम जटिल नहीं होती है। और, कामायनी तो उस कविकी कृति है जो दृढ़ताके साथ यह आग्रह लिये हुए साहित्य-साधनामें निरत था कि "कला संकुचित कर्तव्य-शक्ति कही जाती है", जो यह मानता था कि "कवि वाणीमें यह प्रतीयमान छाया युवतीके लज्जा भूषणकी तरह होती है। संस्कृत साहित्यमें यह प्रतीयमान छाया अपने लिये अभिव्यक्तिके अनेक साधन उत्पन्न कर चुकी है।"

किसी कविकी किसी एक कृतिकी समीक्षा करते समय हमें उसकी पूर्वापर अन्य कृतियोंसे भी संकेत लेना न भूलना चाहिए। क्योंकि कवि अपनी साहित्य साधनामें अपने व्यक्तित्वका परिस्फुरन करता है। यदि उस कविने अपने ग्रन्थोंकी भूमिकाएँ या आमुख लिखे हैं तो उनके सहानुभूतिपूर्ण अनुशीलनसे भी हमें उसके दृष्टिकोणको समझनेमें महत्त्वपूर्ण सहायता मिलेगी। काव्यके पदार्थ-बोधमें जहाँ कहीं बाधा प्रस्तुत हो वहाँ हमें पूर्वापर प्रसंगका, सदर्भका, मनोयोगपूर्वक मनन करना चाहिये। कवि लय और संगीतके द्वारा भी अपने गूढ़ आशयको समझानेकी क्षमता अतएव जहाँ कोई आशय न दिखाई पड़े वहाँ इनपर भी ध्यान देना

ठीक होगा। प्रसादजी गीतकार थे। श्री भटनागरजीने ठीक ही कहा है कि कामायनी महागीति या प्रबन्धगीत है।

संक्षेपमें मेरा निवेदन यह है कि 'कामायनी'के काव्य-बोधके लिए हमें कविसे तादात्म्य प्राप्त करनेका पूरा प्रयत्न करना चाहिए। हमें उसकी दृष्टिकी आन्तरिक सगतिका दर्शन करना होगा। हमें उसके प्रत्येक बन्धकी उपलब्धिकी सम्यक् विवेचना करते हुए सभी बन्धोंकी समन्वित उपलब्धिका निश्चय करना होगा। बन्धोंके सभी 'संधानों'को भली-भाँति परख करना आवश्यक होता है। अन्यथा हम कविका आशय ठीकसे ग्रहण न कर सकेंगे। आचार्य कुंतकने काव्यकी परिभाषामें लिखा है—

> "शब्दार्थौ सहितौ कविव्यापारशालिनि।
> बन्धेव्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि।"

हमें, इसलिए, शब्दार्थ, कवि-कलाकी वक्रता, बन्ध-व्यवस्था तथा उसके तद्विदों (काव्य मर्मज्ञों)को आह्लाद देनेकी क्षमता आदिपर विशेष ध्यान देना चाहिए।

इस प्रसंगमें मेरा अन्तिम निवेदन यह है कि 'सहृदय' होनेको काव्य-बोधकी जिस प्रथम आवश्यकताकी बात मैंने कही है उसका तात्पर्य यह नहीं है कि हम कविके प्रभावमें अपना स्वतन्त्र व्यक्तित्व ही खो बैठें। कविके साथ तादात्म्य अत्यन्त विवेक-के द्वारा स्थापित किया जाना चाहिए। समीक्षाके लिए सह-अनुभूति और जागरूक निरीक्षण चिन्तन दोनोंकी आवश्यकता होती है। यदि समीक्षकमें कविके साथ सहानुभूति नहीं है तो वह उसका शब्दार्थ (काव्य) न समझ सकेगा; और यदि उसमें जाग्रत विवेक नहीं है तो वह उस काव्यका निर्णायक नहीं हो सकता है। कविके पूर्ण प्रभावमें ही वह जानेपर वह केवल प्रभावाभिव्यंजक प्रशस्तिकार होगा, उसकी समीक्षा केवल भावप्रवणताकी अभिव्यक्ति बनकर रह जायगी। और, केवल विवेक लेकर चलने-पर उसके आग्रही असहृदय होनेका भय बना रहेगा। स्वस्थ समीक्षाके लिए ये दोनों निरपेक्ष स्थितियाँ घातक सिद्ध होती हैं। वास्तविक समीक्षा इन दोनोंकी समन्वय रेखा-पर ही उभरती है।

अपने अध्ययनकी इन दोनों प्रक्रियाओंको पाठकोंके सम्मुख रखकर समीक्षकको अलग हो जाना चाहिए। साहित्य चिन्तकोंकी यह स्पष्ट मान्यता है कि कविको प्रत्यक्ष शिक्षा नहीं देनी चाहिए। कृतिमें शिक्षाका स्वर जितना ही अप्रत्यक्ष होगा कवि कृतिमें पाठकोंको उतनी अधिक रमणीयता मिलती है। इसलिए 'कान्तासम्मततयोपदेश'को काव्यकी उत्कृष्ट शैली स्वीकार किया गया है। अतएव यदि समीक्षाको साहित्यिक होना है तो उसे भी इसी कान्तासम्मत रूपमें उपस्थित होना चाहिए। उसे अपने निर्णयका आरोप करने, अपनी प्रस्तावना प्रस्तुत करने, कृतिके विच्छिन्न उद्धरणोंसे उसकी तर्क पुष्टि नहीं करनी चाहिए, वरन् कृतिके अथ इतिकी सहृदयताके साथ और विवेकके सहारे इस प्रकार उद्घाटना करनी चाहिए कि वह जो कुछ स्थापित करना

चाहती है वह (ध्वनि नहीं) प्रतिध्वनिके रूपमें पाठककी अन्तर्चेतनासे स्वतः उद्भूत हो सके।

'कामायनी' काव्य अपने कलेवर-विधान, अभिव्यंजना कौशल, दर्शन और जीवनकी अन्विति, गाथा या पौराणिकतत्त्व तथा इतिहास, आदर्श और यथार्थ आदि तत्त्वोंके कारण एक ओर अत्यन्त उत्कृष्ट एवं रमणीय बन उठा है, तो दूसरी ओर अत्यधिक दुर्बोध हो गया है। प्रसादजीने स्वयं इस दुर्बोधताको आँक लिया था और कामायनीके अभिप्रायकी स्पष्ट व्याख्याके लिए उन्होंने 'इरावती'का प्रणयन प्रारम्भ किया था जिसके प्रमुख या केन्द्रीय पात्र 'ब्रह्मचारी'ने एक स्थलपर यह इच्छा व्यक्त की है कि "मुझे आनन्दवादकी व्याख्या फिरसे करनी होगी।" परन्तु यह पुनर्व्याख्या न हो सकी।

उल्टे कई भ्रान्तियाँ भरती गयीं। शैवागमके आनन्दवाद एवं मनोवैज्ञानिक रूपक आदिके कठघरेमें ही प्रसादजीका अभिप्राय घेर दिया गया है। 'कामायनी'का जितना बोध मुझे हो सका है उसके आधारपर मैं यह मानता हूँ कि यदि पूर्वोक्त समीक्षा पद्धतिका अनुसरण करके इस काव्यका अनुशीलन किया जाय, तो हमें स्पष्ट हो जायगा कि इसमें न तो मनोवैज्ञानिक रूपकको प्रस्तुत करनेका प्रयत्न है (मनोविज्ञान अवश्य है, क्योंकि उसके अभावमें काव्य यथार्थ जीवनसे कट जायगा और केवल छाया-जगत्का विनोद मात्र रहेगा। मनोवैज्ञानिक रूपक और मनोविज्ञान आधृत काव्यमें अन्तर होता है), और न यह काव्य शैवागम या शाक्तागमके आनन्दवादी सिद्धान्तका कला मन्दिर ही है। तभी हम यह देख सकेंगे कि इसके अन्तिम सर्ग आलंकारिक पूर्ति या रहस्यके कुहासेमें विलीन नहीं हो जाते हैं, हमें यह भी ज्ञात होगा कि इसमें समन्वित प्रभावका अभाव भी नहीं है। तभी हमें यह भी प्रकट होगा कि न तो यह काव्य प्रतिक्रियावादी एवं असामाजिक दर्शनसे अनुप्राणित है, और न असांस्कृतिक तत्त्वोंसे दूषित है या कर्म प्रतिष्ठासे विरहित।

इसे गोसाईंजीके शब्दोंमें "प्रौढि सुजन जनि जानहि जन की" (अर्थात् इसे विद्वान् मेरी गर्वोक्ति न समझें)। मैंने ऊपर बताई गई सरल समीक्षा-पद्धतिका अनुसरण करते हुए इन उपलब्धियोंको प्राप्त किया है, और इस पुस्तकमें उसकी सम्पूर्ण प्रक्रिया-विवेचनाको प्रस्तुत करके मैं पाठकोंको स्व निर्णयके लिए छोड़ दूँगा। अन्तिम मूल्यांकन पाठककी चेतना ही करे। मतभेद समीक्षामें रहता आया है, और निरन्तर रहेगा। मैं केवल अपनी अध्ययन प्रक्रियाको स्पष्ट कर देनेमें अपने प्रयासकी इति मानता हूँ। अस्तु मेरी प्रार्थना है कि पाठक इसे इसी सीमामें देखें। हाँ, जिज्ञासु पाठकोंसे 'सहृदयता'की अपेक्षा अनिवार्य है। और अन्तिम निवेदन यह है कि पाठक इस पुस्तकको आरम्भसे अन्ततक क्रममें पढ़ें, क्योंकि मैंने प्रश्नोत्तरके रूपमें इसे नहीं लिखा है।

× × ×

(काव्यका) पूर्व अंश

'कामायनी' काव्यको हाथमें, परीक्षाके निमित्त, लेते ही सबसे पहले हमारे सम्मुख उसका शीर्षक प्रस्तुत होता है। कृतिके अभिधानमें उसकी आत्माका पर्याप्त ध्वनन होता है, उसे कोरा नामकरण मान लेना ठीक न होगा। कवि अपने काव्य-जगका प्रजापति होता है। सम्पूर्ण सृष्टि रच लेनेके उपरान्त ही वह उसके लिए उपयुक्त नाम चुनता है। वह जिस नामका चयन करता है वह कृतिकी उसकी समीक्षाका सूत्र माना जा सकता है। काव्यके सम्पूर्ण व्यक्तित्वकी व्यंजना वह इसी सूत्रमें प्रदान करनेकी आकांक्षा रखता है। वह न केवल अपने अभिप्रायको इसमें समेटकर भर देता है, वरन् वह समीक्षकोंके लिए अध्ययन दिशाका संकेत भी कर देता है। अतः यह कहना गलत न होगा कि कविकी आँखका 'स्व भाव' प्रमुखतः इसी सूत्रमें होता है। अतएव शीर्षकके अभिप्रायपर विचार न करना कविके एक महत्त्वपूर्ण संकेतको छोड़ देना होगा।

कहा जा सकता है कि कृतिके अनुशीलनके उपरान्त ही हमें 'शीर्षक'के औचित्यपर विचार करना चाहिए। बात ठीक है। परन्तु मेरे कहनेका तात्पर्य यह नहीं है कि हम इस स्थलपर 'शीर्षक'के औचित्यपर विचार करें। हम केवल उसके संकेत को समझनेका प्रयत्न करें, यदि वैसा कर सकें तो। क्योंकि यदि हमें उसके संकेतका कुछ बोध हो सका तो हमें अपने अध्ययनकी दिशाके निर्धारण, और 'वस्तु'की विवेचनाकी उपलब्धियोंको आत्मसात् करनेमें सुगमता होगी। परन्तु प्रश्न यह है कि 'कामायनी' शीर्षकके संकेतको समझनेका मार्ग क्या है? मैं आगेकी पंक्तियोंमें इसी मार्गको ढूँढने और संकेत प्राप्त करनेका प्रयत्न करूँगा।

'कामायनी'का अर्थ है कामकी सन्तान, काम गोत्रकी बालिका। इस काव्यकी प्रमुख नारी पात्रका नाम श्रद्धा है और गोत्रसे वह 'कामायनी' है। यदि हम चाहें तो उस नारीको 'कामायनी श्रद्धा' कह सकते हैं। इसी नारीके नामपर कविने काव्यका नाम 'कामायनी' रखा। सोचनेकी बात है कि कविने इस नारी पात्रके निजी अभिधान 'श्रद्धा'को छोड़ उसके गोत्र-नाम 'कामायनी'को ही शीर्षकके लिए वरण किया, जब कि 'श्रद्धा' शब्द अपेक्षाकृत अधिक श्रुतिमधुर और अर्थ-गरिमावान है। 'श्रद्धा' चित्तकी एक उदात्त, पवित्र वृत्ति होती है। इस नारी पात्रमें इसी वृत्तिकी प्रधानता भी है। दूसरी बात यह है कि सारी कृति पढ़नेके उपरान्त हमारे मानसमें इस नारीका 'श्रद्धा' नाम ही अधिक उभरता है, कामायनी नहीं। फिर इसका कोई कारण तो अवश्य ही रहा होगा जिसने कविको इस नारीके श्रद्धात्वकी अपेक्षा उसके कामायनीत्वको अधिक महत्त्व देनेके लिए प्रेरित किया। विद्वानोंको इसका उत्तर ढूँढना होगा।

|| अनुमान किया जा सकता है कि श्रद्धा जिस वंश या समुदायमें जल प्लावनके पूर्व, उत्पन्न हुई होगी उसमें 'काम'को इष्ट देवताके रूपमें उपासना करनेकी प्रवृत्ति मुख्य रही होगी। काम प्रेमका देवता है। और, प्रेममें आमोद प्रमोद-उल्लासकी स्थिति होती है। उसमें कलाका उन्नयन, पोषण एवं पल्लवन होता है। इस कोटिके जीवनमें जीवन कलामय होता है और कला जीवनमयी होती है (यही पाश्चात्य विचारक रस्किनको भी अभीष्ट था)। संक्षेपमें हम यह अनुमान कर सकते हैं कि प्रसादजी जल-प्लावनके पूर्व कामोपासनाका प्रचलन आर्योंमें मानते थे, और यह भी मानते थे कि वह प्रवृत्ति श्लाघ्य थी; आनन्दतक वही प्रवृत्ति मानवको ले जा सकती है। श्रद्धा बालिकामें यही प्रवृत्ति थी और इसीकी स्वाभाविक अभिव्यक्ति तथा पूर्णताके कारण उस वास्तविक आनन्द मिला और देवोंसे विलक्षण एक भिन्न मानव संस्कृतिकी स्थापना उसके कारण हो सकी।।।

इस अनुमानके लिए कामायनीकारके कामायनीतर साहित्यसे समर्थन भी प्राप्त होता है।

'रहस्यवाद' निबन्धमें प्रसादजीने लिखा है कि :—

"किन्तु उन्हें यह नहीं मालूम कि कामका धर्ममें, अथवा सृष्टिके उद्गममें, बहुत बडा प्रभाव ऋग्वेदके समयमें ही माना जा चुका है—"कामस्तदग्रे समवर्तताधि मनसा रेत प्रथम यदासीत" |**यह काम प्रेमका प्राचीन वैदिक रूप है; और प्रेमसे यह शब्द अधिक व्यापक भी है।** जबसे हमने प्रेमको Love[1] या इश्कका पर्याय मान लिया है, तभीसे काम शब्दकी महत्ता कम हो गयी। सम्भवत विवेकवादियोंकी आदर्श-भावनाके कारण, इस शब्दमें केवल स्त्री-पुरुषके अर्थकी ही मान होने लगा। **किन्तु काममें जिस व्यापक भावनाका समावेश है, वह इन सब भावोंको आवृत कर लेता है।** इसी वैदिक कामकी, आगमशास्त्रोंमें, काम-कलाके रूपमें उपासना भारतमें विकसित हुई थी। यह उपासना सौन्दर्य, आनन्द और उन्मद भावकी साधना प्रणाली थी। पीछे बारहवीं शताब्दीके सूफी इब्न अरबीने अपने सिद्धान्तोंमें इसकी महत्ता स्वीकार की है। वह कहता है कि मनुष्यने जितने प्रकारके देवताओंकी पूजाका समारम्भ किया है उसमें 'काम' ही सबसे मुख्य है। **यह काम ईश्वरकी अभिव्यक्तिका सबसे बडा व्यापक रूप है।**

प्रसादजीकी, 'काम'विषयक धारणा और कामगोत्रजा 'कामायनी श्रद्धा'के स्वरूपको समझनेमें यह उद्धरण अत्यधिक उपादेय है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रसादजीके अनुसार 'काम प्रेमका वैदिक रूप है'; और प्रेमसे यह शब्द अधिक व्यापक भी है। यही नहीं वरन् कामके अर्थमें इश्क, लव'; स्त्री पुरुष सम्बन्ध, और विवेक-वादियोंकी आदर्श भावना आदि सबका समावेश है। प्रसादजी इब्न अरबीके इस मतको भी स्वीकार करते हुए प्रतीत होते हैं कि "यह काम ही ईश्वरकी अभिव्यक्तिका सबसे बडा व्यापक रूप है"। हम जानते हैं कि ईश्वरकी अभिव्यक्तिका सबसे बडा व्यापक रूप यह

1. Love.

गोचर विश्व है, विश्व-जीवन है। अतएव उपर्युक्त मतानुसार यह कहना गलत न होगा कि विश्व जीवन ही कामका व्यापक रूप है। विश्वका उद्गम और उसकी परिधि काम ही है। फिर यह निष्कर्ष भी तो निकल सकता है कि कामायनीकी, काम-सन्ततिकी कथा, इसी विश्व जीवनके व्यापक रूपकी कथा है। दूसरे शब्दोंमें यह भी कहा जा सकता है कि कामको विश्व चेतना[1]के रूपमें दिखा देना 'कामायनी'का अभिप्राय है, व्यष्टि कामका समष्टि कामसे अभेद स्थापित करना कविकी आकांक्षा है।

'कामायनी'के अन्तिम सर्गमें कविने श्रद्धा-नारीका यह चित्र आँका है —

वह विश्व चेतना पुलकित
थी पूर्ण कामकी प्रतिमा।

यहाँ 'विश्व चेतना' और 'पूर्ण कामकी प्रतिमा'को एक कहा गया। इससे मेरे इस उपर्युक्त अनुमानको समर्थन प्राप्त होता है कि कामको विश्वचेतनाके रूपमें दिखा देना 'कामायनी'का अभिप्राय है। यदि इस काव्यका नाम श्रद्धा रखा गया होता तो इस अभिप्रायकी स्पष्ट या सुगम व्यंजना शीर्षकमें न हो पाती। क्योंकि 'श्रद्धा' शब्दमें अन्य व्यंजनायें अधिक उभर आती है, कामकी व्यंजना या तो अत्यन्त क्षीण रहती है या लुप्तप्राय हो जाती है। अतः यह अनुमान सही जँच सकता है कि 'काम'के पूर्वोक्त व्यापक रूपकी व्यंजनाके लिए ही कविने 'श्रद्धा' जैसे श्रुति सुखद और अर्थपूर्ण शब्दके स्थानपर कामके सम्बन्धसूचक सरल शब्द 'कामायनी'को शीर्षकके लिए अधिक उचित समझा।

जब हम प्रसादजीकी कामायनी इतर कृतियोंपर दृष्टि डालते हैं तो इस अनुमानकी अधिक पुष्टि होती है। सर्वप्रथम मैं आपको 'कंकाल' उपन्यासकी ओर मोड़ना चाहता हूँ। यह निर्विवाद है कि इस उपन्यासमें कामके विकृत रूपोंके भयावह परिणाम और उसके कारणोंकी मीमांसा है। कई समीक्षकोंको इस उपन्यासको समझनेमें भ्रम भी हुआ है और कई समीक्षकोंने यह कहकर उन भ्रमोंका निराकरण भी किया है कि उपन्यासकारकी दृष्टि स्वस्थ नैतिक थी, न कि व्यभिचारके चटुल चित्रण की। मेरे मतसे यह निराकरण उचित है। क्योंकि वस्तुतः उपन्यासकार समाजको उसके मिथ्या धर्माडम्बर, विवेकवादकी शुद्धताकी विकृत भावना तथा काम दमनकी अस्वस्थ प्रवृत्तिका भीषण परिणाम दिखा रहा था। कामके विकृत होनेपर समाजकी क्या दुरवस्था होती है, यही 'कंकाल'का दर्शन है। लेखकने समाजकी काम धारणापर पुनर्विचार करनेके लिए लोगोंको आकृष्ट किया है।

'कंकाल'में केवल कामकी समस्या है। समाजमें, लेखकके अनुसार, काम इसलिए विकृत है कि लोगोंने उसके शुद्ध, व्यापक, स्वस्थ रूपको आयत्त नहीं किया है। नर-नारीका आकर्षण प्राकृतिक है, वह विश्व शक्ति, सृष्टि शक्तिकी मूल स्फुरणा है। अतएव विवेकवादी आदर्श भावनाके दबावमें कामके इस भोग-पक्ष (नर-नारीके

1 Universal Consciousness

सम्बन्ध पक्ष)का हनन या दमन सम्भव नहीं होता। इसका विरोध, निरोध, अप्राकृतिक है, प्रसादजीकी भाषामें, जीवन देवताकी ही कुचलना है। विवेकवादी धर्माचरणोंके आवरणमें भी कामकी लीला चलती रहती है। 'कंकाल'में इसी अन्तर्लीलाका उद्‌घाटन है। समाजमें ऊपरसे विवेक, आदर्श और धर्मका आवरण है और भीतर भोगका अन्ध नृत्य, समाजकी यह बाह्य धर्मनिष्ठा या आदर्श प्रदर्शन, उसकी आन्तरिक स्वस्थ निष्ठाकी सहज अभिव्यक्ति नहीं, वरन् मात्र अभिनय है। वास्तविकता यह है कि अपनी प्रकृत निकासी और विकास न पाकर जीवनका देवता, काम, कुरूप और निःसत्व हो गया है। अपनी प्रकृत इच्छा, वासना (कामके भोग पक्ष), और विवेकके बीच सामजस्य स्थापित न करनेके कारण 'मानव' केवल 'कंकाल' रह गया है। उसके आचार झूठे हैं, विचार थोथे हैं और उसका कर्म कोलाहल, संघर्षसे आक्रान्त।)

'कंकाल' उपन्यासकी ध्वनि यही है कि कामके व्यापक, सम्पूर्ण, रूपको आयत्त न किया गया तो यह निश्चित है कि हम स्वस्थ, उल्लासपूर्ण, जीवन नहीं बिता सकते हैं। कामकी संकीर्ण भावनासे, केवल नर-नारी-सम्बन्धकी भावनासे, हम केवल भोगी होंगे और समाज व्यभिचार ग्रस्त होकर विनष्ट हो जायगा। और विवेकवादी आदर्शके आग्रहसे यदि कामसे विरत होंगे, तो चूँकि योनि आकर्षणसे हम छूट नहीं सकते (क्योंकि वह प्राकृतिक होती है), इसलिए गुप्त काम-सन्तुष्टिके कुत्सित पथपर चलेंगे, इसका भी परिणाम समाजके लिये अमंगल रूप होगा। स्वस्थ मार्ग इन दोनोंके बीचका है, भोग और संयमका समन्वय का।

('कंकाल'में यह समाधान ध्वनित था, 'कामायनी'में वही स्पष्ट रूपमें प्रस्तुत किया गया है। 'कंकाल'के रुग्ण मानवके स्थानपर 'कामायनी'के स्वस्थ, आनन्दपूरित 'मानव'की स्थापना की गयी है। मैं 'कंकाल'को प्रसादकी साहित्य यात्राका अत्यधिक महत्त्वपूर्ण स्टेशन मानता हूँ। जिन समीक्षकोंको प्रसादजीकी अन्य कृतियोंके साथ 'कंकाल'का मेल स्पष्ट नहीं हो पाता है उन्हें रुककर इस दिशामें विचार करना चाहिये।)

अपनी भोगवादी विकृतियोंके कारण, अपने विकृत कामके कारण, मनुकी जो दशा अन्ततोगत्वा हुई उसे उन्हींके शब्दोंमें सुनिये —

"शापित सा मैं जीवन का यह ले कंकाल भटकता हूँ
उसी खोखलेपन में जैसे कुछ खोजता अटकता हूँ।"
(निर्वेद सर्ग)

'कंकाल' उपन्यासमें समाजके जिस 'खोखलेपन'का निदर्शन है, वह मनुका ही खोखलापन है, विकृत काम मार्गपर चलनेवाले व्यक्तिका खोखलापन है। मेरे विचारसे यदि मनुको 'कंकाल' उपन्यास वर्णित समाजका प्रतिनिधि माना जाय तो वह इसलिये गलत न होगा कि दोनों अस्वस्थ 'काम' मार्गपर चलते हुये अन्तम एक समान ही 'कंकाल' भर रह जाते हैं, और अपने उस खोखलेपनमें प्रगति-

का मार्ग न पाकर हतबुद्धि भटक रहे हैं। और जबतक उन्हें कामके व्यापक स्वरूपकी अनुभूति नहीं करा दी जाती, जबतक वे इच्छा, कर्म और ज्ञानमें सामञ्जस्य नहीं स्थापित कर लेते अर्थात् कामकी मूल जीवन-धाराको राग-विरागसे निरन्तर सम्पृक्त नहीं रखते, तबतक उनका न तो खोखलापन दूर होगा, न उन्हें 'मानव'की उत्कृष्ट संज्ञा ही मिल सकती है।

प्रसाद-साहित्यके अध्येताको यह बतानेकी आवश्यकता नहीं है कि जहाँ कहीं प्रसंग उपस्थित हुआ है, प्रसादजीने बौद्ध-भिक्षु-जीवनकी विडम्बनापर तात्विक आक्रोश व्यक्त किया है। 'देवरथ' कहानीके अभिप्रायपर विचार कीजिये। कहानीका अन्त बौद्ध विवेकवादी आदर्श भावनाके कठोर दम्भके प्रति जुगुप्सा और समाजकी संकीर्ण धर्मभावनाके प्रति विद्रोह, लेकर प्रस्तुत हुआ है। उसका विम्ब देखिये; बौद्ध धर्मरथ-चक्रके नीचे सुजाता नारीका जीवन-देवता निष्प्राण हो गया है, और ऊपर धर्म देवताका विग्रह मुस्करा रहा है। लेखकने पाठकोंसे, इस कहानीके द्वारा, 'काम'—भावनापर पुनर्विचारकी अपील की है।

साथ ही प्रसाद साहित्यमें हमें कर्म-उद्दीप्ति, व्यक्तिके 'काम'—संयम तथा परार्थ भावनाका प्रचुर अंश भी मिलता है। प्रसादके प्रमुख पात्र, अर्थात् वे पात्र जिन्हें प्रसादकी कल्पनाने स्वस्थ मानवके रूपमें प्रस्तुत करना चाहा है, अहमूलक काम और इदम् (अर्थात् शेष विश्व)की चेतनाको अभिन्न रूपमें स्वीकार करनेकी साधनामें निरन्तर जाग्रत चित्रित किये गये हैं; यही अहम्[1] और इदम्[2]का समन्वय प्रसादके साहित्यका रहस्य है।

अहम् और इदम्की समष्टि ही विश्व है, जिसे पूर्वोक्त उद्धरणकी विवेचनामें मैंने 'काम'का व्यापक रूप या पूर्ण रूप बताया है। अहम्-चेतना कामकी भोग-भूमि है और इदम्-चेतना उसका संयम, जो उसकी मांगलिक प्रगतिके लिये आवश्यक है। अहम्-चेतना काम (प्रवृत्त वासना)की निकासीकी भूमिका है तो इदम् चेतना उसके विकासकी भूमि है) (चूँकि मैं आगेकी चर्चामें इन सब बातोंपर बार-बार विचार करूँगा; इसलिए इस स्थलपर इतना ही पर्याप्त समझा जाय)।

'कामायनी'में कामको दो बार प्रस्तुत किया गया है, और दोनों बार उसका स्वर गुरु है। एक बार वह मनुको श्रद्धाके योग्य बननेकी प्रेरणा देता है और दूसरी बार अपने दुरुपयोगके लिये मनुको शाप देता है। इस तथ्यसे भी हम यह सहज अनुमान कर सकते हैं कि 'कामायनी'का मूल स्वर कामका है। यद्यपि यह मूल स्वर प्रसादकी सभी कृतियोंमें निहित है; परन्तु वैदिक युगकी प्राचीन भूमिका पाकर वह वैदिक कामके स्वस्थ रूपको पूर्णत. व्यक्त करनेमें 'कामायनी' काव्यमें अवकाश पा सका। अहमोद्भूत कामको इदम्-आवृत रूप प्रदान करनेकी व्यापक भूमिका इसी काव्यमें प्रसादजी पा सके। 'कामायनी'में अहम् और इदम् समन्वित 'काम'की प्रौढ़ व्याख्या है।

---

1. Individual Consciousness. 2. Universal Consciousness.

अतएव अब मैं यह कहनेकी स्थितिमें हूँ कि 'कामायनी' शीर्षक द्वारा प्रसाद-जीने हमें यह संकेत दिया है कि इस काव्यमें 'काम'की समस्या और उसके उस विशुद्ध, व्यापक रूपका निदर्शन है जो 'प्रेमका वैदिक रूप है', जो "ईश्वरकी अभिव्यक्तिका सबसे बड़ा व्यापक रूप है, जो लव[1], इश्क और विवेकवादियोंकी आदर्श भावना तथा स्त्री-पुरुष सम्बन्ध भावना आदि सभीको आवृत करता है; और जिसके महत्त्वको धर्ममें, सृष्टिके उद्गममें, ऋग्वेदके समयसे ही मान लिया गया था।"

अपने अध्ययनकी प्रक्रियामें हम कई स्थलोंपर इस मतके औचित्यका बोध प्राप्त करते चलेंगे; और उन सम्बन्धित प्रसंगोंमें मैं कविकी 'काम'-भावनाकी चर्चा करता चलूँगा।

1. Love.

'कामायनी' शीर्षकपर विचार कर लेनेके उपरान्त अब हमारे सम्मुख कवि द्वारा लिखित 'आमुख' प्रस्तुत है। 'आमुख' या 'पूर्वकथन'में कवि या लेखक अपने पाठकोंसे प्रत्यक्ष बातें करता है, और कोई महत्वपूर्ण प्रस्तावना सामने रखता है। इसके उपरान्त वह हमें अपनी कृतिमें परोक्ष रूपसे, शब्दार्थके रूपमें, मिलता है। और, हमें अपनी अध्ययन शक्ति, मनन-शक्तिके द्वारा उसके गन्तव्यको समझना पड़ता है। हम यह भी जानते हैं कि महान् साहित्यकार "अरथ अमित अति आखर थोरे"में अपना इष्टार्थ विन्यस्त करते हैं। अतएव जब ऐसे कवि या लेखक अपनी कृतिके बारेमें 'आमुख' या 'प्रस्तावना' आदिके रूपमें कुछ कहते हैं, तो हमें यह निश्चित समझना चाहिये कि वे इस प्रकार अपने अभिप्रायको समझानेका ठोस आधार या दृष्टिकोण प्रदान करते हैं। ('शीर्षक'में तो गूढ़ व्यञ्जना भर सम्भव है, परन्तु 'आमुख'में कवि अभिधामें बात-चीत करते हैं। वे अपना काव्य जग निर्मित कर लेनेके उपरान्त उसके प्रवेश द्वारपर अपनी 'आँख', प्रस्तावना, भी टाँग देते हैं।)

इसलिये हमारा यह कर्तव्य है कि हम न केवल उसे देखें (या पढ़ें) वरन् उसे स्वीकार, ग्रहण, करके कविके जगकी झाँकी लें। और बादमें, कृतिके अध्ययनके उपरान्त यदि हमें उस 'प्रस्तावना' और कृतिकी उपलब्धिमें विरोध मिले तो उसकी अस्वीकृतिका हमें पूरा अधिकार है; यह अधिकार हमसे कोई भी छीन नहीं सकता है। परन्तु यदि हम कविके प्रस्तावका आदर किये बिना ही उसकी काव्य सृष्टिके अनुशीलनमें प्रविष्ट होंगे तो सम्भव है कि हम उसे ठीक ठीक न समझ सकें। फिर तो हम सहृदयताको, जिसे मैंने किसी साहित्य-समीक्षकका अनिवार्य गुण माना है, छोड़ देंगे। ऐसी दशामें काव्य बोधके भ्रम ग्रस्त होनेकी सम्भावनाएँ बनी रहेंगी। अतएव मैं 'कामायनी' काव्यके अध्ययनके पहले ही कविके आमुखपर विचारकर लेना अनिवार्य समझ रहा हूँ।

प्रसादजीका कथन है :—(१) "किन्तु मन्वन्तरके अर्थात् मानवताके नवयुगके प्रवर्तकके रूपमें मनुकी कथा आर्योंकी अनुश्रुतिमें दृढ़तासे मानी गयी है। इसलिये वैवस्वत मनुको ऐतिहासिक पुरुष ही मानना उचित है। प्रायः लोग गाथा और इतिहासमें मिथ्या और सत्यका व्यवधान मान लेते हैं। किन्तु सत्य मिथ्यासे अधिक विचित्र होता है। आदिम युगके मनुष्योंके प्रत्येक दलने ज्ञानोन्मेषके अरुणोदयमें जो भावपूर्ण इतिवृत्त संगृहीत किये थे, उन्हें आज गाथा या पौराणिक उपाख्यान कहकर अलग कर दिया जाता है, क्योंकि उन चरित्रोंके साथ भावनाओंका भी बीच-बीचमें सम्बन्ध लगा हुआ सा दीख पड़ता है। घटनाएँ कहीं कहीं अतिरंजित-सी भी जान पड़ती हैं। तथ्य संग्रहकारिणी तर्क बुद्धिको ऐसी घटनाओंमें रूपकका आरोप कर लेनेकी

सुविधा हो जाती है, किन्तु उनमें कुछ सत्यांश घटनासे सम्बद्ध है, ऐसा तो मानना ही पड़ेगा।"

× × ×

(२) "यदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मननके सहयोगसे मानवताका विकास रूपक है, तो भी यह बड़ा ही भावमय और श्लाघ्य है। यह मनुष्यताका मनोवैज्ञानिक इतिहास बननेमें समर्थ हो सकता है। आज हम सत्यका अर्थ घटना कर लेते हैं। तब भी उसके तिथि क्रम मात्रसे सन्तुष्ट न होकर, मनोवैज्ञानिक अन्वेषणके द्वारा इतिहासकी घटनाके भीतर कुछ देखना चाहते हैं। उसके मूलमें क्या रहस्य है? आत्माकी अनुभूति, हाँ, उसी भावके रूप ग्रहणकी चेष्टा सत्य या घटना बनकर प्रत्यक्ष होती है। फिर वे सत्य घटनायें स्थूल और क्षणिक होकर मिथ्या और अभावमें परिणत हो जाती हैं। किन्तु सूक्ष्म अनुभूति या भाव चिरन्तन सत्यके रूपमें प्रतिष्ठित रहता है, जिसके द्वारा युग युगके पुरुषोंकी और पुरुषार्थोंकी अभिव्यक्ति होती रहती है।"

× × ×

(३) "मनु भारतीय इतिहासके आदि पुरुष हैं। राम, कृष्ण और बुद्ध इन्हींके वंशज हैं।" यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहासमें रूपकका भी मिश्रण हो गया है। इसीलिए मनु, श्रद्धा और इडा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थकी भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।

× × ×

इस वक्तव्यपर विचार करते समय हमें यह याद रखना होगा कि प्रसादजी एक उत्कृष्ट मननशील अध्येता थे। अतएव ये बातें एक भावुक व्यक्तिकी लेखनीसे नहीं, वरन् चिन्तनशील मानसकी गहराइसे निकली हैं। उपर्युक्त उद्धरणोंकी विवेचना करके यह बतानेकी आवश्यकता नहीं है कि प्रसादजीने 'कामायनी'के पात्रोंको, उसकी कथाको, ऐतिहासिक माननेका स्पष्ट प्रस्ताव रखा है। साथ ही यह अनुरन्ध भी है कि "मनु, श्रद्धा और इडा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थकी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।"

इस स्थलपर हमारे सामने दो प्रश्न उपस्थित होते हैं। पहला प्रश्न यह है कि कविने यह क्यों कहा कि "मनु, श्रद्धा और इडा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थकी भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।" उसने इस 'भी' की स्वीकृति देकर काव्यके पात्रोंको प्रतीक माननेका विकल्प क्यों प्रस्तुत किया।

पूर्वोक्त उद्धरणमें इसका उत्तर निहित है। मनु, श्रद्धा और इडाकी कथा 'ज्ञानोन्मेषके अरुणोदय' में संगृहीत भावपूर्ण इतिवृत्त है, वह भावपूर्ण अनुश्रुति है। उसमें इतिहासके साथ-साथ भावनाओंका भी योग है। इसलिये उसमें रूपकके आरोपकी सम्भावना हो जाती है। इतिहासकी घटनाओंका अन्तमें अभाव हो जाता है, और उन्होंने जिन अनुभूतियोंका प्रतिफलन किया था वे ही चिरन्तन सत्यके रूपमें रह जाती

है। अतएव प्राचीन भावपूर्ण इतिवृत्तों (अर्थात् गाथा-पुराणों)की घटनासे सम्बन्धित इन अनुभूतियोंको रूपकके द्वारा व्यक्त करनेकी प्रवृत्तिका चल पड़ना स्वाभाविक है। 'कामायनी'की कथा इसी कोटिकी है, इसीलिए उसमें रूपकके आरोपका अवसर अनिवार्य है। अतएव प्रसादजीके लिए इस अनिवार्यकी छूट देनेके अतिरिक्त और कोई उपाय न था।

ऊपरके अन्तिम उद्धरणके अन्तिम वाक्यका 'इसीलिए' शब्द इस बातका प्रमाण है कि कविने इस विवशताके कारण रूपककी छूट दी है कि मनु श्रद्धाकी कथामें रूपक तत्व प्राचीनताके कारण मिल गये हैं, और कामायनीके कलेवरका मूलाधार वही प्राचीन कथा है। परन्तु मनु श्रद्धाकी प्राचीन कथा और 'कामायनी'में विन्यस्त कथामें पर्याप्त अन्तर है। उसमें कविकी कल्पनाका जो योग है वही कविकी निजी देन है, दृष्टि है। इसी देनके कारण वह अपने काव्यका प्रजापति है। कहा ही गया है कि :

अपारे काव्य संसारे कविरेक प्रजापति
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते।

अतएव जहाँतक मूल प्राचीन कथाका अंश आधार रूपमें गृहीत हुआ है, उसमें तो रूपक अवश्य है। परन्तु उसके आधारपर कविने अपनी कल्पनाका जो भव्यलोक निर्मित किया है, उसे रूपककी दृष्टिसे असंगत पाकर उसका मूल्यांकन न करना तो काव्य-समीक्षाका मौलिक दोष होगा। वह तो कविको 'प्रजापति' न मानकर केवल अनुकर्ता या अनुवादक मानना होगा। कवि सम्पत्ति कहींसे लेता है, पर उसे अपनी बनाकर हमें प्रदान करता है; यही 'प्रस्तुत'[1]का पुनर्प्रस्तुतीकरण[2] कहलाता है। प्रसादजीने कथा श्रुतियों-पुराणोंसे ली, परन्तु उसे अपनी बनाकर उन्होंने हमारे सामने रखा। उन्होंने निगम-आगम आदिसे विचार लिये, परन्तु उन्हें अपना बनाकर ही हमें प्रदान किये। इसलिए हमें चाहिये कि हम कविकी इस मौलिकताको सर्वोपरि मूल्य प्रदान करें, न कि उसकी कृतिमें आधार रूप कथा तत्व और विचारोंको ही कविपर थोपें। कवि उन सबको निजी रूप प्रदान कर देता है, वह उनकी निजी व्याख्या भी करता है। जैसा हम आगे देखेंगे, प्रसादजीने 'इच्छा, कर्म और ज्ञान' के समन्वयका वही अर्थ नहीं लिया है जो शैवागममें लिया गया है, प्रसादजीने उसकी निजी व्याख्या की है। उसे भूलकर हमें उनपर तन्त्रालोक या अन्य आगमानुयायी ग्रन्थोंके मतोंका दबाव नहीं डालना चाहिए।

ऊपरके उद्धरणोंको ध्यानपूर्वक पढ़नेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रसादजीने 'कामायनी' का प्रणयन केवल ऐतिहासिक आधारपर किया है। उनका उपर्युक्त यह कथन यहाँपर मैं पुनः उद्धृत कर देना ठीक समझ रहा हूँ कि "यदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मननके सहयोगसे मानवताका विकास रूपक है, तो भी वह बड़ा भावमय और श्लाघ्य है। यह मनुष्यताका मनोवैज्ञानिक इतिहास बननेमें समर्थ हो सकता है।"

1. Present 2 Representation

इसकी स्पष्ट ध्वनि है कि प्रसादजी मनु श्रद्धाकी कथाको "मनुष्यताका मनोवैज्ञानिक इतिहास बननेमें समर्थ" तो मानते हैं; परन्तु "हो सकता है" क्रियासे यह खुलासा हो जाता है कि प्रसादजीने मनु श्रद्धाकी कथाको "मनुष्यताका मनोवैज्ञानिक इतिहास" के रूपमें प्रस्तुत करनेका प्रयत्न नहीं किया है।

यदि मेरा यह निष्कर्ष ठीक है, तो हमें 'कामायनी'का अध्ययन करते समय इस काव्यमें "मनुष्यताका मनोवैज्ञानिक इतिहास" ढूँढनेका आग्रह नहीं करना चाहिये। यह उसमें कवि प्रतिभाके द्वारा प्रस्तुत ही नहीं किया गया है; और जो कवि द्वारा प्रस्तुत नहीं किया गया है उसे ढूँढने या उसकी वहाँपर उपस्थिति प्रमाणित करने या जाँचनेसे मिथ्या उपलब्धियाँ ही हाथ लगेंगी। इस प्रकारके आग्रहके कारण, कृतिमें जो नहीं है उसे ढूँढ निकालनेके प्रयत्नमें, हम अत्यधिक उहापोह, तर्क वितर्क, या खींचातानी करके भी जब काव्यमें विषयकी पूर्ण संगति न बैठा पायेंगे तो या तो आचार्य वाजपेयीजीके समान काव्यके अन्तिम सर्गोंको आलंकारिक मान बैठेंगे, अथवा आचार्य शुक्लजीके इस मतको ही अंगीकार करेंगे कि इस काव्यमें किसी निर्दिष्ट, सुनिश्चित प्रभावका अभाव है। यदि तर्क-वितर्कमें और भटक गये तो फिर श्री मुक्तिबोधजीके समान हम 'कामायनी'को प्रतिक्रियावादी घोषित करके विरत हो जायँगे।

इन सभी भ्रमोंके मूलमें कारण यही है कि कविको जो इष्ट नहीं था उसे ही दृष्टि-पथमें रखकर उसकी कृतिका अध्ययन किया गया। यह ठीक है कि प्रसादजीने इस काव्यके सर्गोंका नामकरण मनकी दशाओं, वृत्तियों, भावों आदि मनोवैज्ञानिक तत्वोंके अनुसार किया है। इसे देखकर लोग सुगमतापूर्वक इस भ्रममें पड जाते हैं कि 'कामायनी'में "मनुष्यताका मनोवैज्ञानिक इतिहास है।" परन्तु हमें यह स्मरण रखना चाहिए कि सर्गोंके मनोवैज्ञानिक वृत्तियोंपर आधारित नामकरण, और कृतिमें "मनुष्यता-का मनोवैज्ञानिक इतिहास"के विन्यासमें अनिवार्य सहवर्तित्व नहीं होता है। किसी काव्यके बन्धोंके नाम मनकी वृत्तियों और भावों-अनुभूतियोंकी संज्ञाओंमें हो सकते हैं, फिर भी उसमें "मनुष्यताका मनोवैज्ञानिक इतिहास" नहीं हो सकता है।

जब कोई कवि किसी चरितनायकके इतिवृत्तको प्रस्तुत करना चाहता है तो वह उसे कई खण्डो, काण्डों, सर्गों या बन्धों आदिमें विभक्त करता ही है। इनके नाम-करणकी कई प्रणालियाँ हमे संस्कृत और हिन्दी साहित्यमें उपलब्ध होती हैं। एक ही काव्यमें नामकरणके कई आधार भी मिल जाते हैं। तुलसीदासने 'रामचरित'को अवस्था, स्थान, कार्य, तथा क्रम आदिके आधारोंपर खण्डोंमें विन्यस्त किया है। 'बाल-काण्ड'में अवस्थाका, अयोध्या, अरण्य, किष्किन्धा और लंका काण्डोंमें 'स्थान'का, सुन्दरकाण्डमें (सुन्दर) कार्यका, और 'उत्तरकाण्ड'में क्रमका आधार लेकर नामकरण किया गया है। 'महाभारत'में भी इसी प्रकार क्रम, उद्योग (कर्म), युद्ध (कर्म), व्यक्ति, स्थान तथा मनोवैज्ञानिक वृत्ति 'शान्ति' आदिके आधारपर पर्वोंके नाम रखे गये हैं। कालिदासने 'रघुवंश'के अध्यायोंको संख्या क्रमाकोंसे ही अभिहित किया।

परन्तु प्रसादजीने अपनी कथाको मनोवृत्तियों, दशाओं एवं अनुभूतियोंके

शीर्षकोंके अन्तर्गत विन्यस्त किया; इसका कारण, यह नहीं था कि वे "मनुष्यताका मनोवैज्ञानिक इतिहास" देना चाहते थे ;, वरन् उसका कारण हमें कविके पूर्वोद्धृत इस कथनमें मिलेगा कि "आज हम सत्यका अर्थ घटना कर लेते हैं। तब भी उसके तिथि-क्रम मात्रसे सन्तुष्ट न होकर, मनोवैज्ञानिक अन्वेषणके द्वारा इतिहासकी घटनाके भीतर कुछ देखना चाहते हैं।" उसके मूलमें क्या रहस्य है? आत्माकी अनुभूति। हाँ, उसी भावके रूप-ग्रहणकी चेष्टा सत्य या घटना बनकर प्रत्यक्ष होती है। फिर वे सत्य घटनाएँ स्थूल और क्षणिक होकर मिथ्या और अभावमें परिणत हो जाती हैं। किन्तु सूक्ष्म अनुभूति या भाव चिरतन सत्यके रूपमें प्रतिष्ठित रहता है,..."

स्पष्ट है कि प्रसादजी "मनोवैज्ञानिक अन्वेषणके द्वारा इतिहासकी घटनाके भीतर कुछ देखना चाहते है।" वे यह देखना चाहते हैं कि "उसके मूलमें क्या रहस्य है।" वे इतिहासकी घटनाके मूलमें उस 'आत्माकी अनुभूति'को पा लेना चाहते हैं जिसके रूप ग्रहणकी चेष्टा सत्य या घटना बनकर प्रत्यक्ष होती है। क्योंकि उनका दृढ मत है, और यही ठीक भी है, कि यह "सूक्ष्म अनुभूति या भाव चिरन्तन सत्यके रूपमें प्रतिष्ठित होता है, जिसके द्वारा युग-युगके पुरुषोंकी और पुरुषार्थोंकी अभिव्यक्ति होती है।"

निष्कर्ष यह रहा कि युग विशेषसे सम्बद्ध प्रलय और नवसृष्टिकी ऐतिहासिक घटना तथा उससे सम्बन्धित पात्रोंके चरित्रोंके भीतर प्रवेश करके कविने 'मनोवैज्ञानिक अन्वेषण'के द्वारा "उस चिरन्तन सूक्ष्म अनुभूति या भावको प्रत्यक्ष करनेका प्रयत्न किया है, जिसके द्वारा युग-युगके पुरुषों और पुरुषार्थोंकी अभिव्यक्ति होती है।", चूँकि कविका प्रयत्न 'मनोवैज्ञानिक अन्वेषण'का था, इसलिए उसने कथाके अंशोंको मनोवैज्ञानिक शीर्षक प्रदान करके उचित ही किया। आधारको

परन्तु इस सीमाको लाँघकर 'कामायनी'का कथाको "मनुष्यताका मनोवैज्ञानिक इतिहास"के रूपमें ग्रहण करना गलत होगा। कामायनीकी कथा युग विशेष, मनु, श्रद्धा, इडा,से सम्बन्धित है, न कि समस्त मनुष्यताके मनोवैज्ञानिक इतिहाससे। हाँ, यह ठीक है कि उसके मूलमें अवस्थित अनुभूति चिरन्तन सत्य है। जो लोग प्रसादजीके इस पूर्वोद्धृत कथनको लेकर ही चल पडते हैं कि "यदि श्रद्धा और मनु अर्थात् मननके सहयोगसे मानवताका विकास रूपक है, तो भी वह बडा भावमय और श्लाघ्य है", उन्हें 'यदि'-के भीतरसे झाँकनेवाली इस व्यञ्जनाको आयत्त करना ही चाहिए कि ऐसे रूपकको प्रस्तुत करनेका प्रयत्न कविने नहीं किया है।

केवल यह बतानेके लिए प्रसादजीने 'कामायनी'की सृष्टि नहीं की है, जैसा हम आगे देखेंगे, कि 'श्रद्धा'को छोडकर इडा (बुद्धिवाद)के सम्पर्कमें मन (मनु)के आनेपर जीवन सघर्षोंसे भर जाता है और तबतक उसे शान्ति, आनन्दकी प्राप्ति नहीं होती है जबतक वह 'श्रद्धा'से पुन सम्पृक्त नहीं हो जाता है। कामायनी'में रूपक माननेवालेको यही उपलब्धि हो पाती है, और वह भी उसके पर्याप्त अंशोंको ओझल कर देनेके बाद।

श्री नगेन्द्रजीने 'कामायनीके अध्ययनकी समस्याएँ' नामक पुस्तकमें (पृ० ४२) लिखा है कि 'कामायनीको कविने मूलत एक ऐतिहासिक काव्यके रूपमें ही लिखा है, परन्तु इसकी कथामें रूपककी सम्भावनाएँ निहित हैं और इसे यदि रूपक भी मान लिया जाय तो कविको वह अस्वीकार नहीं होगा। अर्थात् मूल रूपसे नहीं, तो गौण रूपसे 'कामायनी'में रूपक-तत्त्व निश्चित ही वर्तमान है। 'कामायनी'के पात्रोंका प्रतीकमय सांकेतिक व्यक्तित्व तथा उसकी मुख्य घटनाओंका श्लेष-गर्भित गूढार्थ दोनों ही इस मतकी पुष्टि करते हैं। अतएव 'कामायनी'में रूपक-तत्त्वकी स्थितिसे विषयमें सन्देह नहीं किया जा सकता।"

इसके उपरान्त उन्होंने सभी पात्रों और घटनाओंका रूपकात्मक अर्थ प्रस्तुत किया है। उनके अनुसार मनु अहंकारके प्रतीक हैं, श्रद्धा हृदयकी प्रतीक है, वह विश्वासमयी रागात्मिका वृत्ति है, इडा बुद्धिकी प्रतीक है, जो वर्ग विभाजन और अभेदके स्थानपर भेदकी व्यवस्था करती है। कुमारका प्रतीकात्मक व्यक्तित्व श्री नगेन्द्रके अनुसार, महत्त्वपूर्ण नहीं है, वह 'नव मानव'का प्रतीक है। आकुलि-किलात आसुरी प्रवृत्तियोंके प्रतीक हैं, देव इन्द्रियोंके प्रतीक हैं, और श्रद्धाका पशु अहिंसाका द्योतक है। ('रूपक' का व्यामोह इससे अधिक और क्या हो सकता है)। सोम भोगका और वृषभ धर्मका प्रतीक है। जल-प्लावन (जो ऐतिहासिक घटना है) भी, नगेन्द्रजीके मतमें इन्द्रिय लिप्साके अतिरेकमें चेतनाके मायामें डूब जानेका प्रतीक है, इत्यादि।

फिर श्री नगेन्द्र एक प्रश्न उठाते हैं "यह रूपक कहाँतक संगत है?" और उत्तरमें कहते हैं कि "जहाँतक मूल कथाका सम्बन्ध है, रूपक सामान्यत संगत और स्पष्ट है। हाँ, कथाके सूक्ष्म अवयवोंमें संगति पूरी तरह नहीं बैठती।"

इसके उपरान्त इनका मत है कि "इसकी सफाईमें दो कारण दिये जा सकते हैं, एक कारण तो यह है कि प्रस्तुत कथाको पूरी तरह अप्रस्तुत (रूपक)में जकड देना ठीक नहीं है, आखिर प्रस्तुत कथाको थोडा सा स्वतंत्र अवकाश देना ही चाहिए। दूसरा कारण यह है कि 'कामायनी'की कथाका विकास ही असंगतियोंसे भरा हुआ है, उसमें काफी जोड लगे हुए हैं। अतएव उपर्युक्त असंगतियोंका सम्बन्ध बहुत कुछ कथाकी असंगतियोंसे भी है।"

कदाचित् यह बतानेकी आवश्यकता नहीं रह गई कि नगेन्द्रजीके अनुसार, यदि 'कामायनी'को सम्पूर्णत रूपक-काव्य मानकर अध्ययन किया जाय तो कथामें पूरी संगति नहीं बैठती है। क्यों? यह दोष 'प्रसाद'की प्रतिभा-कलाका है, या उनकी प्रस्तावनाके संकेतकी उपेक्षा करके उनकी कृतिका अध्ययन करनेवालेके आग्रहका?

मैंने यह निवेदन किया है कि काव्यमें जिसे निरस्त करनेका प्रयत्न कविने नहीं किया है, उसे ही कथा-विन्यासकी परम स्वीकार करनेपर (अर्थात् समस्त काव्यमें रूपक ही ढूँढनेपर) समालोचकका इस काव्यमें असंगतियोंका दर्शन करना स्वाभाविक [illegible] अन्तिम निष्कर्ष मेरे इस मतका समर्थन

हो जाता है। (यही नहीं, वरन् इच्छा, कर्म और ज्ञानके समन्वयपर भी विचार करते समय श्री नगेन्द्रजी प्रसादके अभीष्टको ठीकसे इसलिए ग्रहण नहीं कर सके कि उनके मानसमें 'रहस्य' सर्गमें लिखित प्रसादकी पंक्तियाँ कम और शैव-दर्शनके मत अधिक उभरे रहे। इसकी चर्चाके लिए देखिये—रहस्य 'सर्ग'।)

परन्तु किसी अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँचनेके पूर्व, अब हमें दूसरे प्रश्नपर विचार करना होगा। हमें इस प्रश्नका उत्तर ढूँढना होगा कि प्रसादजीने 'कामायनी'को ऐतिहासिक काव्य माननेका आग्रह क्यों किया?

हम जानते हैं कि 'कामायिनी'के पूर्व प्रसादजी 'कामना' और 'एक घूँट' प्रतीकात्मक कृतियाँ प्रस्तुत कर चुके थे। हम अभी यह भी देख आये कि प्रसादजीने 'श्रद्धा और मनु अर्थात् मनन'के सहयोगसे मानवताके विकासको बड़ा भावमय और श्लाघ्य रूपक भी स्वीकार किया (यदि उस रूपमें उसे कोई प्रस्तुत करे)। फिर इस जिज्ञासाका उठना, इस स्थल पर, स्वाभाविक ही कहा जायगा कि प्रसादजीने वैसा प्रयत्न क्यों नहीं किया; क्यों उन्होंने इस काव्यको इतिहास, युग-विशेष, से जोड़कर ही उसके भीतरसे चिरतन सत्य, अनुभूति या भावको प्रत्यक्ष करना या कराना चाहा? प्रतीकोंके द्वारा भी चिरतन अनुभूति प्रकट की जा सकती है। मैं इस प्रश्नका उत्तर ढूँढनेका प्रयत्न करना चाहता हूँ। क्योंकि यदि हम इस प्रश्नका कोई सन्तोषजनक समाधान पा जाते हैं तो काव्य-बोधमें अत्यधिक सुगमता होगी।

अरिस्टाटलने कहा था कि "जो हो चुका है उसे कहना कविका काम नहीं है; वरन् कविको वह कहना चाहिये जो हो सकता है या होना चाहिये"। इसलिये उसका दृढ मत था कि "काव्य-सत्य ऐतिहासिक सत्यकी अपेक्षा अधिक व्यापक होता है; क्योंकि इतिहासका सम्बन्ध विशेष[2]से होता है, और काव्यका सामान्य[1]से। परन्तु अरिस्टाटलने यह अन्तर काव्य और इतिहासमें बताया था, न कि काल्पनिक काव्य[3] और ऐतिहासिक काव्यमें। काव्यके लिये उसने न केवल ऐतिहासिक आधारको स्वीकार किया है, वरन् अधिक दृढताके साथ उसने ऐतिहासिक काव्यके सत्यको सर्वाधिक सम्भव सत्य बताया है। उसने लिखा है कि "जो हो चुका है वह अधिक सम्भव सत्य होता है"। तात्पर्य यह है कि सत्य नित्य होता है। अतीतमें उसका जो अंश या रूप प्रत्यक्ष हो चुका है, वह चिरन्तन यथार्थ होता है। वह पुनः किसी भी समय प्रत्यक्ष हो सकता है।

यही कारण है कि अरिस्टाटलने अपने देशके ट्रेजेडी-कवियोंको इतिहासके घटनाओंके चयनका आग्रह-भरा परामर्श दिया। कोरे काल्पनिक वृत्तसे ऐतिहासिक वृत्त अधिक यथार्थ, मनोरम और प्रभावपूर्ण होता है। मनोरमता और प्रभावात्मकता जीवनके यथार्थ ही में अधिक सशक्त होती हैं। जैसे ही हमें यह ज्ञात हो जाता है कि अमुक घटना अमुक युग या देशमें हुई थी उसी क्षण हम उसे जीवनके यथार्थके रूपमें

1. General. 2. Particular. 3. Fiction.

पूरे विश्वासके साथ ग्रहण कर लेते हैं। फिर तो उसमें हमें आनन्द मिलता है, और हम उससे प्रभावित भी होते हैं।

यह बताना आवश्यक नहीं है कि काव्यमें आकर इतिहास, इतिहास नहीं रह जाता। वह मात्र विशेषण रह जाता है; विशेष्य तो वह चिरन्तन अनुभूति या भाव है जिसे कविकी प्रतिमा उसकी घटनाके मूलमें प्रविष्ट होकर प्रत्यक्ष बना देती है। इसीलिए अरिस्टाटलने कवियोंको बताया कि उन्हें इतिहाससे केवल उन घटनाओंका चुनाव करना चाहिये जो किसी एक कार्यकी अभिव्यक्ति करें। 'कार्य' शब्दके अन्तर्गत भाव, विचार और अन्तर्मनकी इच्छात्मक क्रियाके बाह्य रूप आदि सभीका समावेश हो जाता है। अरिस्टाटलके इस सिद्धान्तकी पूरी विवेचनाके लिए यह स्थल उपयुक्त नहीं है, अतएव केवल यह निष्कर्ष देखकर हम आगे बढ़ेंगे कि अरिस्टाटलके अनुसार, यदि किसी कविने इतिहाससे कोई विशिष्ट घटना शृंखला संयोजित करके उसके द्वारा प्रतिफलित सत्यको सामान्य, चिरन्तन, रूपमें प्रस्तुत कर दिया तो यह माना जायगा कि उसने काव्योचित सत्य प्रत्यक्ष कर दिया; वह सफल कवि है।

अरिस्टाटलके इस मतके सन्दर्भमें अब प्रसादजीके इस पूर्वोद्धृत कथनपर ध्यान दीजिये कि "आज हम सत्यका अर्थ घटना कर लेते हैं। तब भी उसके तिथि क्रमसे सन्तुष्ट न होकर, हम मनोवैज्ञानिक अन्वेषणके द्वारा इतिहासकी घटनाके भीतर कुछ देखना चाहते हैं···" आशय यह है कि इतिहासकी किसी विशिष्ट घटना (यथार्थ)-के मनोवैज्ञानिक विन्यासके द्वारा उसके मूलमें निहित अनुभूति या भावको व्यक्त कर देना, चिरन्तन 'आत्माकी अनुभूति'को प्रत्यक्ष कर देना, कविका कर्म है। तभी इतिहासकी वह विशिष्ट घटना सामान्य (यथार्थ) होगी, और तभी वह काव्यका उपयुक्त विषय-वस्तु होगी।

इस विवेचनासे हम इस निष्कर्षपर पहुँचते हैं कि चूँकि इतिहासकी भूमि सर्वाधिक ठोस यथार्थकी भूमि होती है, इसलिए जब कवि प्रतिभा द्वारा उसके गर्भसे किसी चिरन्तन सत्य या अनुभूतिकी अवतारणा करता है तो उसकी प्रभविष्णुता उतनी ही अधिक होती है। काल्पनिक कथा[1]के द्वारा भी कवि प्रतिभा कुछ सीमातक जीवनपर गहरा प्रभाव डालती है, फिर भी ऐतिहासिक कथाके प्रभावको वह अपनेमें भर नहीं पाती। 'कामायनी'की कथाको कोरी काल्पनिक कथा माननेकी बात ही नहीं उठती, क्योंकि इसके पात्र श्रुति पुराण वर्णित हैं (श्री मुक्तिबोधजीके समान मैं उसे 'फैण्टसी' माननेमें असमर्थ हूँ)। अतएव अब हमारे सामने प्रश्न केवल यह है कि प्रसादजीने 'रूपक' काव्यसे ऐतिहासिक काव्यको अधिक महत्व क्यों प्रदान किया? ऐतिहासिक काव्यकी कुछ चर्चा हो चुकी; अब हम रूपकात्मक काव्यकी विशेषताओंको देखकर दोनोंका तुलनात्मक परख करेंगे।

विशुद्ध प्रतीकात्मक कृति प्रायः दर्शनकी सामान्य सैद्धान्तिक विवेचना या विचारकी, कृति होती है। इस प्रकारकी कृतियोंमें जो विशिष्ट वस्तु प्रस्तुत की जाती है

1. Fiction.

वह किसी सामान्यको व्यजित करनेका पारदर्शक माध्यम भर होती है। उसका निजी अस्तित्व नहीं होता। गणितके चिह्नोंके समान ही उसका अस्तित्व स्वीकार किया जा सकता है। काव्यमें भी इस प्रतीकात्मक पद्धतिको अत्यधिक आदर प्राप्त है। संस्कृत साहित्यमें प्रतीकात्मक कृतियोंकी सृष्टि होती रही है। अध्यात्म रामायण, प्रबोध चन्द्रोदय, क्या, एक प्रकारसे कृष्णकी रासलीलासे सम्बन्धित साहित्यका अधिकांश प्रतीकात्मक ही है। यहाँतक कि गोसाईं तुलसीदासने भी विनय पत्रिकाके एक पदमें रामकथाको प्रतीकात्मक आधार दे दिया है। प्रसादकी ऐसी कृतियोंका उल्लेख किया जा चुका है। इस समय श्री नरेन्द्र शर्माका द्रौपदी काव्य इसी पद्धतिपर लिखा गया है जो अत्यधिक प्रेरणादायक और उदात्त भूमिपर अवस्थित है। पन्तजीकी कई प्रतीक कृतियाँ अपूर्व रूपसे मूल्यवती हैं। जब रूपक काव्य भी गरिमापूर्ण होते हैं, जब प्रसादजी वैसा काव्य लिख सकते थे, और जब उन्होंने मनु-श्रद्धाकी कथाको श्लाघ्य रूपक बननेमें समर्थ स्वीकार किया, तब उन्होंने वैसा प्रयत्न क्यों नहीं किया, इसपर हमें विचार करना चाहिये।

आचार्य शुक्लने कबीर और जायसीके प्रतीक-काव्योंका अन्तर स्पष्ट करते हुए यह बताया कि कबीरका प्रतीक विधान अन्योक्तिपरक है और जायसीका समासोक्तिपरक। कबीरका, उदाहरण रूपमें, यह दोहा लीजिये :—

माली आवत देखिके कलियन करी पुकार
फूली फूली चुन लई कालिह हमारी बार।

इसमें माली, कलियाँ, पुकार, फूली फूली, आदि सभी शब्द प्रतीक हैं। ये शब्द लगभग पारदर्शी मात्र रह जाते हैं, इनके प्रकृत अर्थ ग्राह्य तो होते हैं परन्तु अत्यन्त तिरस्कृत रूपमें। जहाँतक इनके प्रकृत अर्थ, 'अत्यन्त तिरस्कृत' रूपमें ही सही, गृहीत होते हैं वहींतक इस प्रकारकी कृति 'शब्दार्थौ सहितौ' काव्यकी प्रकृत सीमामें प्रवेश पा सकती है। जहाँ इनके प्रकृत अर्थके इस स्वल्प ग्रहणका भी त्याग हो जाता है वहाँपर कृति केवल शब्दकी कृति रह जाती है और प्रकृत काव्य भूमिसे उसका सम्पर्क छूट जाता है। पाश्चात्य प्रतीकवादकी पराकाष्ठा इसी बिन्दुपर उपस्थित हुई और उसका विरोध भी होने लगा। फलरूपमें उसने रूप तो बदल लिया परन्तु उसकी प्रकृति नहीं बदल सकी। कुछ भी हो, अन्योक्तिपरक प्रतीक काव्यको दार्शनिक या वैचारिक काव्य ही कहना अधिक उपयुक्त होगा।

जायसीने 'पद्मावत'में कथाको प्रतीकमें इस प्रकारसे विन्यस्त किया है कि प्रत्येक स्थलपर उसके प्रतीकात्मक अर्थको ग्रहण करनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती। परन्तु साथ ही 'रूपक'के आरोपके बिना न तो सम्पूर्ण कथाकी संगति बैठ पाती है और न उसका 'इष्टार्थ' ही ग्रहण हो पाता है। इसीलिए अन्तमें कविको "तन चितउर मन राजा कीन्हा" आदि कहकर कथाके रूपकात्मक स्वरूपको स्पष्ट करना आवश्यक जँचा। पाठक भी अन्तमें पात्रोंकी ऐतिहासिक यथार्थताको छोड़कर उन्हें प्रतीक मान,

माध्यम रूपमें, ग्रहण करता है। और, सम्पूर्ण कथा एक सामान्य दार्शनिक विचारमें परिणत हो जाती है। यही समासोक्तिपरक प्रतीक-विधान है। इसमें कथा-रस तो है परन्तु अन्तमें यह भी अन्योक्तिपरक प्रतीक काव्यकी उपलब्धि-भूमिकापर अवस्थित होती है।

इन दोनों दशाओंमें 'शब्दार्थ' (काव्यगतवस्तु) अपना वैशिष्ट्य त्यागकर 'सामान्य' विचारका दर्पण भर रह जाता है। 'ध्वनिमत' में 'सलक्ष्यक्रम' और 'असंलक्ष्यक्रम' नामसे काव्य ध्वनिकी दो कोटियाँ बतायी गयी हैं। ये दोनों प्रकारके प्रतीकात्मक काव्य प्रथम कोटिके अन्तर्गत आएँगे। इनके अभिप्रायको प्रत्यक्ष करनेका क्रम (या प्रक्रिया) सलक्ष्य होता है। प्रतीक रूपमें प्रस्तुत वस्तुकी पर्याप्त बौद्धिक विवेचना करनेके उपरान्त ही हम उसकी आत्माका दर्शन कर पाते हैं।

'असलक्ष्यक्रम' ध्वनिको रस-ध्वनि भी कहा जाता है; और इसे ही काव्य मर्मज्ञोंने सर्वोत्कृष्ट काव्य-कोटि स्वीकार किया है। 'असलक्ष्यक्रम'का यह अर्थ नहा है कि काव्य 'वस्तु'की विवेचनामें बुद्धिके योग बिना ही पाठकको रसास्वादन प्राप्त हो जाता है। बुद्धिहीनोंको काव्य क्या रस देगा! इसका अर्थ यह भी नहीं है कि जिस काव्यमें पर्याप्त बुद्धिश्रम करना पड़ता है वह रस-काव्य या असलक्ष्यक्रम ध्वनि-काव्य नहीं माना जा सकता है। फिर दोनोंमें विभेदक गुण क्या है?

बात यह है कि 'विशिष्टमें सामान्य देखना' और 'विशिष्टको सामान्य रूपमें देखना', ये दो बात हैं। दोनों स्थितियोंमें सामान्यको ही देखा जाता है। परन्तु अन्तर यह होता है कि पहली स्थितिमें 'विशिष्ट'[1] क्रमशः दृष्टि पथसे ओझल होता हुआ अन्त में पूर्णतः अदृश्य हो जाता है; और उसके स्थानपर केवल 'सामान्य' दृश्य होता है। जब कि दूसरी स्थितिमें 'विशिष्ट' ही दृष्टि पथमें क्रमशः 'सामान्य' बन उठता है। हम इस विशिष्टको देखते-देखते उसे ही 'सामान्य'के रूपमें उपलब्ध कर लेते हैं, और वह विशिष्ट एक प्रकारसे सामान्यका प्रतीक भी हो जाता है। परन्तु किसी भी रूपमें वह अपनी विशिष्टता छोड़ता नहीं।

प्रथम स्थितिमें उपलब्ध 'सामान्य' निर्विशिष्ट होता है, और दूसरी स्थितिमें वह 'सविशेष' होता है। हम यह भी कह सकते हैं कि एक प्रकारसे दोनों स्थितियोंमें काव्य प्रतीकात्मक होता है; एकमें काव्यके पात्र अपनी विशिष्टता खोकर केवल सामान्य हो जाते हैं, और दूसरी स्थितिमें वे अपनी विशिष्टताको लिए हुए 'सामान्य'के प्रतीक होते हैं। परन्तु भेदके लिए इस दूसरे प्रकारके प्रतीकको 'जातिका प्रतिनिधि' कहना ही ठीक होगा। काव्यके पात्र उन सभी लोगोंके प्रतीक (प्रतिनिधि)' होते हैं जिनमें उनकी जैसी प्रकृतिगत विशेषताएँ होती हैं।

सामान्यकी इस विशिष्टता या विशिष्टके 'सामान्यीकरण'को रस-काव्यका प्रतीक विधान कहा जाता है। इसमें पात्र अपने स्वतन्त्र अस्तित्वको अक्षुण्ण रखते हुए,

1. Particular. 2. Type 3 Type.

अपनी मूल प्रकृति या गुणके सामान्य प्रतीक होते हैं। सत्य हरिश्चन्द्रनाटक देखते समय हम हरिश्चन्द्रके अभिनेता नटको व्यक्तिरूपम तो देखते ही हैं, उसके व्यक्तित्वमे सत्य-निष्ठाकी मनोरम प्रतिमूर्ति भी देखते हैं। हमें लगता है कि यह पात्र सत्यका प्रतीक है, सत्यनिष्ठा प्रतीक है।

अत अब हम इस निष्कर्षपर आ गये कि काव्यम प्रतीकात्मकता (व्यापक अर्थमे) रहती है। अन्योक्तिपरक और समासोक्तिमे काव्य ज्ञानकी अभिव्यक्तिका माध्यम बन जाता है, क्योंकि वह केवल प्रतीक होता है। और रस-काव्यमें इस प्रतीक (या प्रतिनिधित्वगुण)के सन्निहित होनेके कारण, वह साधन और साध्य दोनों होता है। ऐसा काव्य जीवन किसी निरपेक्ष ज्ञानका माध्यम न होकर स्वय ज्ञान होता है, वहाँ जीवन और ज्ञानम अभेद होता है। काव्यको माध्यम मान लेनेपर उसे प्रचारका, शिक्षाका, प्रबल साधन बनाया जाता है। शिक्षाका कार्य रस काव्य भी करता है, परन्तु उसकी शिक्षाकी उपलब्धि उसम व्याप्त जीवनसे अलग नहीं हो पाती। इसलिए उसका उद्देश्य, किसी सिद्धान्त निरूपण द्वारा शिक्षा देना नहीं होता, वरन् विशिष्ट जीवनकी समीक्षा प्रस्तुत करके हमें 'कैसे जीना चाहिए'का बोध कराना होता है। प्रसादजी रसवादी थे, अत महाकाव्यकी रचनाके लिए उन्होंने इसी पद्धतिको अधिक वाछनीय समझा। मेरा अनुमान है कि इसीलिए उन्होंने 'कामायनी'को रूपक-काव्य न बनाकर ऐतिहासिक काव्यका रूप प्रदान करना अधिक उचित समझा।

ऐतिहासिक काव्यमें व्यक्त जीवन देश विशेष और युग विशेषसे जुडा रहता है। वह अपने परिवेश और परम्पराका प्रतिफलन करता है, अपने युगकी अभिव्यक्ति करता है और भावीके निर्माणमें योग भी प्रदान करता है। प्रसादजीके ऐतिहासिक नाटकोंमे सम्बन्धित युगकी राजनीतिक, सामाजिक और सास्कृतिक स्थितियोंपर एक साथ ही व्यापक आलोक डाला गया है। तत्कालीन जीवनको रूप प्रदान करनेवाली समस्त विचार-सरणियाको हमारे सम्मुख रख दिया गया है। यही नहीं, वरन् लेखक उनकी विवेकपूर्ण समीक्षाकी व्यजना द्वारा हमें जीवनके शाश्वत, स्वस्थ, रूपका बोध कराता चलता है। यह सब कुछ आरोपित नही, वरन् नाटकोंके प्रमुख पात्रों तथा कार्योंकी यथार्थ प्रकृतिके भीतरसे उपलब्ध होता है। युग विशेषके जीवनको इस प्रकार विन्यस्त किया गया है कि उसके मूलमे अवस्थित चिरन्तन सत्य, अनुभूति या भाव मूर्त हो उठता है।

आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयीका यह मत सर्वथा ठीक है, और इसलिये इस स्थल पर उद्धरणीय है, कि "प्रसादजी हिन्दीके युग प्रवर्तक और साहित्यस्रष्टा तो थे ही, एक असाधारण समीक्षक और दार्शनिक भी थे। बुद्ध, मौर्य और गुप्तकालके ऐतिहासिक और सास्कृतिक अन्वेषणोंपर उनके निबन्ध पाठक पढ चुके हैं। उनका महत्व इस दृष्टिसे अधिक है कि वे इतिहासकी सूखी रूप-रेखापर तत्कालीन व्यापक उन्नति या अवनतिके कारणों और रहस्योंका रग चढा देते हैं। व्यक्तियों और समूहोंकी कृतियोंका ही नहीं, उन विचारधाराओंका भी वे उल्लेख करते हैं जिनका सामाजिक जीवनके

निर्माणमें हाथ रहा है। + + + वे इतिहासका मानव निर्मित संस्थाओं, उनके सामूहिक उद्योगों, मनोवृत्तियों और रहन-सहनकी पद्धतियोंके साथ देखना चाहते हैं और मनुष्यकी सारी प्रगतियोंका केन्द्र समसामयिक दर्शनको मानते हैं। + + + कोरी भौतिक घटनाओंका इतिहास या कोरा पारमार्थिक दर्शन उनके लिये कोई महत्त्व नहीं रखते। + + + प्रसादकी इस पद्धतिके कारण भारतीय इतिहास और दर्शन दोनों ही राष्ट्रीय संस्कृतिके अविच्छिन्न अंग बन गये हैं। कहीं भी इनका विछोह नहीं होने पाया। जहाँ कहीं दार्शनिक विवेचन है वहाँ मानव-जीवन और इतिहासकी पृष्ठ भूमि अवश्य है; और जहाँ कहीं किसी राष्ट्रीय उद्योगका आकलन है, वहाँ भी दर्शनका साथ कभी नहीं छूटा।"

भारतीय वाङ्मयमें सर्वाधिक प्राचीन वैदिक साहित्य है। उसीमें प्राचीन भारतीय जीवन, राष्ट्रीय-संस्कृतिकी झाँकी उपलब्ध हो सकती है। अपने समीक्षा निबन्धों-में प्रसादजीने तत्कालीन जीवन और संस्कृतिके तथा 'मनुष्यकी सारी प्रगतियोंके' केन्द्रमें कार्यरत 'समसामयिक दर्शन'की पाण्डित्यपूर्ण विवेचना की है, यह हम जानते हैं। उनकी दृढ़ मान्यता है कि :—

आदिम बहुदेवोपासनाके उपरान्त भारतमें एकेश्वरवाद और आत्मवादकी दार्शनिक स्थापनाएँ चल पड़ीं। एकेश्वरवादके नेता वरुण और आत्मवादके नेता इन्द्र थे। प्रसादजीका मत है कि एकेश्वरवाद असुरोंके विवेकवादकी सृष्टि था। और, आत्मवादी आनन्दवाद तद्युगीन तरुण आर्य-संघका प्रमुख जीवन-सिद्धान्त था, क्योंकि आर्यावर्तके वे तरुण आर्य स्वत्वके उपासक थे। तर्कवादी, दुःखातिरेकवादी व्रात्योंको भी, प्रसादजीके मतानुसार, आर्योंकी यह मूल आनन्दवादी धारा स्वीकार नहीं थी।

यही नहीं वरन् आधुनिक युगतकके साहित्यकी विवेचना करते हुए प्रसादजीने भागवतानुयायी कृष्ण-काव्यों, तुलसी साहित्य और कबीरके अहमूलक निवृत्ति मार्ग आदि सभीको दुःखवादी विवेकवादी धाराके अन्तर्गत दिखाया है। और आर्योंकी इस मूल आनन्दवादी धाराके कई परवर्ती मिश्र रूपोंका उल्लेख करते हुए उन्होंने शैवागमों और शाक्तागमोंमें निगमोंकी (आनन्दवादी) परम्पराको दिखाया है। लावनीमें प्रसादजीने निगमोंकी, आर्योंकी, इस मूल आनन्दवादी धाराकी अभिव्यक्ति मानी है (इन बातोंकी विशेष जानकारीके लिये देखिये प्रसादजीका 'रहस्यवाद' नामक निबन्ध)।

मैंने, इसके द्वारा, केवल यह बताना चाहा कि प्राचीनतम वैदिककालमें प्रवेश करके, तद्युगीन जीवन और दर्शनकी समीक्षा करते हुए, आर्य जीवनकी मूल (मान्य) दार्शनिक स्थापना (आनन्दवाद) की विवेचना और उसके विषयमें अपना स्पष्ट मत निर्देशन प्रसादजी 'कामायनी'की सृजनाके बहुत पहले ही कर चुके थे। ऊपर हमने उनके ऐतिहासिक नाटकोंकी विशेषताओंका परिचय पा लिया है। अतएव अब यह अनुमान करना सर्वथा ठीक, और सत्यके अधिक निकट होगा कि भारतके अतीत जीवनकी विवेकपूर्ण समीक्षा करते हुए, उसके गर्भमें अवस्थित जीवनके व्यापक, चिरन्तन, उदात्त, उल्लासपूर्ण एवं स्वस्थ रूपको प्रदर्शित करके, वर्तमान जीवनको

उसके आदर्शपर व्यवस्थित करनेका जो व्रत प्रसादजीने लिया था उसीका पुरश्चरण 'कामायनी' है।

महाभारतकाल, बौद्धकाल, मौर्यकाल और पौराणिककालकी समीक्षा कर लेनेके उपरान्त उन्होंने इस बार वैदिक युग, तरुण आर्योंके युग, को उरेहनेका व्यापक प्रयत्न 'कामायनी' के रूपमें किया। इस बार उन्होंने आनन्द, उल्लास, प्रमोदसे परिपूरित उस वीर आर्य जातिके जीवनको प्रत्यक्ष करना चाहा है जिसकी भौतिक और दार्शनिक (पारमार्थिक) उपलब्धियोंपर हमें आज भी गर्व है, जो हमारी राष्ट्रीय संस्कृतिका मूल उद्गम और चिरन्तन आदर्श है। श्रद्धा पुत्र 'मानव' उसी तरुण आर्य जातिका प्रतिनिधि है, जो समस्त सारस्वत (प्रबुद्ध) राष्ट्रको आनन्द-भूमिपर अवस्थित करनेमें समर्थ था; और 'कामायनी श्रद्धा' उस कर्मठ जातिकी जननी नारीका प्रतिनिधित्व करती है।

'काव्य और कला' निबन्धमें प्रसादजीने लिखा है कि "हमें अपनी सुरुचिकी ओर प्रत्यावर्तन करना चाहिये। क्योंकि हमारे ज्ञान प्रतीक दुर्बल नहीं हैं"। मैं 'कामायनी'में ऐसा ही प्रत्यावर्तन पाता हूँ। 'यथार्थवाद और छायावाद' निबन्धमें उन्होंने आधुनिक युगके विषयमें लिखा है कि 'भारतमें तरुण आर्य संघमें सामाजिक चेतनाका आन्दोलन करनेवाला दल उपस्थित हो गया है। वह पौराणिक युगके पुरुषोंके चरित्रोंकी अपनी प्राचीन महत्ताका प्रदर्शनमात्र समझने लगा"। 'प्रसाद'जी स्वयं इस दलके नेता थे। वे ही 'तरुण आर्य संघ'के पथ प्रदर्शक बने। इसीलिए तो उनके सामने वे ही जीवनादर्श थे जो वैदिक तरुण आर्योंके जीवनमें व्यक्त हुए थे। 'कामायनी'में यही जीवनादर्श प्रतिफलित किया गया है।

इसी निबन्धमें प्रसादजीने लिखा है: "जातिमें जो धार्मिक और सामाजिक परिवर्तनोंके स्तर आवरण बन जाते हैं, उन्हें हटाकर अपनी प्राचीन वास्तविकताको खोजनेकी चेष्टा भी साहित्यमें तथ्यवादकी सहायता करती है।" प्रसादजीके साहित्यमें हमें यह चेष्टा मिलती है। 'कंकाल'में आधुनिक भारतीय जीवनके 'धार्मिक और सामाजिक परिवर्तनोंके स्तरों' द्वारा निर्मित आवरणको हटानेका, और 'कामायनी'में 'अपनी प्राचीन वास्तविकताको खोजनेकी', चेष्टा की गयी है।

इसी प्रकार 'काव्य और कला' निबन्धमें प्रसादजीने लिखा है:—"हमारी भाषाके साहित्यमें वैसा (अर्थात् पाश्चात्य साहित्यके समान) सामञ्जस्य नहीं है। बीच-बीचमें इतने अभाव या अन्धकार काल हैं कि उनमें कितनी ही विरुद्ध-संस्कृतियाँ भारतीय रंगस्थलपर अवतीर्ण और लोप होती दिखायी देती हैं, जिन्होंने हमारी सौन्दर्यानुभूतिके प्रतीकोंको अनेक प्रकारसे विकृत करनेका ही उद्योग किया है।" अपने नाटकोंमें, जैसा पहले बताया जा चुका है, प्रसादजीने भारतके उन अन्धकार-कालोंमें छायी हुई विरुद्ध संस्कृतियोंको चीरते हुए सीधे आर्योंके अविकृत, स्वस्थ, संस्कृतिको प्रत्यक्ष करनेका प्रयत्न किया है। यही उनकी भारतको अनुपम देन है।

संस्कृति किसी देशकी आत्मा या विशिष्टता होती है। अतः भारतीय राष्ट्रीय

संस्कृतिका स्वरूप निर्देशन करके प्रसादजीने भारतकी राष्ट्रीय आत्माका ही उद्घाटन किया है। 'कामायनी'को इसी प्रयत्न शृंखलाकी अन्तिम कड़ी कह सकते हैं। 'इरावती'में उनका प्रयास अधूरा ही रह गया; फिर भी उसमें हमें यह आभास हो जाता है कि वह उपन्यास अत्यन्त व्यापक रूपमें आर्य संस्कृतिको ग्रन्थमें प्रस्तुत करनेके लक्ष्यसे आरम्भ किया गया था (मैं इस अपूर्ण कृतिकी सहायता 'कामायनी'की विवेचनामें स्थल-स्थलपर लेता चलूँगा)।

तुलसीने "श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथ"की स्थापनाके लिए रामके ऐतिहासिक और दार्शनिक रूपोंसे समन्वित व्यक्तित्वको आधार बनाया, और उनके नर-चरित, ऐतिहासिक व्यक्तित्व, द्वारा समाजके सामने मानवीय आदर्श, उदाहरण, रखा। प्रसादजीने भी 'निगमागम' सम्मत, वीर आर्य-संस्कृति, (आनन्दवादके मूलरूप)की व्याख्याके लिए मनु, श्रद्धा, इडा और मानवके ऐतिहासिक व्यक्तित्वोंको आधार स्वीकार किया। सोलहवीं शताब्दीके अंग्रेजी समीक्षक 'सर फिलिप सिडनी'ने काव्यका बचाव करते हुए लिखा है :—

काव्य दर्शन और इतिहास दोनोंसे अधिक सामर्थ्यवान होता है। क्योंकि दर्शन-ग्रन्थमें उपदेश होता है, पर उदाहरण नहीं; इतिहासमें उदाहरण होता है, परन्तु उपदेश नहीं; और काव्यमें उपदेश तथा उदाहरण दोनों होते हैं। कहनेका तात्पर्य यह है कि दर्शन-ग्रन्थोंमें सिद्धान्त निरूपण तो होता है किन्तु उन सिद्धान्तोंके पात्रों, या जीवनके माध्यमसे व्यवहारमें दिखानेका प्रयत्न नहीं होता है। दूसरी ओर, इतिहासकार वही कहता है जो वस्तुतः हो चुका है। यदि किसी अत्याचारी नृपतिका अन्त सुखमें ही हुआ तो इतिहासकार उसे अन्य किसी रूपमें (अर्थात् अपने अत्याचारोंके लिए पीड़ित रूपमें) नहीं दिखा सकता है, और इसलिए वह लोगोंको अत्याचार न करनेका उपदेश नहीं दे सकता है। परन्तु कवि दर्शनके समान सिद्धान्त-निरूपण कर सकता है और ऐतिहासिक जीवन तथा अपनी कल्पनाके योगसे ठोस उदाहरण भी प्रस्तुत कर सकता है।

सारांश यह है कि काव्यमें दर्शन और इतिहास दोनोंकी विशेषताएँ वाञ्छनीय हैं। यही कारण है कि जो कवि यह चाहता है कि लोग उसकी कृतिमें व्यक्त सिद्धान्तोंको व्यवहारमें उतारें वह इतिहासकी यथार्थ, ठोस, भूमिको ही वरण करता है। मैंने पहले ही यह स्पष्ट कर दिया है कि इतिहासके गर्भमें जो दर्शन उपलब्ध किया जाता है वह काल्पनिक कथाओं, उपन्यासों और प्रतीकात्मक काव्योंकी अपेक्षा अधिक विश्वसनीय, तीव्र और ठोस प्रभाव डालता है। लोग उसके अनुकरणमें अधिक विश्वासके साथ प्रवृत्त होते हैं।

मेरे विचारसे, यह भी कारण था कि प्रसादजीने 'कामायनी'को ऐतिहासिक माननेका विनम्र प्रस्ताव रखा। उनकी स्पृहा थी कि विकृत काम साधनासे 'कपाल-प्राय' हमारा समाज वैदिक आर्योंके सरल जीवनके मूल रहस्यको प्राप्त करके उल्लास, प्रेम, प्रमोद और आनन्दका आस्वादन करे। तुलसीके समान ही उनकी दृष्टि वैदिक

युगीन जीवन-दर्शनकी ओर थी (दोनोंके दृष्टि भेदकी ओर मैं आगे चलकर सकेत करूँगा)।

'आमुख'की विवेचना अधिक विस्तृत हो गयी; परन्तु ऐसा करना मैंने आवश्यक ही समझा। इसके द्वारा हमने यह देख लिया कि प्रसादजीका झुकाव केवल दर्शनकी ओर नहीं था। वे दर्शन और जीवनको एक करके देखनेके अभिलाषी थे। दर्शन जीवनमें खपकर, या व्यक्त होकर, ही संस्कृति या देश-जातिकी आत्मा बनता है। उन्होंने कामायनीके द्वारा आर्य राष्ट्रीय सस्कृतिको, आर्य-वैदिक-दर्शनसे अनुप्राणित यथार्थ (जीवन)को, अवतरित करना चाहा है।

'आमुख'में प्रसादजीने लिखा है "जल प्लावन भारतीय इतिहासमें एक ऐसी ही प्राचीन घटना है जिसने मनुको देवोंसे विलक्षण, मानवोंकी एक भिन्न संस्कृति प्रतिष्ठित करनेका अवसर दिया है। यह इतिहास ही है।" इसी संस्कृतिके रूपका निदर्शन करना 'कामायनी'का प्रयोजन है।

ऐतिहासिक आधार

'कामायनी'में इतिहासका आधार किस रूपमें है, इसकी चर्चा भी कविने आमुखमें की है। सक्षेपमें हम उसे भी देख लें तो ऊपरकी बातोंको समझनेमें, और आगेके अध्ययनमें, सुगमता होगी। 'कामायनी'के ऐतिहासिक आधारके निम्नांकित उपादान हैं :—

(१) जल-प्लावन :—कविने लिखा है कि "जल प्लावन भारतीय इतिहासमें एक ऐसी ही प्राचीन घटना है जिसने मनुको देवोंसे विलक्षण, मानवोंकी एक भिन्न सस्कृति प्रतिष्ठित करनेका अवसर दिया। यह इतिहास है। × × × × × देवगणके उच्छृंखल स्वभाव, निर्बाध आत्मतुष्टिमें अन्तिम अध्याय लगा और मानवीय भाव अर्थात् श्रद्धा और मननका समन्वय होकर प्राणीको एक नये युगकी सूचना मिली। इस मन्वन्तरके प्रवर्तक मनु हुए।"

इस वक्तव्यका यह स्पष्ट सकेत है कि 'कामायनी'में ऐतिहासिक मनुके द्वारा, ऐतिहासिक जल प्लावनके उपरान्त, एक नवीन (देवोंकी उच्छृंखल, भोगवादी संस्कृतिसे भिन्न) सस्कृतिके प्रवर्तनका कार्य करानेका प्रयत्न है। यह प्रयत्न तीन ऐतिहासिक पात्रोंके द्वारा किया गया है जिनमें प्रथम हैं :—

(२) मनु —'प्रसाद'का कथन है कि "मनु भारतीय इतिहासके आदि पुरुष हैं।" × ×'भागवतमें इन्हीं वैवस्वत मनु और श्रद्धासे मानवीय सृष्टिका प्रारम्भ माना गया है।" × × × जल प्लावनके उपरांत हिमालयपर मनुके सुरक्षित रहनेका वर्णन शतपथ ब्राह्मण'में आया है। "श्रद्धाके साथ मनुका मिलन होनेके बाद उसी निर्जन प्रदेशमें उजड़ी हुई सृष्टिको फिरसे आरम्भ करनेका प्रयत्न हुआ। किन्तु असुर पुरोहित के मिल जानेसे इन्होंने पशुबलि की × × × ×।"

'इस यज्ञके बाद मनुमें जो पूर्व-परिचित देव-प्रवृत्ति जाग उठी, उसने इड़ाके

सम्पर्कमें आनेपर उन्हें श्रद्धाके अतिरिक्त एक दूसरी ओर प्रेरित किया। × × × × 'इडाके लिए मनुको अत्यधिक आकर्षण हुआ और श्रद्धासे वे कुछ खिंचे' × × × × 'अनुमान किया जा सकता है कि बुद्धिका विकास, राज्य स्थापना इत्यादि इडाके प्रभावसे मनुने किया। फिर तो इडापर भी अधिकार करनेकी चेष्टाके कारण मनुको देवगणका कोपभाजन होना पड़ा।' × × × "यह इडाका बुद्धिवाद श्रद्धा और मनुके बीच व्यवधान बननेमें सहायक होता है।"

उपर्युक्त कथनोंके अध्ययनसे यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि 'देवोंसे विलक्षण, मानवोंकी एक भिन्न संस्कृति प्रतिष्ठित करनेका' जो अवसर जल प्लावनकी ऐतिहासिक घटनाने उपस्थित किया उसे स्वीकार करके 'भारतीय इतिहासके आदि पुरुष' मनुने जिस नवीन संस्कृतिकी स्थापना 'श्रद्धा'के सहयोगसे आरम्भ की, उसमें व्यवधान आया। मनुके भीतरसे पुरानी 'देव संस्कृति' उभर आई जो मनोवैज्ञानिक सत्य है। इस व्यवधानको सर्वाधिक बल इडाके सम्पर्कसे प्राप्त हुआ। इडाका ऐतिहासिक व्यक्तित्व क्या है?

(३) इडा —"ऋग्वेदमें इडाका कई जगह उल्लेख मिलता है। यह प्रजापति मनुकी पथ प्रदर्शिका, मनुष्योंका शासन करने वाली कही गयी है।" × × × × कई मन्त्रोंमें 'सरस्वतीके साथ इडाका नाम आया है। लौकिक संस्कृतमें इडा शब्द पृथ्वी अर्थात् बुद्धि, वाणी आदिका पर्यायवाची है' × × × ऋग्वेदमें इडाको घी, बुद्धिका साधन करने वाली मनुष्यको चेतना प्रदान करनेवाली कहा है।' × × "इडाको मेधसवाहिनी नाडी भी कहा गया है।"

इसके अतिरिक्त इडाके विषयमें अन्य कथा शतपथ ब्राह्मणमें आयी है जिसे 'प्रसाद'जीने 'आमुख'में प्रस्तुत किया है। इस कथाके अनुसार, इडा मनुके दही, घी इत्यादिके हवियोंसे पोषिता (और इसीलिए), दुहिता थी। प्रसादजीके शब्दोंमें "उसकी उत्पत्ति या पुष्टि पाक यज्ञसे हुई।"

पहले यह कहा जा चुका है कि मनु इडाकी ओर आकर्षित हुए और उसपर भी उन्होंने अधिकार करना चाहा। अतएव इडाविषयक इन तीनों कथा आधारोंको लेकर कवि-कल्पनाने सहज ही एक ऐसी नारीका व्यक्तित्व निर्मित कर लिया जिसने मनुके 'नवीन संस्कृति स्थापन'में व्यवधान प्रस्तुत किया, जो बुद्धिवादिनी थी और देव-संस्कृतिको पुन प्रतिष्ठित करनेके लिए प्रयत्नशील था। ऐतिहासिक काव्यमें ऐसी नव निर्मिति स्वाभाविक है। देवसेना, अलका, कवि-कल्पनाकी निर्मिति ही है।

(४) श्रद्धा —"कामगोत्रजा श्रद्धानामर्षिका", "श्रद्धा काम गोत्रकी बालिका है इसीलिए उसे 'कामायनी' भी कहा जाता है।" भागवतके अनुसार, जैसा ऊपर बताया जा चुका है, मनु और श्रद्धासे मानवीय सृष्टिका विकास हुआ। अत श्रद्धाका व्यक्तित्व ऐतिहासिक है। 'ऋषिका' होनेके नाते उसे 'सत्य'की प्रत्यक्ष अनुभूति रही होगी, यह सहज अनुमेय है। देव मनु इसी ऋषिकाके सहयोगसे देवोंसे भिन्न संस्कृति स्थापित करनेमें सफल रहा होगा।

अन्तमे मैं यह कहना चाहता हूँ कि यदि 'कामायनी'को, प्रसादजीकी प्रस्तावनाका आदर करते हुए, ऐतिहासिक रस-काव्य मानकर हम उसका अनुशीलन करें तो हमें न समन्वित प्रभावका अभाव मिलेगा, और न अन्तिम सर्गोंको आलङ्कारिक माननेका प्रसग प्राप्त होगा। तभी हम यह भी देखेंगे कि इसके प्रत्येक पात्रके मानवीय चरित्रकी कतिपय (समीक्षकों द्वारा) अनुद्घाटित रेखाएँ स्वतः हमारे सम्मुख उभर आती हैं और हमें इन पात्रोंको सर्वत्र प्रतीक माननेकी न केवल आवश्यकता नहीं पड़ती वरन् वैसा माननेसे उल्टे काव्यका अभिप्राय ही स्पष्ट नहीं हो पाता है। तभी हम यह देख पायेंगे कि इस काव्यका अबतक प्राय. उपेक्षित पात्र 'मानव' कितना महत्वपूर्ण है। और अन्तमे हम यह भी देख सकेंगे कि न तो यह काव्य प्रतिक्रियावादी है, न असांस्कृतिक तत्वोंसे दूषित है, न शैवागम तथा शाक्तागमके आनन्दवादका कला मन्दिर है, और न यह काव्य कर्म पलायनका समर्थक है (जैसा कि श्री 'दिनकर'जीने आक्षेप किया है)।

'शीर्षक' विवेचनाके अवसरपर मैंने कहा है कि इसे मेरा आग्रह या आरोप न माना जाय। यह सब भावी अध्ययनकी उपलब्धियोंका सकेत भर है। हम काव्यकी अन्तर्साक्ष्य समीक्षा-पद्धति द्वारा, यदि, इन्हें प्राप्त करेंगे तभी इन्हें स्वीकार करेंगे। परन्तु 'आमुख'के इस स्पष्ट आशयको तो हमें स्वीकार करना होगा (यदि हम 'कामायनी'का उपयुक्त बोध चाहते हैं तो) कि यह काव्य प्रतीकात्मक नहीं वरन् ऐतिहासिक है, इसमें 'मानवताका मनोवैज्ञानिक इतिहास' को नहीं, वरन् युग विशेष-के जीवन (यथार्थ)के मूलमें स्थित आत्माकी चिरन्तन अनुभूतिको प्रतिफलित करने-का प्रयास किया गया है।

युगसे, प्रलयकी घटना और नव मानवीय सस्कृति-स्थापनाकी भूमिकासे, काट कर यदि हम 'कामायनी' काव्यका अध्ययन करेंगे, यदि उसे प्रतीक मानकर उसकी उपलब्धिको आत्मसात करना चाहेंगे, तो हम गल्ती करेंगे। इसमें प्रतीकात्मक सकेत अवश्य है, किन्तु वे इसीलिये है कि यह कथा इतनी पुरानी है कि इसमे भावनाओंका भी योग हो गया है। परन्तु मैं पाठकोंका ध्यान इस महत्वपूर्ण तथ्यकी ओर आकृष्ट करना चाहूँगा कि इस प्राचीन भावपूर्ण इतिवृत्तिका आधार लेकर भी 'कामायनी'में प्रस्तुत कथा उससे पर्याप्त भिन्न है। जहाँतक 'प्राचीन भावपूर्ण इतिवृत्त'का आधार है वहींतक प्रतीकोंकी गुंजायश मानी जायगी, और जो अश केवल प्रसादकी कल्पनाकी उपज हैं, और वही अश अधिक हैं, उनमें भी प्रतीक ढूँढना, कविकी काव्य योजनाके प्रतिकूल होगा। हम इस तथ्यकी जाँच अपने अध्ययनमें करेंगे।

संस्कृति किसी सुनिर्दिष्ट तत्व दर्शनपर आधारित होती है। जीवन-दर्शन या तत्व-दर्शन आत्मा है और सस्कृति उसकी अभिव्यक्ति। अतएव जल प्लावनके बाद मनुके द्वारा कपिका श्रद्धाके सहयोगसे, प्राचीन देव-सस्कृति एव देव-दर्शनका प्रत्याख्यान करके, आर्योंकी जो सस्कृति प्रतिष्ठित हुई होगी उसका कोई तत्व-दर्शन रहा ही होगा। हम कह सकते हैं कि इसी नवीन तत्व दर्शनकी क्रमिक अभिव्यक्तिसे उस नवीन सस्कृतिका निर्माण सम्पन्न हुआ होगा। अतएव कामायनीमें उस तत्व चिन्तनकी

प्रतिष्ठाका पूर्ण विन्यास करना अवश्यंभावी था। हम जानते हैं कि वैदिक कालमें कई प्रकारकी दर्शन-प्रणालियाँ और चिन्तनकी उपलब्धियाँ रहीं। 'कामायनी'में, एक सीमाके भीतर, उन सभीका संकेत है और अन्योंकी व्यर्थता एव त्रुटियाँ प्रदर्शित करके आर्योंके उस तत्त्व-चिन्तनकी प्रतिष्ठा की गई है जिसपर 'आमोद, प्रमोद, उल्लास'से पूरित वीर आर्य-संस्कृति निर्मित हुई। 'दर्शन-विमर्श'में इन सब बातोंकी चर्चा पुनः होगी।

काव्य-वस्तु : मनोवैज्ञानिक अध्ययन

काव्य-वस्तु : मनोवैज्ञानिक अध्ययन

प्रबन्ध काव्यमें उपक्रम और उपसंहारका भारतीय समीक्षा पद्धतिमें अत्यधिक महत्त्व रहा है। "उपक्रमोपसंहारौ"को कृति-बोधके लिए प्रमुख विचारणीय काव्य अंश माना जाता है। इन दोनोंकी संगतिके बोधसे कृतिके रहस्यको जान लेना भ्रम रहित और सुगम होता है। काव्यके मध्यका अंश इस संगतिकी स्थापनामें समीक्षक की सहायता करता है, इसलिए उसका भी महत्त्व रहता है। प्रसिद्ध है कि 'बाल काण्ड'का आदि, 'अयोध्या काण्ड'का मध्य और 'उत्तर काण्ड'का अन्त, सन्तों (काव्य मर्मज्ञों)के द्वारा ही जानने योग्य स्थल हैं। आशय यही है कि रामचरितके 'उपक्रम', मध्य, और उपसंहारको विद्वान् ही आत्मसात् कर पाते हैं, और यदि कोई ग्रंथकारका यथार्थ जानना चाहे तो उसे इन तीनोंकी संगतिपूर्ण विवेचना करनी चाहिये।

पाश्चात्य समीक्षाके जनक अरिस्टाटलने भी 'ट्रेजेडी' काव्यके 'काय'के आदि, मध्य और अन्त अंशोंको अधिक महत्वपूर्ण अंश स्वीकार किया है। उसने भी यह समझाया है कि पाठक इन अंशोंकी अन्विति आधारपर ही 'काय'को आत्मसात् करना चाहिये, क्योंकि कवि इन्हींके द्वारा 'काय'का विन्यास करते हैं। कविके मानसमें सर्वप्रथम महाकाव्यकी रूप-रेखा निर्मित हो जाती है, यही काव्यका बीज, या मूल, रूप होता है। फिर यही बीज कविकी कलाके द्वारा पल्लवित होता है।

सभी उत्कृष्ट कवि अपनी कृतिके इस मानस बिम्बको अच्छी प्रकार आत्मसात् करके ही कवि कर्म या 'वर्णना'में प्रवृत्त होते हैं। मैथ्यू आर्नोल्डने लिखा है कि एक बार 'मीनाण्डर'के मित्रने उससे पूछा कि क्या आपने 'नाटक' लिख लिया, तो यद्यपि उस समयतक उन्होंने एक पंक्ति भी नहीं लिखी थी फिर भी उन्होंने 'हाँ' में उत्तर दिया, इसीलिए कि उनके मानसमें कृतिका मूल बिम्ब निर्मित हो चुका था। रामचरितमानस इसी अर्थमें मानस-काव्य है कि उसे शंकरने अपने मानसमें रचकर पर्याप्त कालतक रख लिया था, और उपयुक्त अवसर पाकर उन्होंने उसकी 'वर्णना' की। लोचन इसी अर्थमें (उत्कृष्ट) काव्यको मानस-काव्य ही माना है।

स्पष्ट है कि यह मूल मानस बिम्ब कुछ इनी गिनी महत्वपूर्ण रेखाओंसे ही बना हुआ होता है। यह एक ऐसी शृंखलाके रूपमें प्रत्यक्ष होता है जिसका आरम्भ, मध्य और अन्त कविकी अन्तश्चेतनाके सम्मुख स्पष्ट रहता है। इसलिए जब वह इसे कलामें सँवारकर प्रस्तुत कर देता है तो वह 'बीजांकुरन्याय'से एक काव्य-वृक्षके रूपमें प्रकट हो उठता है। जिस प्रकार बीजकी शक्ति ही अंकुर, शाखा प्रशाखाओं, पत्र-फूलों आदिमें

अपनी अभिव्यक्ति प्राप्त करती है, उसी प्रकार समस्त काव्य-कलेवरमें कविका मानस बिम्ब ही पल्लवित होता है।

इसे ही आत्मसात् करने पर समीक्षक या पाठकको काव्यके लक्ष्यका ठीक ठीक बोध हो सकता है। और इसीलिये काव्यके उपर्युक्त तीन अंश और उनकी कतिपय सन्धियोंकी विवेचना समीक्षाशास्त्रमें महत्वपूर्ण होती है। अंग्रेजीकी नूतन समीक्षा-पद्धतिके व्यामोहसे इस प्राचीन शास्त्रीय समीक्षा पद्धतिको इस समय उचित प्रोत्साहन नहीं दिया जा रहा है। परन्तु मेरा मत है कि प्रबन्ध-काव्य, या नाटकके लिये इस पद्धतिकी समीक्षामें विवेकपूर्ण उपयोगका अत्यंत महत्व है। हम इसे भूलनेकी गल्ती नहीं करनी चाहिये।

अतएव सर्वप्रथम हम 'कामायनी'के प्रत्येक सर्गका अध्ययन करके उसकी उपलब्धिको हृदयंगम करेंगे, और तदुपरान्त शास्त्रीय समीक्षा-पद्धतिका भी कुछ सहारा, लेकर उन सभी उपलब्धियोंकी अन्विति द्वारा कविकी मूल आत्मक अनुभूति, काव्यलक्ष्य का बोध प्राप्त करेंगे, क्योंकि जबतक हम प्रत्येक सर्गका आशय उपयुक्त रीतिसे न ग्रहण कर पायेंगे तबतक हम उसकी शास्त्रीय विवेचना न कर सकेंगे। परन्तु संकेत रूपमें इतना कह देना इस स्थलपर ठीक समझता हूँ कि अबतककी पूर्व-चर्चाओंमें मैंने जो कुछ कहा है उससे यह स्पष्ट हो जाना चाहिये कि मेरे मतमें, 'कामायनी'का 'कार्य' या (लक्ष्य) है "वैदिक आर्य संस्कृतिके, आनन्द, उल्लास, और प्रमोदसे परिपूर्ण तथा 'काम'की व्यापक भावनासे निर्मित, रूपका प्रतिफलन करके मानव जीवन की आनन्दमयी व्यवस्था की स्थापना।"

इस 'कार्य'का उपक्रम चिंता, आशा और श्रद्धा सर्गोंमें है, इनमें भी 'चिन्ता' और 'आशा' सर्ग इस उपक्रमकी भूमिका रूप हैं। काव्यके 'कार्य'का बीज-वपन 'श्रद्धा' सर्गमें होता है। 'ईर्ष्या' सर्गमें कार्यकी मध्यावस्था है। मध्य वह होता है जो किसी पूर्व घटनाका परिणाम हो, और बादकी घटनाएँ जिसका फल हों। यों तो काव्यमें प्रत्येक घटना पूर्वापर कारण-कार्य शृंखलामें गुम्फित रहती है, परन्तु मध्य अवस्था वही होगी जहाँ मुख्य कार्यके प्रमुख अवयव (पूर्व पक्ष और उत्तर पक्ष) स्पष्ट रूपसे सन्धिस्थ होते हुये दिखाई पड़ते हैं। 'ईर्ष्या' सर्ग ऐसा ही स्थल है, अतः उसीमें 'कार्य'का मध्य अंश अभिव्यक्त होता है। संयोगसे ही कहिये, अथवा काव्यके प्रकृत विकासका अनिवार्य फल समझिये, कि पंद्रह सर्गोंके इस काव्यमें ईर्ष्या सर्गको आठवाँ स्थान (अर्थात् मध्य) क्रम भी प्राप्त है।

यह भी याद रखना चाहिये कि 'कार्य'की विविध अवस्थाएँ किसी स्थूल रेखा-वृत्तमें समेटकर प्रदर्शित नहीं की जा सकतीं। जीवनकी अवस्थाओंके समान ही इनकी सन्धियोंको निश्चित् बिन्दुओंपर दिखलाना कठिन होता है। किशोरावस्था और यौवनावस्थाकी सन्धि कहाँ है, अथवा जीवनका मध्य काल कहाँसे आरम्भ हुआ और कहाँसे उतारकी ओर झुका, यह सब ठीक ठीक जोड़ घटा कर गणना कर देना सम्भव

नहीं होता है। यही बात काव्यके कार्यकी विभिन्न अवस्थाओंके विषयमें समझ लेनी चाहिए।

'कार्य'के उपक्रम और मध्यका संकेत किया जा चुका; अब यह संकेत करना शेष है कि कार्यका 'अन्त' कहाँ पर है। स्पष्ट ही है कि अन्तिम सर्ग 'आनन्द' काव्यका अन्तिम समारोह लेकर उपस्थित होता है। इन संकेतोंको मानसमें रखकर अब हम काव्यके सर्गोंका अध्ययन करेंगे, और अन्तमें पुन, जैसा कहा जा चुका है, कार्यकी अवस्थाओं और सन्धियोंकी विवेचना करते हुये काव्यके लक्ष्यको समझेंगे।

१. 'चिन्ता' सर्ग

'जल प्लावन'की प्राचीन ऐतिहासिक घटनासे 'कामायनी'की कथा आरम्भ होती है। यह प्राकृतिक घटना एक नवीन और विषम समस्या लेकर उपस्थित हुई। देवासुर सृष्टिके उपसंहार और मानवीय सृष्टिकी स्फुरण भूमिकापर काव्यके प्रमुखपात्र 'मनु'के 'चिन्ता-कातर' चित्रको कविने आरम्भ ही में प्रस्तुत किया है। हिमालयके ऊँचे शिखरपर, जिसे बादमें 'मनोरवसमर्पणम्'की संज्ञा प्रदान की गई, बैठे बैठे मनु वाष्पायित नेत्रोंसे जल प्लावनका दृश्य देख रहे हैं। उनके ऊपर बर्फ और नीचे विशाल जल-संघात है। दो चार हिम धवल देवदारुके वृक्ष भी उनके इधर उधर दिखाई पड़ रहे हैं। उनकी नाव महावटसे बँधी हुई है, और पानी नीचेकी ओर खिसकने लगा है। चारों ओर मर्म-वेदनाकी 'करुणा विकल कहानी' व्याप्त है:, एकदम सन्नाटा है। विनाशका भयंकर ताण्डव-सा हो रहा है '—

"धू-धू करता नाच रहा था
अनस्तित्वका ताण्डव नृत्य,
आकर्षण विहीन विद्युत्कण
बने भारवाही थे भृत्य।"

इस भीषण विनाशके बीच बैठकर 'चिन्ता-कातर' होनेके अतिरिक्त मनु और कर ही क्या सकते थे। इस अप्रत्याशित प्रकृति-कोपने उन्हें स्तब्ध और नितान्त निरुपाय बना दिया था। व्यक्तिकी निरुपायता चिन्ताकी जननी होती है। अतएव मनुके मानस में, इस नवीन परिवर्तनके कारण, 'चिन्ताकी पहली रेखा' खिंच उठी। इसके पूर्व मनु का जीवन 'अतृप्ति, निर्बाध विलास' और 'द्विधा रहित' भूख प्यासका जीवन था। वे अमर थे, या कम से कम उस सृष्टिके लोगोंने अपनेको 'अमर' मान लिया था। इसलिए मनुको कभी भी चिन्ताकी अनुभूति नहीं हुई थी। पर आज उनका 'अमरत्व' विनाश शक्तिके आगे अपनेको अत्यन्त दीन पाकर वास्तविकताको समझनेके लिए विवश था। उसकी दीनताके उदाहरण निम्नांकित पंक्तियोंमें देखिये :—

हा-हा-कार हुआ क्रन्दनमय
कठिन कुलिश होते थे चूर
हुये दिगन्त बधिर, भीषण रव
बार-बार होता था क्रूर।

\+ + +

धँसती धरा धधकती ज्वाला
ज्वालामुखियोंके निश्वास
और संकुचित क्रमशः उसके
अवयवका होता था ह्रास।
सबल तरंगाघातोंसे उस
क्रुद्ध सिन्धुके, विचलित सी
व्यस्त महाकच्छप सी धरणी
ऊभ-चूभ थी विकलित सी।

\+ + +

करका क्रन्दन करती गिरती
और कुचलना था सबका।
पंचभूतका यह ताण्डवमय
नृत्य हो रहा था कब का।

इस प्रलय प्रकोपमें मनु एक नौकाके सहारे अपनी रक्षामें प्रवृत्त हुये थे :—

एक नाव थी, और न उसमें
डाँड़े लगते या पतवार
तरल तरंगोंमें उठ गिर कर
बहती पगली बारम्बार।

\+ + +

ऐसी असहाय स्थितिमें न जाने कितने दिनोंतक मनु पड़े रहे। यह निय विश्व शक्ति की ही इच्छा थी कि मनु बच गये, अन्यथा वास्तविकता तो य है कि :—

लगते प्रबल थपेड़े धुँधले
तट का था पता नहीं,
कातरतासे भरी निराशा
देख नियति पथ बनी वहीं।

\+ + +

महामत्स्यका एक चपेटा
दीन पोतका मरण रहा।

किन्तु उसीने ला टकराया
इस उत्तर-गिरिके शिर से
देव-सृष्टिका ध्वंस अचानक
श्वास लगा लेने फिर से।"

\+ \+ \+

ठोकर लगनेपर आँखें खुल जाती है। अतएव मनुकी अन्तर्चेतना इस घटनाके कारणोंकी समीक्षामें स्वतः प्रवृत्त हो उठी। उसे भान होने लगा कि प्रकृतिके इस कोपका कारण देवासुर-सृष्टिकी कोई-न-कोई त्रुटि ही रही होगी। इस दिशामें सोचनेपर मनुके मानसमें देवासुर-जीवनके कई दोष उभर आये। और, मनुने उन्हीं दोषोंको प्रलयका कारण स्वीकार किया।

(१) सर्वप्रथम मनुका ध्यान इस तथ्यकी ओर गया कि देव जातिका स्वयंको देव (सर्वशक्तिमान) मान लेना ही उसके विनाशका मूल कारण था। प्रलयके पूर्व उस जातिमें यह भावना पराकाष्ठाको प्राप्त थी। स्वयको 'देव (परमसत्ता) मान लेनेपर विशृंखल हो जाना स्वाभाविक होता है; और विशृंखलता नाश ही होती है :—

स्वयं देव थे हम सब, तो फिर
क्यों न विशृंखल होती सृष्टि
अरे, अचानक हुई इसीसे
कड़ी आपदाओंकी वृष्टि।

आगे चलकर 'इड़ा' सर्गमें मनुने इस तथ्यको और स्पष्ट रूपसे प्रस्तुत किया है। विषयकी स्पष्टताके लिए, मैं मनुके उस कथनको यहाँपर उद्धृत कर देना चाहता हूँ :—

"था एक पूजता देह दीन
दूसरा अपूर्ण अहंता में अपनेको समझ रहा प्रवीण
दोनोंका हठ था दुर्निवार, दोनों ही थे विश्वास हीन।"

× × ×

"जीवनका लेकर नव विचार
जब चला द्वन्द्व था असुरोंमें प्राणोंकी पूजाका प्रचार
उस ओर आत्म विश्वास निरत सुर-वर्ग कह रहा था पुकार—
"मैं स्वयं सतत आराध्य आत्ममंगल उपासनामें विभोर
उल्लास-शीलमें शक्ति-केन्द्र, किसकी खोजूँ फिर शरण और
आनन्द उच्छलित शक्ति-स्रोत-जीवन विकास वैचित्र्य भरा
अपना नव-नव निर्माण किए रखता यह
प्राणोंके सुख साधनमें ही, संलग्न असुर
नियमोंमें बँधते दुर्निवार।"

इन उद्धरणोंपर अवधानतापूर्वक विचार करनेपर यह ज्ञात होगा कि 'प्रसाद'-जीके अनुसार, असुर प्राणवादी थे और देवता विज्ञान (या चेतना)वादी। तात्पर्य यह कि आसुर मान्यताके अनुसार 'प्राण' ही ब्रह्म (या परमसत्ता) है, उसीकी उपासना (अर्थात् जीवनको वाह्यागत सफलता प्रदान) करना ही परम पुरुषार्थ है। प्राणकी उपासनाका अर्थ है जीवनके सुख-साधनोंमे उसे पूरित, सतुष्ट करना। एक प्रकारसे यह मत भौतिकवादका ही प्राचीन रूप है। यह केवल भौतिक जीवनको सत्य मानता है।

दूसरी ओर सुर थे जो इससे आगे बढकर यह मानते थे कि 'विज्ञान' सर्वोपरि सत्ता है। इसीको 'चिति', चित्त, चेतना भी कहते हैं। बुद्धि इसीकी दृष्टा है। भारतीय मनोविज्ञानके अनुसार मानवमें पाँच कोष होते है अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष, और आनन्दमय कोष। असुर-मतम प्रथम तीन कोषोंकी स्वीकृति थी। सुरोंने विज्ञानमय कोष अर्थात् व्यक्ति-चेतना को परम सत्य ग्रहण किया। उनकी देवी थी इडा जो उन्हें, जैसा 'प्रसाद'जीने 'आसुर'में लिखा है, 'चेतना' प्रदान करती थी। उपर्युक्त अन्तिम उद्धरणमें 'आत्ममगल'के 'आत्म' शब्दका वही अर्थ है जिसे पश्चिममें 'ईगो' कहा जाता है। देवता इसी 'ईगो', व्यक्ति-चेतना, की कल्याण-साधनामें निरत थे।

साख्य-मनोविज्ञानके अनुसार, पुरुषके सम्पर्कसे प्रकृतिमें जो प्रथम परिणाम व्यक्त होता है, वह है बुद्धितत्व। यह सत्वप्रधान तत्व होता है, प्रकाश इसका स्वभाव है। इसके बाद, इसके परिणाम रूप, 'अह' या ईगो तत्व उत्पन्न होता है। यह 'निजत्व'-की चेतना या आत्म-चेतना है। चूँकि हम 'आनन्दवाद'के प्रकरणमें इन सबपर विस्तारपूर्वक विचार करेंगे, अत यहाँपर मैं केवल यह सकेत दे देना ठीक समझता हूँ कि इन दो तत्वोंमेंसे प्रथम अर्थात् बुद्धि तत्वको (जिसे महत् या विज्ञान भी कहा जाता है) 'पुरुष'का प्रत्यक्ष सान्निध्य प्राप्त रहता है, परन्तु आत्म-चेतना या 'ईगो' (अह) तत्वको वह परोक्ष रहता है। 'पुरुष'के साक्षात्कार निमित्त उसे प्रयत्न करना पडता है। उसे 'तप' करना पडता है। परन्तु वह प्रयत्न पुरुष (महाचिति)तक पहुँचनेके पूर्व पहले 'बुद्धि' तत्वका दर्शन करता है। भ्रमसे वह उसे ही लक्ष्य या परम सत्ता मान लेता है। 'अहम्' ऊपर उठकर 'विज्ञान'का दर्शन करता है। पर वह वस्तुत परमसत्ता, पुरुष-चेतनाको आयत्त नहीं कर पाता। इसीलिए वह 'अपूर्ण अहता' ही रह जाता है। वह अद्वैतकी अनुभूति नहीं पाता। असुरोंकी चितन और लक्ष्य भूमियाँ तो इससे भी नीचे थीं। उनका सचरण 'अहम्' (ईगो) और उसके प्राकृतिक परिणामोंम ही सीमित था। पूर्णता न पानेके कारण 'अपूर्ण अहता' भी निम्नगामी होकर भोग भूमियोंपर खिसक आती है। सुरोंके विज्ञानवादकी यही परिणति हुई। इसीलिए अन्तर होते हुए भी सुरोंका 'विज्ञानवाद' और असुरोंका 'प्राणवाद' दोनों एक समान ही भोगवादी हो गये। सृष्टि-शक्तिका पूर्ण विकास बाधित हो उठा। प्रलय इसी बाधाको हटानेकी क्रिया बना।

इस प्रकार हम देखते हैं कि 'विज्ञानवाद' और 'प्राणवाद', दोनों जीवन-दर्शनोंको, 'प्रसाद'जीके अनुसार, महाशक्तिने अस्वीकार कर दिया। ये दोनों मत प्रकृति-की परिधिमें ही जीवनकी अनुभूति करते हैं और उसीकी सीमामें जीवनका परम मूल्य अवस्थित देखते हैं। जैसा बताया जा चुका है कि 'विज्ञान', अर्थात् प्रकृतिका प्रथम परिणाम बुद्धि तत्व, यद्यपि परम चेतनाके सर्वाधिक निकट रहता है; फिर भी उसकी सीमा 'प्रकृति'में ही होती है। द्वैतके परे 'अद्वैत'से वह दूर है। द्वैत सृष्टि विकासका साधन है; अद्वैत उसका आदि, अन्त और अखण्ड विकास आधार है। सृष्टिका पूर्ण विकास इसी अद्वैतकी उपलब्धि है।

देवासुरोंको यह अनुभूतिप्राप्त न हो सकी। आसुर जीवन-दर्शन तो 'प्राण', जीव-चेतना, तक ही अवरुद्ध रहा; देव-मत भी प्रकृति-गुणका अतिक्रमण न कर सका। अस्तु वह भी द्वैतवादी ही रहा। उसने 'अहम्'की भोक्ता और 'इदम्' (शेष विश्व)को भोग्य माना। 'अहम्' और 'इदम्' दोनोंको एकमें अनुस्यूत करनेवाली तथा इन दोनों-से अतीत महाचिति, परम सत्ता,की अद्वैत अनुभूति उसे न हो सकी। यही उसकी 'विश्वासहीनता' थी।

(२) विनाशके अन्य कारण भी इसी मौलिक त्रुटिकी उपज थे। अपनेको आराध्य, या भोक्ता, और शेष विश्वको आराधक या भोग्य माननेके कारण, देवजाति नितान्त भोगवादी बन उठी। असुर तो भोगवादी थे ही। इस प्रकार प्रलयके पूर्वकी देवासुर-सृष्टि केवल 'भोगवादी' सृष्टि बनकर रह गयी। भोग भावना निरन्तर बलवती होती जाती है, और बुद्धिके द्वारा भोग साधन जुटानेमें सर्वदा प्रयत्नशील रहती है। रुकना तो यह जानती ही नहीं। चिर अतृप्ति और निर्बाध भोग इसकी विशिष्टताएँ होती हैं, मनु ने सोचा कि यह 'निर्बाध-भोग' ही प्रलयका तात्कालिक कारण था :—

"भरी वासना सरिताका वह
कैसा था मदमत्त प्रवाह
प्रलय जलधिमें संगम जिसका
देख हृदय था उठा कराह"

देवासुर-सृष्टिकी वासना-सरिता, निर्बाध भोग भावनाकी सरिता, अन्ध रूपसे उमड़ती हुई प्रलय समुद्रमें पर्यवसित हो गयी, यही उसका प्राकृतिक अन्त था। निर्बंध-भोगका ऐसा ही भीषण फल होता है। भोगवादी केवल सुखका संग्रह करता है। और, उसीका भोग करता है। यही कारण था कि देव सृष्टि में :—

सुख, केवल सुखका वह संग्रह
केन्द्रीभूत हुआ इतना
छायापथमें नव तुषार का
सघन मिलन होता जितना।

सब कुछ थे स्वायत्त, विश्व के
बल वैभव, आनन्द अपार;
उद्वेलित लहरों सा होता, उस
समृद्धिका सुख-संचार

भोगी भोगको छोड़कर अन्य सभी कुछकी उपेक्षा करता है। भोग ही उसका लक्ष्य होता है। इसी तथ्यको लक्ष्य करके मनु कहते हैं :—

"अरी उपेक्षा भरी अमरते
री अतृप्ति निर्बाध विलास
द्विधा-रहित अपलक नयनोंकी
भूख भरी दर्शनकी प्यास।

एक-एक करके मनु देव-जीवनकी वासना-क्रीड़ाओंके चित्र खींचते और उनकी निस्सारताका उद्घोष करते जाते हैं। वे सारी क्रियाएँ अब सर्वदाके लिए नष्ट हो चुकी हैं :—

बिछुड़े तेरे सब आलिंगन,
पुलक स्पर्शका पता नहीं
मधुमय चुम्बन कातरताएँ
आज न मुखको सता रहीं
× × ×
अब न कपोलोंपर छाया सी
पड़ती मुखकी सुरभित भाप
भुज मूलोंमें, शिथिल वसनकी
व्यस्त न होती है अब माप।"
× × ×
वह अनंग पीड़ा अनुभव सा
अंग - भंगियों का नर्तन
मधुकरके मरंद उत्सव सा
मदिर भावसे आवर्तन
सुरा सुरभि मय वदन अरुण वे
नयन भरे आलस अनुराग,
कल कपोल था जहाँ बिछलता
कल्पवृक्षका पीत पराग।
विकल वासनाके प्रतिनिधि वे
सब मुरझाये चले गये
आह, जले अपनी ज्वालासे,
फिर वे जलमें गले, गये।

स्पष्ट है कि इन चित्रोंमें मनुने देवासुरोंकी विकृत भोगवादी काम-भावनाके भीषण परिणामकी ओर संकेत किया है। भोगवादी काम अग्निकी ज्वालाके समान ही होता है; वह अपने आधारको ही जलाता रहता है। और एक दिन उस आधारके सम्पूर्ण विनाशके साथ ही स्वयं अमूर्त, निराधार, हो जाता है। देव "वासनाके प्रतिनिधि थे।" अपनी काम-ज्वालामें जलते रहे, और फिर प्रलयमें सर्वदाके लिये समाप्त हो गये। और, काम भी अनंग हो गया।

(३) इसी विकृत भोगवादी कामसे सम्बन्धित प्रलयका एक अन्य कारण भी था जिसकी ओर मनुका ध्यान गया। यह है देवासुर संस्कृतिमें 'हिंसातिरेक'। यज्ञमें अपने स्वार्थके लिए निर्दोष पशुओंकी बलि दी जाने लगी थी। जैसा कि मैं आगे चलकर इस तथ्यकी ओर पाठकोंका ध्यान आकर्षित करूँगा कि विशुद्ध अर्थमें 'यज्ञ' हिंसा-रहित हुआ करते थे। बादमें भोगवादियोंने उसमें पशु-बलिका योग कर दिया। देवासुर-सृष्टिमें भोग-प्रवृत्तिने हिंसा और यज्ञको एक साथ कर दिया था। मनुने इस त्रुटिकी ओर संकेत करते हुए कहा :—

देव-यजनके पशु यज्ञोंकी
यह पूर्णाहुतिकी ज्वाला
जलनिधिमें बन जलती कैसी
आज लहरियोंकी माला।
उनको देख कौन रोया यों
अन्तरिक्षमें बैठ अधीर
व्यस्त बरसने लगा अश्रुमय
यह प्रालेय हलाहल नीर।

अपने भोगके लिये अन्यकी हिंसा करना 'वासना'के विकृत होनेका प्रमाण है। विकृत काम हिंसाको जन्म देता है; इसीलिये विवेकवान व्यक्ति इस कामकी निन्दा करते हैं।

\+ + +

निष्कर्ष

अब तक हमने 'चिन्ता' सर्गका जो अध्ययन किया, उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि देवासुर-सृष्टिके विनाशके कारण हैं :—

(१) अद्वैत परमसत्ता, विश्वके निमित्त-कारण और उपादान परम तत्व,में अविश्वासका होना; अहम् और इदम् (शेष विश्व)के समन्वयकी अनुभूतिका अभाव; तथा उसके परिणामस्वरूप अपनेको अधिकारी, आराध्य, भोक्ता और अन्योंको अधिकृत, आराधक, भोग्य स्वीकार करनेकी भावना। (तात्पर्य यह कि अद्वैतकी नहीं, वरन् द्वैतकी अनुभूति प्रलयका कारण है।)

५(२) द्वैतकी इस अनुभूतिमें, परमसत्ताके अहम् और इदम् समन्वित विश्व रूप की अनुभूतिके अभावसे, कामका विकृत भोगवादी हो जाना; इस भोगमूलक (या अहम् मूलक) काम-अग्निकी निर्बाध ज्वलनशील प्रवृत्तिकी, अपने आधारको ही निःशेषतः समाप्त करनेकी, अनिवार्य गति।

\+ \+ \+

प्रलयके रूपमें प्रकृतिके कोपका फल यह हुआ कि 'अमरता'परसे मनुका विश्वास उठ गया; क्योंकि उन्होंने अपनी आँखोंसे मृत्युको, कालको, सर्वप्रबल रूपमें देख लिया। अतएव उन्हें मृत्यु चिरतन सत्यके रूप मे ज्ञात हुई :—

मृत्यु, अरी चिर-निद्रे, तेरा
अंक हिमानी सा शीतल
तू अनन्तमें लहर बनाती
काल-जलधि की सी हलचल

\+ \+ \+

अंधकारके अट्टहास सी
मुखरित सतत चिरंतन सत्य
छिपी सृष्टिके कण-कणमें तू
यह सुन्दर रहस्य है नित्य।

और, प्रलय जन्य इस कटु अनुभवने उन्हें यह कहनेके लिये विवश कर दिया कि :—

मौन, नाश, विध्वंस अंधेरा
शून्य बना जो प्रकट अभाव
वही सत्य है, अरी अमरते,
तुझको यहाँ कहाँ अब ठाँव।

मौन, नाश और शून्यको ही सत्य माननेपर इसके अतिरिक्त मनु और क्या सकते थे कि '—

"विस्मृति आ, अवसाद घेर ले
नीरवते बस चुप कर दे
चेतनता चल जा, जड़ता से
आज शून्य मेरा भर दे।"

अथवा,

"आज अमरता का जीवित हूँ
मैं वह भीषण जर्जर दम्भ,

आह सर्गके प्रथम अंक का
अधम पात्रमय-सा विष्कम्भ।"

अवसादकी इस स्थितिके साथ ही 'चिन्ता' सर्गका उपसंहार होता है। मनुके शब्द निर्जनतामें तिरोहित थे। परन्तु प्रलय निशाकी समाप्तिका सवेरा भी प्रस्तुत था —

वाष्प बना उजड़ा जाता था
या वह भीषण जल-संघात
सौर चक्रमें आवर्तन था
प्रलय निशाका होता प्रात।

+ + +

एक विचारणीय प्रश्न

श्री मुक्तिबोधजी लिखते हैं "उसको (मनुको) दुःख इस बातका है कि अनंग पीड़ा-अनुभव-जैसा अगभंगियोंका नर्तन अब लुप्त हो गया, उसकी मूल निराशाका यही केन्द्र है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे, मनुकी इतनी घोर निराशाका मूल कारण, उसकी विद्यमान स्थितिमें, केवल अपनी निःसंग असहायता न होकर, उस प्राचीन सुखका लोप है जो देव जातिके नष्ट हो जानेके साथ ही नष्ट हुआ। 'अभाव दुःखोंके पीछे, मनुकी देव सहज-वासना, सुख-लोलुपता भी छिपी हुई है।"

यह कहना तो ठीक ही है कि अपने प्रलय पूर्व जीवनके सुख-वैभवके लुप्त हो जानेपर, तथा जल प्लावनकी विभीषिकाके साक्षात्कारके उपरान्त ही मनुमें निराशा, घोर वेदना, भर उठी। यह काव्यवर्णित तथ्य ही है। कविने यही स्थापित भी करना चाहा है। परन्तु इसके आधारपर यह निष्कर्ष निकालना गलत होगा कि मनुके मनमें उस समय देव-सहज वासना, सुख लोलुपता भी छिपी हुई थी, या वे उसी पूर्व-सुखको पानेके लिए तड़प रहे थे। समीक्षा करते समय काव्य वर्णित परिस्थितियोंका मनमाना अर्थ लगाना ठीक नहीं होता।

हमने अपने उपर्युक्त अध्ययनमें देखा कि मनुको अमर-जीवन, देव-जातिके विलासपूर्ण जीवन, के खोखलेपनका पूरा-बोध हो चला था। प्रलयने उन्हें यह अनुभूति प्रदान कर दी कि 'निबाध विलास' या निर्बाध-असंयमित, काम भोग अपने आधार को ही ले डूबता है। वास्तवमें प्रलयके कारण मनुमें इस प्रकारके असंयत जीवनके प्रति जुगुप्सा उत्पन्न हो उठी थी, न कि स्पृहा। उन्होंने प्रलयके कारणोंकी जो समीक्षा की है, या देव सृष्टिकी जिन प्रलयकारी त्रुटियोंकी ओर संकेत किया है, (जिनकी चर्चा की जा चुकी है) उनकी ध्वनिको समझनेवाला कोई भी व्यक्ति मुक्तिबोधजीके उपर्युक्त आक्षेपको निराधार ही ठहरायेगा।

यह प्रसंग मैंने केवल इसलिए नहीं उठाया कि मुझे उपर्युक्त मतका निराकरण करना था। वह भी एक प्रयोजन था, क्योंकि इस गलत विवेचनाका परिणाम कामायनीके सम्यक् अनुशीलनमें बाधक होगा। यदि उपर्युक्त गलत निष्कर्षको हम मान

लेंगे तो उसका क्या प्रभाव पड़ेगा, इसे भी थोड़ा देख लीजिये। वैसी स्थितिमें मनुको हमारी सहानुभूति न मिलेगी। इतनी गहरी चोट खाकर भी, इस भयंकर परिस्थितिमें असहाय रहकर भी, यदि मनु उसी कुत्सित देव-जीवनकी इन्द्रिय लिप्साके लिए ही तड़पते हैं, तो निश्चित ही वे हमारी वितृष्णाके पात्र होंगे, न कि सहानुभूतिके।

परन्तु 'चिन्ता' सर्गमें कविने मनुके प्रति पाठकोंकी सहानुभूति जाग्रत करनेका ही प्रयत्न किया है। एक ओर तो उसने उन भयंकरताओंका चित्रण किया है जिसमें मनु असहाय पड़े हुए थे, और दूसरी ओर मनुके द्वारा उसने प्रलय पूर्वके देव-जीवनकी वस्तुपरक भर्त्सना करनेवाली समीक्षा करायी है। भीषण विनाशके आतङ्कसे कराहता हुआ कोई व्यक्ति जब अपने बीते जीवनकी, उसकी त्रुटियोंके कारण, विगर्हणा करके पश्चात्ताप करने लगता है, तब सहृदयोंका द्रवित हो जाना प्राकृतिक ही है। 'चिन्ता कातर' मनुके ग्लानिपूर्ण उद्गार हममें मनुके प्रति दयाका भाव उत्पन्न करनेमें समर्थ हैं।

इसी तथ्यकी ओर ध्यान आकृष्ट करनेके लिए मैंने इस प्रसंगको उठाना ठीक समझा। जो इस बातको सम्यक् रूपसे ग्रहण न करेगा कि मनुको देव जीवनकी विकृत काम भोग भावनाके प्रति अनुरक्ति नहीं, वरन् विरक्ति थी, और मनुके साथ इस स्थल-पर जिसका दया या सहानुभूतिका सम्बन्ध न हो पायेगा अर्थात् जो इस स्थलपर मनुसे 'सहृदय' (समान हृदयवाला) न हो पायेगा, वह 'कामायनी' को समझनेमें कई स्थलोंपर भूल कर सकता है जिनकी विवेचना मैं 'रस विमर्श' के अवसरपर करूँगा। काव्यके अध्ययनमें थोड़ी भी अनवधानता अध्येताको उचित मार्गसे हटा ले जाती है। आरम्भकी अनवधानता (या 'असहृदयता') तो प्रस्थान भेद ही उपस्थित करेगी, फिर तो गन्तव्य भी भिन्न होकर ही रहेगा।

× × ×

उपलब्धि

'चिन्ता' सर्गके अध्ययनकी उपलब्धिके रूपमें हमारे हाथ यह लगा कि (१) मनुको देवोंके 'स्वयं देव' होनेके मिथ्या अहम्का बोध हो गया, और उन्हें प्रकृति शक्तिकी दुर्जेयताकी अपरोक्ष अनुभूति मिली, (२) देवासुर सृष्टिकी द्वैतमूलक (भोग वादी) काम भावनाको उन्होंने प्रलयका कारण माना, (३) और इस सर्गने पाठकको मनुके साथ 'सहृदय' होनेकी सफल भूमिका निर्मित की।

'टिप्पणी' के रूपमें अब अन्तिम निवेदन यह है कि मनुके द्वारा जिन उपर्युक्त दो मान्यताओंकी स्थापना इस सर्गमें की गई है, वह वस्तुतः प्रलय घटनाकी 'प्रसाद' द्वारा की गई समीक्षा है। 'आमुख' की चर्चाके अवसरपर प्रसादजीका यह वाक्य उद्धृत किया गया है कि "आज हम सत्यका अर्थ घटना कर लेते हैं। तब भी उसके तिथि क्रमसे सन्तुष्ट न होकर, मनोवैज्ञानिक अन्वेषणके द्वारा इतिहासकी घटनाके भीतर कुछ देखना चाहते हैं। उसके मूलमें क्या रहस्य है? आत्माकी अनुभूति! हाँ, उसी

भावके रूप-ग्रहणकी चेष्टा सत्य या घटना बनकर प्रत्यक्ष होती है।" जल प्लावनकी घटना कब हुई, इससे कविका कोई प्रयोजन नहीं है। 'मनोवैज्ञानिक अन्वेषणके द्वारा' उसकी कल्पनाने 'इतिहासकी (उस) घटनाके भीतर' अवस्थित उस 'भाव' या 'आत्माकी अनुभूति' को देखना चाहा है जिसने 'रूप-ग्रहणकी चेष्टा' ही वह 'घटना (अर्थात् जल प्लावन) बनकर प्रत्यक्ष' हुई।

यदि यह मेरी टिप्पणी ठीक है, तो मुझे यहींपर यह भी कह देना आवश्यक लग रहा है कि प्रसादजीकी मान्यता यह है कि 'विकृत द्वैतमूलक (भोगवादी) काम' तथा उसके मूल कारण स्वरूप अद्वैत, 'परमसत्ता' के अहम् इदम् समन्वित रूपकी अबोधता (या विश्वासहीनता) का, विनाशके अतिरिक्त और कुछ परिणाम नहीं हो सकता है। सृष्टिकी जीवन शक्ति इसके विपरीत तत्त्वोंको पानेकी चेष्टा करती है। जल प्लावन उसी चेष्टाका मूर्त रूप है। यदि उसे देवोंकी द्वैतमूलक अन्ध काम-भावना और अद्वैत परमसत्ताके प्रति विश्वासहीनता ही अभीष्ट होती तो उस सृष्टिको नष्ट करनेकी आवश्यकता उसे न पड़ी होती।

हमे इस प्रश्नको उठानेकी न आवश्यकता है और न अधिकार, कि प्रलयकी घटनाकी यह प्रसादीय समीक्षा ठीक है या गलत; क्योंकि इसका उत्तर गणितके प्रश्नके उत्तरके समान एक ही नहीं हो सकता। कोई इसे आकस्मिक घटना ही मान सकता है; और उसे भी हम गलत नहीं कह सकते। प्रसादकी बातको भी हम गलत नहीं कह सकते। क्योंकि श्रुति पुराण वर्णित देव-जीवन वास्तवमें उन त्रुटियोंसे दूषित था जिनकी ओर प्रसादजीने संकेत किया है। अतएव उनकी कल्पनाका भी आधार था। सृष्टि विकासकी जो विवेचना पुराणोंमें मिलती है, प्रसादजीने उसे भी स्वीकार किया है, डार्विनके विकासवाद या ऐसे ही अन्य विकास मतोंको उन्होंने आधार नहीं बनाया है। हमें इस बातसे मतलब नहीं है कि विकास विषयक कौन-सा मत ठीक है। हमें केवल यह देखना है कविने जिस आधारको चुना है, उसके द्वारा उसने क्या उपलब्ध किया है। उस उपलब्धिकी ओर ऊपर संकेत किया जा चुका है। आगे चलकर हमें इसकी जरूरत पड़ेगी, अतः इसे स्मृतिमें बराबर बनाये रखना चाहिये।

× × ×

'आशा' सर्ग

यह सर्ग एक भिन्न संसार लेकर प्रस्तुत हुआ है। प्रलय निशा बीत गई; और इसके पूर्व प्रकृतिका रूप जितना ही विकराल था, वह अब उतना ही शोभन हो उठा। चारों ओर सौन्दर्यकी व्याप्ति हो चली; वातावरण और परिवेश सहसा रमणीय तथा उत्साहवर्धन हो गये :—

यह विवर्ण मुख त्रस्त प्रकृति का
आज लगा हँसने फिर से
वर्षा बीती हुआ सृष्टि में
शरद विकास नये सिर से।
नव कोमल आलोक बिखरता
हिम संसृति पर भर अनुराग
सित सरोज पर क्रीड़ा करता
जैसे मधुमय पिंग पराग।"

कालागत विभीषिका और चरम रम्यताकी संधि रहस्य-भावनाकी जननी होती है। जिसकी आँखोंके सामने अपनी सम्पूर्ण शून्यता, विषाद, लेकर पतझड खड़ा हो, वह सहसा वसन्तके सम्पूर्ण उल्लास, कलरव, कान्तिसे दीपित सुरभि-संभारको देखकर हैरान नहीं तो और क्या होगा ? उसके अन्तरमें रहस्यकी तीव्र, घनी, अनुभूति जगकर ही रहेगी। मनुका चित्त इसी अनुभूतिकी जिज्ञासासे बोल उठा :—

"'कौन' ? हुआ यह प्रश्न अचानक
और कुतूहल का था राज।"

और उसका यह पूछना प्राकृतिक था कि :—

"विश्व देव सविता या पूषा
सोम मरुत चंचल पवमान
वरुण आदि सब घूम रहे हैं
किसके शासनमें अम्लान ?
किसका था भ्रू-भंग प्रलय सा
जिसमें ये सब विकल रहे
अरे, प्रकृति के शक्ति-चिह्न ये
फिर भी कितने निबल रहे।
देव न थे हम और न ये हैं
सब परिवर्तन के पुतले
हाँ कि गर्व-रथ में तुरंग-सा
जितना जो चाहे जुत ले।"

इन पंक्तियोंपर ध्यान देनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि सुन्दरताके इस सभारको प्रलय विनाशके उपरान्त इस परिवर्तित रमणीय दृश्यको, देखकर मनुके मनमें यह स्थिर हो गया कि सविता, पूषा, मरुत, वरुण आदि प्रकृतिके शक्ति-चिह्न अत्यन्त निर्बल हैं और किसी नियामकके शासनमें कार्यरत रहते हैं। ये वास्तवमें 'देव' नहीं हैं। 'देव न थे हम' इसकी अनुभूति तो मनुको पहले ही हो चुकी थी, परन्तु प्रकृतिकी दुर्बलता उन्हें मान्य थी। उन्हें अब यह प्रतीत होने लगा कि प्रकृतिके शक्ति-चिह्न-रूप ये देव सबल नहीं, वरन् अत्यन्त निर्बल हैं। कहनेका आशय यह है कि मनुने, चिन्ता सर्गमें, प्रकृति-

को सर्वोपरि सत्ता समझा था, पर अब उन्हें प्रकृतिसे परे किसी परोक्ष सत्ताका आभास होने लगा। प्रकृतिके शक्ति चिह्न, अर्थात् प्रकृति-शक्तिके विविध देव-रूप, मनुको निर्बल लगे। अतः अब प्रकृतिवाद और बहुदेव भावनाके स्थानपर 'एकेश्वर' या 'एकदेव'की भावना मनुके भीतर उभर आई। मनुको प्रकृतीतर सत्ताका आभास होने लगा। बताया जा चुका है कि सुरासुर जीवन-दर्शन प्रकृतिकी सीमा लाँघ नहीं सका था। पहली बार मनुने इस सीमासे अतीत अन्य सत्ताका संकेत ग्रहण किया।

कहा जा चुका है कि अपने 'रहस्यवाद' नामक निबन्धमें प्रसादजीने माना है कि आदिम बहुदेवोपासनाके उपरान्त 'एकेश्वरवाद' और 'आत्मवाद'की दार्शनिक मान्यताएँ स्थापित हो चलीं। इस स्थलपर मनुमें, परिस्थितियोंके कारण 'एकेश्वरवाद'का भाव उठा (आत्मवादकी उपलब्धि अभी दूरकी चीज थी)।

"महा नील इस परम व्योम में
अन्तरिक्ष में ज्योतिर्मान
ग्रह नक्षत्र और विद्युत्कण
किसका करते से संधान

× × ×

हे अनन्त रमणीय कौन तुम
यह मैं कैसे कह सकता
कैसे हो ? क्या हो ? इसका तो
भार विचार न सह सकता।

× × ×

"हे विराट, हे विश्व देव, तुम
कुछ हो ऐसा होता भान"
मंद गंभीर धीर स्वर संयुत
यही कर रहा सागर गान।

अन्तकी दो पंक्तियोंकी ध्वनि यह है कि प्रलय समुद्रने, जिसने पहले तो सब कुछ नष्ट कर दिया था और बादमें जो स्वयं संकुचित होकर पृथ्वीके सौन्दर्य विकासके लिए पुनः अवसर प्रदान करने लगा था, यह संकेत मिल रहा था कि जिस परम शक्तिका 'भ्रूभंग' प्रलयके रूपमें दिखायी पड़ा था, वह रमणीय भी है। विनाश और सृजन दोनों उसके संकेतसे ही होते हैं। उसीके संकेतपर समुद्रमें मर्यादाहीनता उत्पन्न होकर सबका नाश कर गयी, और उसीकी इच्छासे वह प्रलय समुद्र अब संकुचित होने लगा। अब तक मनुके सम्मुख उस शक्तिकी अभिव्यक्ति मौन, नाश, विध्वंस और 'अन्धेरा'में ही हुई थी; परन्तु अब मनुको उस शक्तिके उल्लास, सृजन, जीवन एवं कान्तिसे परिपूर्ण रूपका प्रत्यक्ष अनुभव होने लगा। मनुके चतुर्दिक :—

"जीवन जीवन की पुकार है
खेल रहा है शीतल दाह।"

इस परिस्थितिमें मनु भी कह उठे :—

"यह संकेत कर रही सत्ता
　　किसकी सरल विकासमयी
जीवन की लालसा आज क्यों
　　इतनी प्रखर विलास मयी ?"

×　　×　　×

"तो फिर क्या मैं जिऊँ और भी—
　　जीकर क्या करना होगा"

और फिर वे,

"उस एकान्त नियति शासन में
　　चले विवश धीरे धीरे
एक शान्त स्पन्दन लहरों का
　　होता ज्यों सागर तीरे ।"

इस प्रकार मनु 'प्रखर विलासमयी' 'जीवनकी लालसा'के उद्वेलनके कारण जीवनमें प्रवृत्त तो हुए, परन्तु उन्हें न तो गन्तव्यका बोध था और न उनके सामने कोई निर्दिष्ट मार्ग था। अतएव यन्त्रवत्, सागरके किनारेपर होनेवाले लहरोंके स्पन्दनकी-सी शान्त, गतिसे उनका जीवन अग्रसर हुआ। उस जीवनमें निजी स्वतन्त्र क्रियाशीलताका अभाव था। मानो किसी अज्ञात शक्तिके संकेत और प्रेरणासे वे निष्क्रियता के साथ चलने लगे।

प्रकृतिका छवि सभार बढ़ता रहा। उल्लास, दीप्ति और आनन्दसे सपूरित प्रकृति सम्पदाका क्षण क्षण नवोन्मेष होने लगा, प्रकृति-सुन्दरी निरावृता हो उठी, —

एक यवनिका हटी पवन से
　　प्रेरित माया पट जैसी,
और आवरण मुक्त प्रकृति थी
　　हरी भरी फिर भी वैसी।
स्वर्ण शालियों की कलमें थीं
　　दूर-दूर तक फैल रहीं
शरद इंदिराके मन्दिरकी
　　मानो कोई गैल रही।

×　　×　　×

अचल हिमालय का शोभनतम
　　लता कलित शुचि सानु शरीर
निद्रा में सुख स्वप्न देखता
　　जैसे पुलकित हुआ अधीर।
उमड़ रही उसके चरणों में
　　नीरवता की विमल विभूति

शीतल झरनों की धाराएँ
बिखरातीं जीवन अनुभूति···(आदि)।

× × ×

यज्ञ-प्रेरणा

मनु सुरासुर मतों (विज्ञानवाद और प्राणवाद)को निष्फल, अशिव ठहरा चुके थे। अतएव जीवनके किसी अन्य निर्दिष्ट लक्ष्यके अभावमें उनके लिए जीवन-यात्राका केवल एक मार्ग था। जिस देव-संस्कृतिमें वे पले थे उसके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकार-की संस्कृति उनके लिए अज्ञात थी; और इधर नियतिने संसार-चक्रका नूतन संचालन प्रारम्भ कर दिया था जिसके आगे विवश होकर चलनेके लिए वे बाध्य थे। अतएव उन्होंने स्वभावतः देव-संस्कृतिके सर्वाधिक उदात्त मार्गका ही अवलम्ब लेना कल्याणकर समझा। इस समय देवोंकी उद्दाम वासनाके मनुमें उभरनेका अवसर था ही नहीं। अस्तु,

उन्होंने केवल 'तप'-कार्यमें, यजन-कार्यमें, अपनेको प्रवृत्त किया; और यही वे कर भी सकते थे। संयोगसे देव-यज्ञकी अग्नि उनके पास ही जल रही थी; इस समय वह 'शक्ति और जागरण चिह्न-सी' धधकने लगी थी। मनुको मानो एक जीवन-मार्ग मिल गया:—

"पहला संचित अग्नि जल रहा
पास मलिन द्युति रवि-कर से
शक्ति और जागरण चिह्न-सा
लगा धधकने अब फिर से
जलने लगा निरन्तर उनका
अग्निहोत्र सागर के तीर
मनु ने तप में जीवन अपना
किया समर्पण होकर धीर।
सजग हुई फिर से सुर-संस्कृति
देव-यजन की वर माया
उनपर लगी डालने अपनी
कर्ममयी शीतल छाया।"

× × ×

यह अन्तिम उद्धरण 'कामायनी' काव्यके सम्यक बोधके लिए अत्यधिक महत्त्व-पूर्ण है। मैं कई स्थलोंपर इसके महत्त्वकी ओर संकेत करूँगा। पाठकोंसे निवेदन है कि वे इसे निरन्तर (प्रस्तुत ग्रन्थ के अनुशीलनके अवसरपर) स्मरण रखें। संक्षेपमें इस उद्धरणका अभिप्राय यही है कि मनुके भीतरसे (उनके अचेतन मनसे) देव-संस्कृति, जो

परिस्थितियोंके कारण वासना (संस्कार)ने रूपमें कुछ कालके लिए तिरोहित हो गई थी, अब उभरने लगी थी और उसके सहज उभारके कारण मनु 'कर्म'में प्रवृत्त हो उठे।

अब समझिये, 'कर्म'का यहाँ क्या अर्थ है, और 'कर्ममयी शीतल छाया'का क्या आशय है ? कवि यह बताना चाहता है कि देव-संस्कृतिमें 'सकाम कर्म'की प्रमुखता थी। यज्ञादि 'कर्म' किसी-न-किसी फलकी प्राप्तिके लिए किये जाते थे। इस प्रकार, व्यापक अर्थमें 'कर्म'की अर्थ-परिधिमें वे सारे तन्त्र आ जाते हैं जिन्हें अभीप्सित वस्तुकी प्राप्ति निमित्त मनुष्यकी बुद्धि उत्पन्न करती रहती है। बताया जा चुका है कि सुर-जाति का जीवन-दर्शन बुद्धिवादी (या अहवादी) था; अतएव उसमें व्यक्ति भावनाका प्रधान हो उठना स्वाभाविक था। सुखका, व्यक्तिगत सुखका संग्रह उसका लक्ष्य रहा; उसके लिए नानाविध तन्त्रोंकी सृष्टि की गई। 'ब्राह्मण'-कालमें जिस यज्ञ प्रधान कर्म काण्डका पता, वैदिक साहित्यसे, प्राप्त होता है, वह सुर-संस्कृतिका एक प्रकारसे पुनरुत्थान ही था। आरम्भमें देवताओंको प्रसन्न करनेके लिए यज्ञ किये जाते थे, देवताके प्रसन्न हो जानेपर वाछित वर पाया जाता था; पर आगे चलकर यह दशा हो गई कि यज्ञ (या 'कर्म') ही प्रधान हो उठा। यह माना जाने लगा कि यदि 'यज्ञ' सम्यक् रीतिसे सम्पन्न हो गया, तो देवताकी प्रसन्नता और वाछित फल अनिवार्य रूपसे उपलब्ध होंगे। यज्ञ-देवकी प्रतिष्ठा हो चली। विभिन्न प्रकारके फलोंके लिए विभिन्न प्रकारके यज्ञ विधान निश्चित किये गये। वाछित फल प्रदान करनेके कारण ये 'कर्म' सुर जातिके लिए 'शीतल छाया'के समान ही सुखद थे। जिस प्रकार 'शीतल छाया'में थके व्यक्ति अलक्षित होकर रुक जाते हैं, उसी प्रकार सुर-संस्कृति इसी 'कर्म'की छायामें रुक गई, उसीको परम श्रेय मानकर।

फिर भी, 'तप'का जीवन देव-संस्कृतिका उदात्त अंश था। 'शतपथ ब्राह्मण'में कहा गया है कि "अपने तपाचरणके कारण ही देव प्रजापतिको प्रिय थे। एक बार प्रजापतिके देव असुर दोनों पुत्रोंमें झगडा हुआ। असुर अत्यधिक अभिमानी थे। उनका कहना था कि हमें औरोंकी क्या परवाह है। इसलिए वे अपने मुँहमें ही आहुतियाँ डालने लगे। अपने इस अभिमान और घोर स्वार्थपरताके कारण वे परास्त हो गये। देवता लोग अपने मुँहमें आहुतियाँ न डालकर एक-दूसरेके मुँहमें डालने लगे। प्रजापति उनकी इस परार्थ भावनासे प्रसन्न हो गये, और उनका यज्ञ पूर्ण हुआ, वे विजयी हुए। इसलिए अभिमान नहीं करना चाहिये, यही पराजयका मूल कारण है।"

इससे यह पता चलता है कि प्रारम्भमें तप निरत, यज्ञ-कर्म प्रवृत्त, देवताओंमें परार्थ भावना थी। यह उनके 'तप'मय जीवनका अविच्छिन्न अंग था। इसीके कारण असुरोंकी अपेक्षा उनकी प्रतिष्ठा अधिक थी। केवल कालान्तरमें उनपर भोगातिरेक छा गया और सुर जाति प्रतिष्ठा खो बैठी। मनुमें, तप निरत होनेपर, इसी परार्थ-भावनाकी उत्पत्ति होती है। दुःखसे अभिभूत होनेपर अब वे सहानुभूतिका महत्त्व समझने लगे थे। यज्ञका अवशिष्ट अन्न वे कहीं दूर रख आते रहे, इसलिए कि यदि कोई प्राणी बचा हो तो उससे उसकी भूख भी शान्त होगी :—

तप में निरत हुए मनु नियमित
कर्म लगे अपना करने
विश्व रंग में कर्म जाल के
सूत्र लगे घन हो घिरने।

× × ×

और सोचकर अपने मन में
जैसे हम हैं बचे हुए
क्या आश्चर्य और कोई हो
जीवन लीला रचे हुए।
अग्निहोत्र अवशिष्ट अन्न कुछ
कहीं दूर रख आते थे
होगा इससे तृप्त अपरिचित
समझ सहज सुख पाते थे।
दु:ख का गहन पाठ पढ़कर अब
सहानुभूति समझते थे
नीरवता की गहराई में
मग्न अकेले रहते थे।

मनु यज्ञ-अग्निके पास बैठे-बैठे बराबर चिन्तन किया करते थे। यद्यपि वे तप-निरत थे; फिर भी उनका हृदय अनिष्टकी आशंकासे या इस भयसे कि न जाने क्या होनेवाला है, निरन्तर धड़का करता था। और, इस प्रकार उनका अस्थिर-जीवन प्रतिक्षण वेदनाभिभूत होता रहा। उनके सामने नित्य नवीन प्रश्न खड़ा होता, भविष्य 'अन्धकारकी माया'से आच्छादित रहा। मनु कुछ समझ नहीं पा रहे थे। उनके प्रत्येक प्रश्नका उत्तर अर्द्ध-प्रस्फुटित ही होता। दूसरी ओर प्रकृति थी, जो पूर्ण 'सकर्मक' थी। उसकी प्रेरणासे :—

"निज अस्तित्व बना रखने में
जीवन आज हुआ था व्यस्त।"

× × ×

वासना

जीवन-मार्गमें चाहे कोई तपके सहारे प्रवृत्त हो या 'भक्ति'के, वासनाका उसमें जाग्रत होना प्राकृतिक है। वासना प्रकृतिका प्रथम और चिरन्तन स्पन्दन ही तो है। वह जीवनसे अविच्छिन्न होती है। वासना विरहित जीवन शून्य है, मृत है, जड़ है या केवल चेतन है। मनुके उस तप-कान्त जीवनमें इसकी स्फुरणा भी उपयुक्त अवसर पाकर उत्पन्न हो चली। जल प्लावन-जन्य विनाशका दृश्य बहुत पहले समाप्त

हो चुका था; और उसके स्थानपर छवि, सौरभ, गौरव, स्फूर्ति और उल्लाससे सम्पृक्त यौवना-प्रकृति पूर्ण निखारपर थी। इसलिए मनुमें 'चिन्ता'के स्थानपर 'आशा'का संचार हो चुका था।

आशा, वासनाका उल्लास होती है और उसका विभाव भी। वासनाके उत्पन्न होते ही हम उसकी तृप्तिकी आशा करते हैं, यही वासनाका उल्लास है; और वासनाके तृप्त होनेकी आशा जब हमें होती है तब हमारी दबी हुई वासना भी भभक उठती है। अतएव आशा और वासनामें अन्योन्याश्रय सम्बन्ध होता है। वासना जीवनसे अभिन्न और आशा वासनासे अभिन्न होती है। इसीलिए कहा जाता है कि जबतक 'साँस तबतक आशा', या 'आशा ही जीवन है'। मनुके मनमें 'आशा', जीवनमें कुछ अच्छा होनेकी आशा के उत्पन्न होनेपर वासना भी उभर उठी; और यह नितान्त प्राकृतिक एवं यथार्थ था :—

नव हो जगी अनादि वासना
मधुर प्राकृतिक भूख समान
चिर परिचित सा चाह रहा था
द्वन्द्व, सुखद करके अनुमान

× × ×

तप से संयम का संचित बल
तृषित और व्याकुल था आज
अट्टहास कर उठा रिक्त का
वह अधीरतम सूना राज।

× × ×

मनु का मन था विकल हो उठा
संवेदन से खाकर चोट।
संवेदन, जीवन जगती को
जो कटुता से देता घोट।"

सुषमाके भव्य समारोहमें तप-संयमी मनुको अपने हृदयकी रिक्तताका बोध हो चला। एकाकी जीवन रिक्त नहीं तो और क्या होता है? उनकी वासना, प्राकृतिक भूख, अपनी संतृप्ति चाह रही थी। इसके लिए 'द्वन्द्व' (दो का होना आवश्यक है। इसलिए आज मनुकी वासना 'द्वन्द्व'को सुखद मानकर उसे चाह रही थी। वह चाहती थी कि उसे कोई ऐसा साथी मिले जो जीवनकी उस शून्यताको दूर कर दे।

उपर्युक्त अन्तिम चार पंक्तियोंमें कविने एक महत्त्वपूर्ण मनोवैज्ञानिक तथ्य प्रस्तुत किया है। 'संवेदन'का अर्थ है इन्द्रिय-बोध शक्ति। बाह्य वस्तुके सपर्कमें आनेपर हमारी इन्द्रियोंकी जो प्रतिक्रिया होती है, उसीको संवेदन (Sensation) कहते हैं। इसका प्रभाव हमारे मन, हृदयपर पड़ता है, जिसके कारण हम उस वस्तुके प्रति राग या विरागसे अभिभूत होते हैं। यदि उस वस्तुको पाना या छोड़ना अपने वशका होता

है तब तो हमें सुख मिलता है, परन्तु यदि वह अपने वशका कार्य न हो तब जीवन दु:खसे भर उठता है।

शिशुओंमें यह संवेदन शक्ति केवल सहज, प्रकृति-जन्य, होती है। किन्तु बड़े होनेके साथ ही मनुष्यमें इस सहज संवेदन-शक्तिमें चिन्तनका भी अनिवार्य योग हो जाता है। जो व्यक्ति जितना अधिक चिन्तनशील होता है उसकी संवेदनामें चिन्तनका उतना ही अधिक योग होगा और वह उसी मात्रामें अधिक सूक्ष्म एवं जटिल होगी। स्थूल या सहज संवेदन शक्तिसे ही परिचालित होनेके कारण शिशु अपने जीवनके अभावोंको समझ नहीं पाते हैं, परन्तु बड़े होनेपर वे उन्हें समझने लगते हैं और उन्हें दूर करनेका संघर्ष भी करते हैं। यही संवेदन और हृदयका संघर्ष है। इससे जीवन विकल हो उठता है। संवेदनशील हृदय कुछ चाहता है; पर जब वह उसे नहीं पाता तो विकल होकर उसे पानेका संघर्ष करता है। अपने अभावोंकी संवेदना जीवनमें संघर्ष, कटुता उत्पन्न करती है। + + + ('संघर्ष' सर्गमें मनुकी प्रजाने उनकी निन्दा करते हुए कहा था —

"हम संवेदनशील हो चले यही मिला सुख
कष्ट समझने लगे बना कर निज कृत्रिम दुख।"

इसलिए मनु सोचते हैं कि यदि संसार इस प्रकारका होता कि व्यक्तिकी सारी कामनाएँ तृप्त होती रहती, तो फिर सुख ही सुख होता। तब तो,

"संवेदन का और हृदय का
यह संघर्ष न हो पाता
फिर अभाव और असफलताओं की
गाथा कौन कहाँ बकता ?"

यहाँपर "संवेदनका प्रयोग अभावकी अनुभूतिके लिए हुआ है, क्योंकि प्रकरण मनुके संवेदनका है। इस समय मनुमें अभावकी ही अनुभूति उत्पन्न हुई थी, और वे इसीकी चोटसे घायल थे, उनका हृदय रिक्त था जिसकी पूर्तिके लिए वह तड़प उठा। हृदय अपनी रिक्तताके बोधसे आज 'द्वन्द्व' चाह रहा था। यही संवेदन और हृदयकी स्पृहाका संघर्ष था।

आचार्य 'शुक्ल'जीने 'हिन्दी साहित्यके इतिहास'में इस 'संवेदन' शब्दको लेकर बड़ी रोचक चर्चा उठाई है। उस विनोदात्मक चर्चाका, कुल मिलाकर, यही निष्कर्ष निकला कि 'संवेदन' एक बोधवृत्ति है। "रहस्यवादकी परम्परामें चेतनासे असंतोषकी रूढ़ि चली आ रही है।" 'प्रसाद', चूँकि, रहस्यवादी थे और रहस्यवादमें चेतनासे असंतोष परम्परागत है, इसलिए उन्होंने 'संवेदन'के प्रति इन पंक्तियोंमें असंतोष व्यक्त किया है। शुक्लजीके अनुसार रहस्यवादको (और रहस्यवादी होनेके नाते 'प्रसाद'को) 'संवेदन, चेतना, जागरण' आदिका परिहार इष्ट है।

'रहस्यवाद'की परिभाषा बनाकर, 'प्रसाद'को उसीकी परिधिमें कस कूसकर, उन्हें चेतना-जागरण-संवेदनसे भागनेकी कामनावाला घोषित करना आश्चर्यजनक

है। रहस्यवादी ही क्या, साधारण व्यक्ति भी जीवनमें कभी-कभी संवेदनाओंसे कराह उठता है। शुक्लजीने उसी स्थलपर 'सर्ग' सर्गके उपर्युक्त उद्धरणको प्रस्तुत करते हुए माना है कि "यह संवेदन शब्द अपने वास्तविक या अवास्तविक दु:खपर कष्टानुभवके अर्थमें आया है।" फिर आचार्यजीने लिखा है कि "असंतोषसे उत्पन्न अवास्तविक कष्ट कल्पनाके दु:खानुभवके अर्थमें ही इस शब्दको जकड़ रखना भी व्यर्थ प्रयास कहा जायगा।"

अपने इस कथन द्वारा शुक्लजीने यह तो मान लिया कि 'संवेदन' शब्दका एक अर्थ "असंतोषसे उत्पन्न अवास्तविक कष्ट-कल्पनाका दु:खानुभव" है। मैंने लगभग इसी अर्थमें इस शब्दको ऊपर समझाया है। परन्तु चूँकि शुक्लजी एक पूर्वाग्रह लेकर चल रहे थे, इसलिए उन्होंने उपर्युक्त कथनके अन्तमें यह बताया कि इसी अर्थमें इस शब्दको जकड़ रखना भी व्यर्थ प्रयास है। हम जानते हैं कि सन्दर्भमें शब्दका अर्थ जकड़ कर रखा जाता ही है। यदि प्रसादने वैसा किया तो उनका क्या दोष!

कुछ विद्वानोंका कहना है कि 'संवेदन' आगम शब्दावलीमें 'आद्यनुभव' अर्थात् प्रथम अनुभवको कहते हैं, और यह 'आद्यनुभव' दु:खानुभव है। अतएव 'संवेदन' शब्दका अर्थ, शैवागमके आलोकमें देखनेपर, 'दु:खानुभव' है। इस विषयमें मेरा निवेदन है कि शैवागममें जिस 'आद्यनुभव'को 'संवेदन' और 'दु:खानुभव' कहा गया है, उसके इस समय मनुमें उठनेका प्रसंग ही नहीं है। वह मनुका प्रथम अनुभव नहीं था। प्रसादके मनु तो पर्याप्त देव विलास कर चुके थे। अतएव मैं यह मानता हूँ कि सन्दर्भ 'संवेदन' शब्दका जो अर्थ ध्वनित कर रहा है और जिसे मैंने ऊपर स्पष्ट कर दिया है, उसे स्वीकार करनेमें कोई कठिनाई नहीं प्रतीत होती है, विवादकी बात दूसरी है।

× × ×

मनुकी वासनाको बाह्य प्रकृति निरन्तर उद्दीप्त करने लगी। बलिष्ठ शरीरकी प्रकृत वासनाके सहज उभारको स्वयं प्रकृति बढ़ाने लगी —

"धीर समीर परस से पुलकित
विकल हो चला श्रान्त शरीर
आशा की उलझी अलकों से
उठी लहर मधुगंध अधीर।"

अर्थात् तप-बलिष्ठ और वासनोद्वेलित मनुका युवक शरीर हवाके मन्द स्पर्शसे शिथिल हो उठा। साथी पानेकी आशामें मनु अधीर हो उठे, ठीक उस प्रकार जैसे किसी युवतीकी गुँथी वेणीके खुल पड़नेसे उसकी मादी सुगंधि पासवालोंको व्याकुल कर देती है। मनुकी अधीरता उन्हींसे सुनिये —

"कब तक और अकेले, कह दो
हे मेरे जीवन बोलो।

किसे सुनाऊँ कथा ? कहो मत
अपनी निधि न व्यर्थ खोलो।"

मनुकी इस मनःस्थितिका बोध कराके वास्तवमें 'आशा' सर्ग समाप्त हो जाता है। यद्यपि इसके उपरान्त भी कविने मनुके कुछ भावात्मक उद्गारोंको प्रस्तुत किया है, परन्तु उनका सम्बन्ध प्रकृतिकी सुन्दरताके निरीक्षणजन्य प्रभावोंसे है, वे भाव प्रवण सौन्दर्य-दर्शनकी अभिव्यक्तियाँ हैं। अतएव काव्य-वस्तुकी विवेचनाके इस प्रसगमें हम उनपर विचार नहीं करेंगे। परन्तु अपनी योजनाके अनुसार, मैं इस सर्गके उपर्युक्त अध्ययनकी कई महत्त्वपूर्ण उपलब्धियोंकी चर्चा करूँगा।

प्रमुख उपलब्धियाँ

(१) सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि यह है कि मनुमें सुर-संस्कृति फिरसे उदय हुई :—

"सजग हुई फिर से सुर-संस्कृति
देव यजनकी वर माया
उन पर लगी डालने अपनी
कर्ममयी शीतल छाया।"

इन पक्तियोंके 'फिर से' का तात्पर्य यही है कि देव-सस्कृतिके पुनरुन्नयनका आरम्भिक रूप हमें मनुके तप निरत जीवनमें मिल जाता है, अर्थात् प्रलय के पूर्व जिस समय और परार्थ भावनायुक्त यज्ञानुष्ठानसे देव सस्कृतिका विकास हुआ था उसे ही मनुने स्वीकार किया। अतएव इसमें यह अन्तर्ध्वनि भी है कि जिस प्रकार अन्तमें देव जीवन भोगातिरेकके कारण विकृतियोंसे कुरूप और सृष्टि शक्तिके लिए गर्हित हो उठा, उन विकृतियोंके मनुके जीवनमें उभरनेकी सभी सम्भावनायें बनी हुई हैं। इस स्थलपर कविने यह स्पष्ट संकेत कर दिया है कि उपयुक्त भूमिका पाकर मनु देव-जीवनकी उन सारी विकृतियोंमें, फँस सकते हैं क्या, फँसेंगे जिनके कारण उस जातिका विनाश हुआ। हमें इस संकेतको निरन्तर याद रखना होगा, क्योंकि इसके कारण हम आगे चलकर 'कामायनी', काव्य और मनुको समझनेमें कई भ्रान्तियोंसे बच निकलेंगे।

(२) मनुकी प्रकृत वासनाका उद्वेलन हो चला। वे अपनी रिक्तताको दूर करनेके लिए व्याकुल हो उठे। वे अपने शून्यको भरना चाहते थे।

(३) मनुके प्रति 'चिन्ता' सर्गमें हमारी जो सहानुभूति स्थापित हुई थी वह यहाँपर और दृढ हो गयी। उनके तप निरत-जीवन और अपरिचितत्वके लिए उनके मन में उत्पन्न होनेवाली सद्भावना, सहानुभूति, परार्थ-भावना, आदिसे हमें उनकी उदात्त अन्त-प्रकृतिका बोध हो जाता है, और हम उनसे पहलेकी अपेक्षा कहीं अधिक तादात्म्य स्थापित कर पाते हैं।

(४) अन्तिम उपलब्धि यह है कि मनुको एकेश्वरवादका बोध हो सका। परन्तु मनुके एकेश्वरवादी उद्गारोंको हमें 'रहस्यवादी' उद्गार नहीं मानना

चाहिये। 'रहस्यवाद' जिस व्यापक, उदात्त, विश्वात्म भावनासे उत्पन्न होता है, मनुमें अभी उसका अभाव था।

•'श्रद्धा' सर्ग

प्रस्तावनाके रूपमें मैं यह कह आया हूँ कि 'कामायनी' काव्यके 'कार्य'का इसी सर्गमें बीजवपन किया गया है। मैं यह भी कह आया हूँ कि वैदिक आर्य-संस्कृतिके मूल आनन्दवादी रूपका निदर्शन करना, और उसके आधारपर मानव-समाजकी नयी व्यवस्थाका संकेत प्रदान करना इस काव्यका लक्ष्य है। साथमें यह भी कहा जा चुका है कि 'काम'को विश्व-चेतनाके रूपमें प्रस्तुत कर देना कविका अभीष्ट है, क्योंकि आर्यों की आनन्दवादी संस्कृति इसी व्यापक काम-चेतनासे निर्मित थी। इस सर्गमें हम इन सभी बातोंको याद रखते हुए अध्ययन करेंगे, और इनकी सत्यताकी जाँच करेंगे।

इस सर्गमें मनु और श्रद्धाका साक्षात्कार होता है। इस अवसरपर कविने सर्व प्रथम श्रद्धाकी अन्तर्प्रकृति और उसके बाह्य रूपका पूर्ण बोध कराया है। और, बादमें श्रद्धाके द्वारा मनुको प्रेरणा दिलानेकी योजना की गयी है। हम इन दोनोंपर अलग अलग विचार करेंगे। पहले श्रद्धाके बाह्य रूपका संक्षिप्त परिचय लीजिये —

"मनुके सम्मुख जो युवती खड़ी थी, उसका सौन्दर्य मानो नेत्रोंके लिये इन्द्र जाल था, ऐसा प्रतीत होता था मानो कुसुमायित-लता सामने है अथवा चाँदनीमें लिपटा सजल बादल। युवतीकी काया लम्बी और उन्मुक्त थी, वह उसके उदार हृदयकी बाह्य अनुकृति थी, मानो मधु पवनसे प्रकम्पित तथा सौरभसे युक्त 'शिशु साल' सामने शोभा प्रदान कर रहा था। युवतीके मनोहर शरीरको 'मसृण गांधार देशके नील रोमवाले मेषोंके चर्म' ढँके हुए थे। उस 'नील-परिधान'में उसका 'मृदुल अधखुला अंग' ऐसा लग रहा था मानो 'मेघ-वन'में गुलाबी रंगका बिजली रूपी फूल खिला हो।" और —

"आह, वह मुख, पश्चिम के व्योम–
बीच जब घिरते हों घनश्याम,
अरुण-रवि-मण्डल उनको भेद
दिखाई देता हो छविधाम।

× × ×

और उस मुख पर वह मुस्कान
रक्त किसलय पर ले विश्राम
अरुणकी एक किरण अम्लान
अधिक अलसायी हो अभिराम।"

श्रद्धाकी इस मुस्कानका अपूर्व वर्णन प्रसादजीने किया है जो काव्य-रसिकोंने

लिए निरन्तर आनन्द प्रदान करनेकी सामर्थ्यसे पूर्ण है। उस 'मुस्कान'में यौवनकी शाश्वत सौन्दर्य-दीप्ति थी, वह मानो 'विश्वकी करुण कामना मूर्ति' थी। ऐसा प्रतीत होता था मानो उसमे आकर्षण-भरा स्पर्श निहित था अर्थात् उसे देखनेमें आकर्षण था; वह जड़में भी (अपनी इस आकर्षण-शक्तिके कारण) स्फूर्ति प्रदान करनेमें पूर्ण समर्थ थी :—

> "नित्य यौवन छवि से ही दीप्त
> विश्व की करुण कामना मूर्ति
> स्पर्श के आकर्षण से पूर्ण
> प्रकट करती ज्यों जड़ में स्फूर्ति।"

अन्तमें कविने उत्प्रेक्षा द्वारा उस अपूर्व मुस्कानका अत्यधिक आह्लादक बिम्ब निर्मित करनेका प्रयत्न किया है, जिसका कलात्मक महत्त्व ही अधिक है। अतः उसकी चर्चा यहाँपर अनावश्यक है।

श्रद्धाकी अन्तर्प्रकृति

अब हम श्रद्धाकी अन्तर्प्रकृतिपर विचार करेंगे। ('कामायनी' काव्यके सम्यक् बोधके लिए यह प्रसंग अधिक महत्त्वपूर्ण है। इसलिए इस विवेचनापर विशेष अवधान देनेकी आवश्यकता है। इस पूर्व निवेदनके उपरान्त अब श्रद्धाका प्रलय पूर्व इतिवृत्त उसीके मुखसे सुनिए :—

"मेरे मनमें ललित कलाका ज्ञान प्राप्त करनेका नया उत्साह भरा हुआ था; मैं यहाँपर गन्धर्वोंके देशमें रहकर उसे प्राप्त करना चाहती थी। मैं पिताकी प्यारी सन्तान हूँ, (इसलिए उन्होंने मेरी इस इच्छाका विरोध नहीं किया, और मैं गन्धर्वोंकी इस नगरीमें चली आई।) मैं प्रतिदिन मुक्त रूपसे अटन किया करती थी और सृष्टिके इस रमणीय सभारको आयत्त कर लेना चाहती थी।)

> "घूमने का मेरा अभ्यास—
> बढ़ा था मुक्त व्योम-तल नित्य
> कुतूहल खोज रहा था व्यस्त
> हृदय सत्ता का सुन्दर सत्य।"

(अर्थात् मैं मुक्त रूपसे घूमती रही और मेरा हृदय, जो सत्ताका सुन्दर सत्य है, सम्पूर्ण सृष्टिके रहस्यको कुतूहलोद्वेलित होकर जान लेनेमें व्यस्त था।)

> "दृष्टि जब जाती हिमगिरि ओर
> प्रश्न करता मन अधिक अधीर
> धरा की यह सिकुड़न भय भीत
> आह कैसी है, क्या है पीर?
> मधुरिमा में अपनी ही मौन
> एक सोया संदेश महान

सजग हो करता था संकेत
चेतना मचल उठी अनजान।"

अर्थात् हिमालयको दूरसे देखकर मेरे मनमें यह प्रश्न उठता था कि पृथ्वी किस पीडासे, किस भयसे, इस रूपमें सिकुड उठी है। अपनी ही मौन मधुरिमामें 'धराकी इस सिकुडन'के भीतर (मेरे लिए मानो) एक सदेश निहित था (एक रहस्य था), यह सदेश निरन्तर मुझे अपनी ओर खींच रहा था, और मेरी चेतना सहज ही (उसतक जानेके लिए) मचल उठी।

"बढ़ा मन और चले ये पैर,
शैल मालाओं का शृंगार
आँख की भूख मिटी यह देख
आह यह कितना सुन्दर संसार।"

और फिर एक दिन इस पहाडके नीचे क्षुब्ध समुद्र टकराने लगा। मैं तबसे अकेली, असहाय, आजतक घूम ही रही हूँ। घूमते घूमते जब मैं इधर आई तो मुझे बलि-अन्न दिखायी पडा। मैंने समझ लिया कि यह किसी 'भूत हित-रत' व्यक्तिका दान है। ज्ञात होता था कि वह व्यक्ति भी इधर ही कहींपर होगा। इसी अनुमानके कारण मैं उसे ढूँढने लगी और यहाँ वास्तवमें तुम मिल गये।

× × ×

श्रद्धाके इस सक्षिप्त वृत्त कथनसे हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि वह ('सत्ताका सुन्दर सत्य') हृदयकी प्रकृत प्रेरणासे सचालित युवती थी। हिमवान प्रदेशकी रम्य स्थलीमें उसके लिए प्रचुर आकर्षण था सौन्दर्य देखकर विमुग्ध हो जाना उसकी सहज प्रवृत्ति थी। कलामें उसकी प्रकृत रुचि थी, यही कारण था कि उसे सीखनेके लिए वह माँ-बापसे दूर चली आई थी। इन सब बातोंसे यह पता चल जाता है कि 'श्रद्धा' न केवल अतिशय छविका आधार थी, वरन् सौन्दर्य-समारके प्रति उसके हृदयमे अपार अनुराग था। उसमें उत्कृष्ट सौन्दर्य-बोध था।

शीर्षक विमर्शमें बता आया हूँ कि श्रद्धा उस वश या समुदायकी थी, जिसमें 'काम'की उपासना प्रचलित थी। उसका जाति-जीवन प्रेम, उल्लास, प्रमोदसे पूरित था। जीवन और कलामें अभेद था। जीवनका सत् सुन्दर और आनन्द(शिवम्)से पूर्ण था। भेदको कहीं स्थान नहीं था। श्रद्धा इस विशिष्ट सस्कृतिमें पली थी, और उसे सुन्दरम्'की शिवम् अनुभूति सहज उपलब्ध थी।

सस्कृति और सौन्दर्य-बोध (या सौन्दर्य-चेतना)में बडा घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। 'काव्य और कला' में, इसीलिए, प्रसादजीने माना है, और वह सर्वथा ठीक भी है, कि "सस्कृति सौन्दर्य-बोधके विकसित होनेकी मौलिक चेष्टा है।" इसका तात्पर्य यह है कि सौन्दर्य-चेतना सस्कृतिके द्वारा ही अपना विकास करती है और सस्कृति सौन्दर्य-चेतनाकी निर्मिति होती है। उसी निबन्धमे प्रसादजीने सस्कृतिके विषयमें त महत्त्वपूर्ण है, कि "भौगोलिक परिस्थितियों और कालकी दीर्घता

तथा उसके द्वारा होनेवाले सौन्दर्य सम्बन्धी विचारोंका सतत अभ्यास एक विशेष ढगकी रुचि उत्पन्न करता है, और वही रुचि सौन्दर्य-अनुभूतिकी तुला बन जाती है, इसीसे हमारे सजातीय विचार बनते हैं और उन्हें स्निग्धता मिलती है। इसीके द्वारा हम अपने रहन सहन, अपनी अभिव्यक्तिका सामूहिक रूपमें प्रदर्शन कर सकते हैं। यह संस्कृति विश्ववादकी विरोधिनी नहीं, क्योंकि इसका उपयोग तो मानव समाजमें, आरम्भिक प्राणित्व धर्म सीमित मनोभावोंको सदा प्रशस्त और विकासोन्मुख बनानेके लिए होता है। संस्कृति मन्दिर, गिरजा और मसजिदविहीन प्रान्तोंमें अन्त प्रतिष्ठित होकर सौन्दर्य-बोधकी बाह्य सत्ताओंका सृजन करती है। संस्कृतिका सामूहिक चेतनासे, मानसिक शील और शिष्टाचारोंसे, मनोभावोंसे मौलिक सम्बन्ध है।"

श्रद्धामें किस कोटिकी सौन्दर्यानुभूति थी, इसका पता हमें मिल चुका है। प्रसादजीकी उपर्युक्त मान्यताके अनुसार, श्रद्धाकी सौन्दर्यानुभूतिके इस बिन्दुतक विकसित होनेके मूलमें उसकी संस्कृति रही होगी, और उस संस्कृतिके मूलमें उसकी कोई **'विशेष (जातिगत) ढगकी रुचि'** रही होगी, जो "भौगोलिक परिस्थितियों और कालकी दीर्घता तथा उसके द्वारा होनेवाले सौन्दर्य-सम्बन्धी विचारों"के 'सतत अभ्यास'से उत्पन्न रही होगी। अबतक श्रद्धाके विषयमें हम जो कुछ कवि द्वारा बताया जा चुका है उसके आधारपर हम उसकी रुचिको (या प्रकृतिको), जिसपर उसकी सौन्दर्य चेतना और संस्कृति आधारित थी, विस्तारमें तो नहीं समझ सकते हैं, परन्तु उसके मूल सूत्रका अनुमान हम अवश्य लगा सकते हैं। आगे उसे ही समझनेका प्रयत्न किया जा रहा है, हम यह जाननेका प्रयत्न करेंगे कि पूर्वोक्त श्रद्धाके जीवन-वृत्तके आधारपर उसकी सौन्दर्यानुभूतिका, रुचिका, उसके जीवनविषयक दृष्टिकोणका, मूल सूत्र क्या हो सकता है?

कहा जा चुका है कि जल-प्लावनके कारण श्रद्धा भी एकाकी, निरुपाय स्थितिमें पड गयी थी, वह अपने बन्धु बान्धवोंसे सदाके लिए विच्छिन्न हो गयी थी। मनुके समान ही उसके भी पूर्व-जीवनका सहसा पटाक्षेप हो गया था। इसका उसे कुछ कम दु ख नहीं था, वरन् वह भी अत्यन्त पीडिता थी। परन्तु जिस विषम परिस्थितिने मनुको (जिनमें ऊर्ज्जस्वित था वीर्य अपार) हिलाकर 'मोह मुग्ध-जर्जर अवसाद'की मूर्ति बना दिया, उसीमें रहकर श्रद्धाके मुख और 'उस मुखपर वह मुस्कान' दोनों उल्लास, स्फूर्ति तथा चेतनासे सम्पूरित थे। यही एक ऐसा रहस्य है, एक ऐसा तथ्य है, जो मनु और श्रद्धा दोनोंकी प्रकृतियों, रुचियों, संस्कृतियों और जीवन दृष्टियोंके मौलिक अन्तरको स्पष्ट करनेमें समर्थ है।

प्रश्न होगा कि वह रहस्य क्या है? वह रहस्य है जीवनकी प्रत्येक स्थितिसे तादात्म्य स्थापित करनेकी शक्ति। श्रद्धामें यही शक्ति थी। जल-प्लावनने उसे जिस दयनीय स्थितिमें डाल दिया था उसके कारण उसे पर्याप्त वेदना तो थी, परन्तु उस वेदनाने उसे जडता नहीं प्रदान की, वेदनाके कारण उसकी चेतनाकी गति अवरुद्ध नहीं हुई। कारण यह था कि श्रद्धाने उस विषम परिस्थितिसे तादात्म्य स्थापित कर

लिया, उसे स्वीकार कर लिया। इसका यह तात्पर्य नहीं है कि उसने स्थितिके हाथों अपनेको छोड दिया और वह यन्त्रवत् निष्क्रियताके सहारे अग्रसर हुई। ऐसा तो मनुने किया, जिसपर हम 'आशा' सर्गमें विचार कर आये हैं। इसके विपरीत श्रद्धाने उस स्थितिको अनिवार्य वास्तविकता के रूपमें स्वीकार किया, उसीके माध्यमसे उसने उसकी समस्याओंका विश्लेषण किया तथा उनका निराकरण करते हुए वह जीवनके लक्ष्य (आनन्द)की उपलब्धि निमित्त दत्तचित्त थी। वह सक्रियताके साथ चेतनाके पथपर अग्रसर हुई। उसने 'चरैवेति' मार्ग (निरन्तर प्रयत्न करनेका मार्ग) स्वीकार किया। परिस्थितिका अपनेको दास मानना उससे तादात्म्य स्थापित करना नहीं कहलाता।

व्यक्ति अपने परिवेशसे प्रभावित होता अवश्य है, किन्तु नये परिवेशमें वह एकदम नया नहीं हो जाता है। वह नये परिवेशमें पडकर एक ओर अपनेको उसके अनुकूल बनाता है, तो दूसरी ओर अपनी जीवननिष्ठा, कर्तव्य भावना, जीवन-लक्ष्य एव परम्परागत सस्कृति आदिके आधारपर वह उस परिवेशके प्रभावोका चयन और त्याग करता रहता है। नवीन, परिस्थिति, परिवेशके आ उपस्थित होनेपर ऐसे व्यक्तिकी चेतना उसके भीतरसे ही अपना विकास करनेका प्रयत्न करती है, और ऐसा करनेमें उसकी आत्माके आलोक, उसका जातिके अतीत जातकी सामूहिक चेतना आदिसे उसे निरन्तर मार्ग दर्शन प्राप्त होता रहता है। जो व्यक्ति इन सबको छोडकर केवल परिवेशका अविवेकपूर्ण ग्रहण करता है वह आत्म हनन और अगति या विनाशका अनजानमे आवाहन ही करता है।

'इरावती' उपन्यासमें 'अग्निमित्र'ने एक सगीत सभामें आनन्दवादी ब्रह्मचारीकी उपस्थितिका आशय समझाते हुए कहा है कि "मैं जानता हूँ कि आप प्रत्येक स्थितिसे तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं।" प्रसादजीकी जीवन मान्यताओंके मूलमें यही सुनिश्चित आधार था। उनके साहित्यमें उनकी इस जीवन धारणाको व्यक्त करनेवाले सभी प्रमुख पात्र इसी सिद्धान्तको स्वीकार करते हैं ('आनन्दवाद'की व्याख्यामें मैं पुन इस तादात्म्य सिद्धान्तका स्पष्टीकरण करूँगा।) यहाँपर तो विस्तार भयसे मैं केवल यह स्थापित करना चाहता हूँ, और चाहता हूँ कि पाठक इसे ठीकसे हृदयगम कर लें कि जीवनकी प्रत्येक सम विषम स्थितिसे तादात्म्य (या समरसता) स्थापित करके उसको सत्य स्वीकार करके, उसके भीतरसे अपने कर्तव्यका चयन और पालन करते हुए चेतनाका चरम विकास उपलब्ध करना श्रद्धाकी प्रकृत रुचि थी।

यही उसकी सस्कृति थी। सकेत रूपमें यह स्पष्ट कर देना भी अप्रासगिक न होगा कि प्रसादजीकी कल्पनाके अनुसार श्रद्धा भी देव-सृष्टिमें पर्याप्त समय बिता चुकी थी। इन्द्रने सारस्वत प्रदेशमें एकेश्वरवादी असुर 'वृत्र'को हराकर जिस 'आत्मवाद'की स्थापना की और जिसे देव जाति सम्यक् रूपसे आयत्त न करके भोग, एकान्तिक भोग, की भावना (या अपूर्ण अहताकी भावना)के अविर पथपर चली, उसे (अर्थात्

आत्मवादको) श्रद्धा पूर्णत आयत्त कर चुकी थी, और ऐसा उसने अपनी मूल प्रकृतिके कारण किया होगा। क्योंकि जैसा कि हमने देखा वह 'सत्ताका सुन्दर सत्य', हृदयसे, ही परिचालित थी, वह उस कोटिकी सौन्दर्य चेतनासे सम्पूरित थी जो 'आत्म'-दर्शनके लिए अनिवार्य होती है। 'सौन्दर्य-चेतनाका उज्ज्वल वरदान' इसीलिए है कि वह व्यक्तिको चेतनाकी अखण्ड उपलब्धि करानेमें समर्थ होता है, वह द्वैतमें अद्वैतकी चेतना सहज ही उत्पन्न कर देता है। और यही कारण है कि सौन्दर्यको कीट्सने 'सत्य' कहा था[1]। यही कारण है कि सौन्दर्यको 'चित्' (चेतना)से अभिन्न कहा गया है, उसे 'चित्' माना गया है। और 'चित्' ही सत्य तथा शिव है। इस 'चित्'की खण्ड अनुभूति मानव जीवनकी अशान्तिकी मूल है और इसकी अखण्ड अनुभूति आनन्दकी भूमिका।

इस भूमिकातक पहुँचनेके लिए, व्यक्तिकी सौन्दर्य-चेतनाका पूर्ण विकसित होना आवश्यक है। जिस मात्रामें व्यक्तिकी सौन्दर्य चेतनाका विकास होगा, उसी मात्रामें उसे 'चित्त'की निर्मलता, निर्विकारता और प्रफुल्लता प्राप्त होगी। जैसा हम आगे देखगे, 'कामायनी'में व्यक्त आनन्दवादमें उल्लास प्रमोदकी स्वीकृति अनिवार्य है, क्योंकि आनन्दकी प्रकृति ही उल्लासकी होती है। सौन्दर्य-चेतना इस उल्लासकी धात्री होती है। इसलिए प्रलयके उपरान्त भी श्रद्धामें उल्लासकी मात्रा पूरी थी। उल्लास और विषादमें परस्पर विरोध होता है। उल्लासके साथ आशा, जीवन ममता, कर्मठताका अनिवार्य सम्बन्ध होता है। श्रद्धामें ये सारे गुण प्रकृतित थे, क्योंकि, *जैसा ऊपर कहा जा चुका है, वह उस संस्कृतिमें पली थी जिसमें कामोपासना प्रमुख* थी, जिसमें प्रेम कलाका स्वतन्त्र विलास था।

यही कारण था कि सृष्टि-शक्ति उसके भीतरसे इन्द्र द्वारा जल प्लावन पूर्व प्रतिष्ठित की गई 'आत्मवादी' (आनन्दवादी) संस्कृतिकी पुनर्स्थापनाका प्रयत्न कर रही थी।

मनुमें यह विशेषता नहीं थी। इसीलिए 'विषमता'को सम्मुख पाकर उनमें उद्विग्नता, विक्षोभ मोह भर उठा। यहींपर हमें यह भी समझ लेना चाहिए, जैसा ऊपर कहा भी जा चुका है कि उपर्युक्त प्रकारका स्थिति-तादात्म्य (*या सामरस्य*) वही पा सकता है जो समग्र जीवनको, अखण्ड जीवनको, सत्य स्वीकार करे। यदि कोई व्यक्ति जीवनको, गोचर विश्वको, सत्य नहीं वरन् मिथ्या मानेगा तो उसे जीवनमें सौन्दर्य नहीं मिलेगा, क्योंकि मिथ्या नहीं वरन् सत्य ही सौन्दर्य हो सकता है। फिर तो, जीवनके प्रति सौन्दर्यानुभूतिके अभावमें वह व्यक्ति जीवनसे अभेद (तादात्म्य)का सम्बन्ध बोध उपलब्ध ही नहीं कर सकता।

जीवनके खण्ड रूपको ही, अर्थात् जीवनके कुछ रूपोंको ही, यदि कोई व्यक्ति सत्य मानकर प्रवृत्त होगा तो उसे भी इस सम्बन्ध बोधकी प्राप्ति नहीं होगी।

---

[1] Truth is Beauty and Beauty Truth

क्योंकि सत्य खण्डित होता ही नहीं; उसके खण्ड रूपमें ग्रहणसे जीवनके नानाविध सुख दुःख, मधु विष, द्वन्द्वोंमें निरन्तर अभिव्यक्त होनेवाले सत्यके पूर्ण स्वरूपके साथ तादात्म्य नहीं हो सकता। इसीलिए समग्र जीवनको सत्य मानना, जीवनकी अखिल अनुभूतियों, भावों, स्थितियों तथा व्यापारों आदि चेतनाकी समस्त उपलब्धियोंको सत्य स्वीकार करना, तादात्म्य (या समरसता)के इस सिद्धान्तकी प्रथम अनिवार्यता है, और (चूँकि, जैसा कहा जा चुका है, यह सिद्धान्त 'श्रद्धा'की संस्कृतिका मूल है, तथा श्रद्धा द्वारा 'कामायनी' काव्य-जगमें प्रतिपादित संस्कृतिका भी यही मूल माना जायगा) 'कामायनी'में स्थापित संस्कृति-चेतनाकी भी यही प्रथम अनिवार्यता है।

यही कारण है कि (अपनी निरुपाय स्थितिका उल्लेख करनेके तुरत उपरान्त श्रद्धाने सर्वप्रथम मनुका ध्यान जीवनकी ओर, उसकी लालसाकी ओर, खींचा। और, यह बताया कि त्याग-तप अपने सौन्दर्यमें लुभाकर उन्हें वास्तविकतासे ठग रहा है।

"तपस्वी, क्यों इतने हो क्लान्त ?
वेदना का यह कैसा वेग
आह, तुम कितने अधिक हताश
बताओ यह कैसा उद्वेग !
हृदय में क्या है नहीं अधीर,
लालसा जीवनकी निश्शेष ?
कर रहा वंचित कहीं न त्याग
तुम्हें, मन में धर सुन्दर वेश !"

(इसके बाद कुछ अन्य सम्बन्धित बातें बतलाकर श्रद्धा मनुके सम्मुख एक निष्कर्ष प्रस्तुत करती है जो, मेरे विचारसे, इसी स्थलपर उद्धृत किये जाने योग्य है।) बीचकी बातोंपर हम बादमें विचार करेंगे। अस्तु, श्रद्धाके उपर्युक्त कथनके साथ ही उसका यह कथन (जो 'कामायनी' पुस्तकमें कई पंक्तियोंके बाद आया है) सुनिये :—

"तप नहीं केवल जीवन सत्य
करुण यह क्षणिक दीन अवसाद
तरल आकांक्षासे है भरा
सो रहा आशाका आह्लाद।"

केवल 'तप' जीवन सत्य नहीं है, तुम्हारा यह करुणापूर्ण दीन अवसाद क्षणिक है। क्योंकि तरल, गतिपूर्ण, आकांक्षासे भरा हुआ 'आशाका आह्लाद' कुछ देरके लिए इस अवसादके नीचे दबा हुआ सो रहा है, उपयुक्त अवसर पाकर वह जाग्रत होकर रहेगा। यह जीवनका भोग पक्ष है, अनुरक्ति पक्ष है। वह सर्वदा दबा नहीं रह सकता है। स्वयं प्रकृति उसे उभार प्रदान करती है। परिवर्तन प्रकृतिका, सृष्टि शक्तिका, अमिट और सर्वमान्य सिद्धान्त है :—

"प्रकृतिके यौवनका शृङ्गार
करेंगे कभी न बासी फूल
मिलेंगे वे जाकर अति शीघ्र
आह उत्सुक है उनकी धूल
पुरातनताका यह निर्मोक
सहन करती न प्रकृति पल-एक
नित्य नूतनताका आनन्द
किये है परिवर्तनमें टेक
युगोंकी चट्टानों पर सृष्टि
डाल पद-चिह्न चली गंभीर
देव-गंधर्व, असुरकी पंक्ति
अनुसरण करते उसे अधीर।"

श्रद्धा 'परिवर्तन'के इस अमिट सृष्टि-विधानकी सर्वोपरि सामर्थ्यकी बात बताकर मनुको यह संकेत करना चाहती है कि जीवनको एकांगीरूपसे ग्रहण करना स्वयं सृष्टिको मान्य नहीं है; वह अप्राकृतिक है। सृष्टि निरन्तर नवीन होती रहती है; एकांगिताका वह निरन्तर विरोध और नाश करती चलती है। इसलिये केवल निवृत्तिमूलक तपका जीवन काम्य नहीं है। उसके साथ आकांक्षाओंसे स्पन्दित प्रवृत्तिमूलक जीवन पक्ष भी होना चाहिए।

यहाँ पर, आगे बढ़नेके पूर्व यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि "तप नहीं केवल जीवन सत्य"का यह अर्थ मैं गलत मानता हूँ कि तप नहीं, केवल जीवन सत्य है। यदि यह अर्थ माना जाय तो इसका तात्पर्य यह होगा कि तप जीवनके बाहरकी वस्तु है। वह सत्य नहीं है वरन् तपरहित जीवन सत्य है। फिर तो यह तात्पर्य हो गया कि केवल आकांक्षाओंसे भरा प्रवृत्तिमूलक जीवन सत्य है, वही स्पृहणीय है। परन्तु हमें यह याद रखना होगा कि तपसे पूर्णतः रहित होनेपर जीवन भोगवादी विकृतियोंमें कुरूप हो जाता है, और केवल तपका जीवन दम्भ और आत्महननसे दूषित। वास्तवमें तप और भोग, निवृत्ति और प्रवृत्ति दोनोंका समन्वय ही काम्य मार्ग है। प्रसाद साहित्यमें इसीकी स्थापना है। आगे इस काव्यके अध्ययनमें भी हमें यही जीवन-मत उपलब्ध होगा। इसीलिये मैंने उपर्युक्त अर्थ ग्रहण किया है।

तपस्वी मनुको यह समझा लेनेके बाद कि तप ही नहीं, प्रवृत्यात्मक (भोगका) जीवन भी सत्य है श्रद्धा उन्हें जीवनके समन्वित पक्षको स्वीकार करनेके कारण, उसके स्वरूप और उसकी महत्ताका बोध करा रही है:—

"कर रही लीलामय आनन्द
महाचिति सजग हुई-सी व्यक्त
विश्वका उन्मीलन अभिराम
इसीमें सब होते अनुरक्त।

काम मंगलसे मण्डित श्रेय
सर्ग इच्छाका है परिणाम
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल
बनाते हो असफल भर धाम।"

"महाचिति (परम चेतना), जो लीलामय और आनन्द स्वरूप है, आज मानो सजग सक्रिय रूपमें स्वयं व्यक्त होकर विश्वका सुन्दर उन्मीलन कर रही है (अर्थात् उसी लीलामय आनन्दरूप परम सत्ताकी अभिव्यक्ति ही विश्वका नव-सृजन है)। उसकी इस विश्व-अभिव्यक्तिमें सभी अनुरक्त हैं, अर्थात् सब कुछ इस अभिव्यक्तिमें एक रस है।" वेदान्तकी स्थापना है कि जब परमसत्ताम विश्व सर्जनाकी इच्छा उत्पन्न होती है, तब वह एकसे अनेक होनेकी सहज कामना करती है, तब उसमें एक स्फुरणा, कर्तृत्व शक्ति, उद्भूत हो उठती है। उसके कारण सर्वप्रथम 'काम'को उत्पत्ति होती है, और विश्व चक्र घूमने लगता है। सम्पूर्ण चराचर विश्व उसी इच्छा, स्फुरणा, की उत्पत्ति है। इसी तथ्यको श्रद्धा मनुके सम्मुख स्पष्ट करना चाहती है।

मनुको एक प्रकृतीतर सत्ताका बोध तो पहले ही हो चुका था, जिसे 'आशा' सर्गमें बताया जा चुका है, किन्तु उन्हें यह अनुभूति नहीं थी कि वह सत्ता विश्वसे अभिन्न एवं आनन्द रूप है। श्रद्धा यही समझाना चाह रही है। वह यह बताना चाहती है कि विश्व आनन्दरूप महाचेतनाकी निजी अभिव्यक्ति है, और इसीलिए दोनोंमें अभेद, अद्वैत है। विश्वकी मूल प्रकृति आनन्दकी है, क्योंकि वह आनन्दकी अभिव्यक्ति है। किसी-न किसी रूपमें प्राणीकी प्रकृति इसी आनन्दरूपकी उपलब्धिके निमित्त प्रयत्नशील रहती है। विश्व स्वयं आनन्द है। वह महाचितिकी आनन्दलीला है। प्राणी जो कुछ करता या भोगता है वह सब इसी लीलाका अंश है। अतएव जीवनको, उसकी प्रत्येक स्थितिको, इसी भावसे ग्रहण करना उपयुक्त होता है।

उपर्युक्त अंतिम ४ पंक्तियोंमें तप और भोग दोनों पक्षोंसे समन्वित-जीवनके स्वरूपको समझाया गया है। श्रद्धा कहती है कि "लीलामय महाचितिकी आनन्दमयी अभिव्यक्ति होनेके कारण यह सर्ग (सृष्टि) 'मंगलसे मण्डित श्रेय' है (अर्थात् यह मांगलिक एवं श्रेयस्कर है)। काम इसी सृष्टि इच्छाका फल है, अर्थात् जब महाचितिने 'मंगलसे मण्डित श्रेय' सृष्टिकी इच्छा की तो उसने सर्वप्रथम कामको ही उत्पन्न किया। इसका तात्पर्य यह हुआ कि उस 'लीलामय महाचिति'ने कामके द्वारा ही अपनी आनन्दमयी अभिव्यक्ति 'मांगलिक एवं श्रेय' सृष्टिके रूपमें करनी चाही। इसलिए 'काम'की उपेक्षा करके तुम उस महाचिति की इच्छाका ही तिरस्कार करते हो, और 'मंगलसे मण्डित श्रेय' सृष्टिकी अभीष्ट रचनाको व्यर्थ बना रहे हो।"

इस उक्तिका यह अभिप्राय स्पष्ट है कि 'काम' स्वयं 'मंगलसे मण्डित श्रेय' है। वह लीलामय महाचिति 'आनन्द'की विश्व अभिव्यक्तिका मौलिक और प्रगतिशील साधन है। यहाँपर कविने मंगल और श्रेय दोनों शब्दोंका प्रयोग, मेरे मतानुसार, प्रेय और श्रेयके अर्थोंमें किया है।

सत्यके प्रेय और श्रेय दो रूप माने गये हैं। प्रेय और श्रेय दोनोंमें सत्यकी अभिव्यक्ति होती है। स्त्री पुत्र, धन-सम्पत्ति तथा अहमूलक जीवनके सुखोपभोगके समस्त उपकरण प्रेय माने जाते हैं, और इनसे भिन्न (परमार्थ तत्वको) श्रेय कहा जाता है। विरक्तिमूलक साधनामें श्रेयको ही अभीष्ट और साध्य स्वीकार करके 'प्रेय'को नाशवान मानते हुए त्याज्य समझा जाता है। परन्तु श्रद्धाका कहना है, और वह वेदान्तकी आनन्दवादी भावना ही है, कि श्रेय और प्रेय दोनोंके समन्वित रूपको ही स्वीकार करना ठीक होता है, क्योंकि यह विश्व स्वयं प्रेय और श्रेयसे युक्त है। इन दोनोंमें विभेदक रेखा खींचकर एकको ग्रहण करना और दूसरेको छोड़ देना द्वैत भावना है, अद्वैत भावनामें यह भेद मिट जाता है। जब चराचर विश्व, विश्व जीवनकी समस्त उपलब्धियाँ, उसी एक परमचितिकी अभिव्यक्ति है तो फिर किसलिए 'प्रेय'को हेय और श्रेयको ग्रहणीय माना जाय? प्रेय और श्रेय दोनों उसी 'आनन्द' (परमशक्ति) की अभिव्यक्तियाँ हैं। हमें दोनोंको ग्रहण करना चाहिये। ।

अतएव मनुको श्रद्धाका परामर्श है कि "चूँकि प्रेय श्रेयमयी सृष्टिका मूल साधन काम है, और ऐसा इसलिए है कि परमसत्ताकी यह इच्छा है, तो केवल तप मार्ग (या श्रेय-मार्ग)को स्वीकार करके तथा प्रेय (या मांगलिक काम) मार्गका तिरस्कार करके विश्वकी, परमसत्ताकी इच्छाको, तुम असफल बना रहे हो।" अब यह बतानेकी आवश्यकता नहीं है कि श्रद्धाका पूरा आग्रह मनुमें उस मांगलिक काम (प्रेय)की स्वीकृति उत्पन्न करनेकी है जो प्रकृतितः श्रेय (तप संयम) से संपृक्त रहता है। सन्दर्भ का झुकाव इसी ओर है। कामके इस श्रेय समन्वित रूपमें अनुरक्त होना, श्रद्धाके अनुसार, विश्व-सफलताका मार्ग है।

श्रेय मार्गके तपस्वी कामको, इच्छा वासना (या यों कहिये कि प्रेय)को, दुःख का कारण मानते हैं। उनका कहना है कि इच्छासे (कामसे) दुःख फल ही मिलता है, इसलिए कामका त्याग, इच्छाका त्याग, करना ही श्रेय है। इन श्रेय तपस्वियोंको प्रसादजी 'दुःखातिरेकवादी', विवेकवादी और आर्योंकी मूल आनन्दवादी मान्यतासे भिन्न मतावलम्बी मानते थे (देखिये 'रहस्यवाद' नामक उनका निबन्ध)। इन दुःखाति रेकवादियोंका प्रयत्न दुःखसे निर्वाण पानेका होता है, इसके लिये चाहे वे बौद्ध मत मार्गका अनुसरण करें या भागवत धर्मके अनुसार एक नाताकी उपासना करें। प्रसादजीकी समीक्षा दृष्टिमें ये सभी विवेकवादी और दुःखवादी हैं, और मूल आनन्द-वादमें दुःखसे झिझक नहीं होती है। अतएव श्रद्धा कहती है —

"दुःख के डर से तुम अज्ञात
जटिलताओं का कर अनुमान
काम से झिझक रहे हो आज
भविष्यत् से बनकर अनजान।"

दुःखके डरसे, अज्ञात जटिलताओंका अनुमान करके काम (प्रेय)से झिझकना (और केवल श्रेयकी साधनामें प्रवृत्त होना) ठीक नहीं है। कौन जाने भविष्य क्या है,

आज दु ख है तो उसके भीतरसे क्या निकलेगा, इसे कौन जाने। श्रद्धा कहती है कि दुःखके गर्भसे सुखका प्रभात निकलता है। सुखका विकास दु:खके गर्भसे, दुःखकी भूमिकापर, होता है :—

"दुःखकी पिछली रजनी बीच
विकसता सुखका नवल प्रभात
एक परदा यह झीना नील
छिपाये है जिसमें सुख गात
जिसे तुम समझे हो अभिशाप
जगतकी ज्वालाओंका मूल
ईशका वह रहस्य वरदान
कभी मत इसको जाओ भूल।"

दु ख 'ईशका रहस्य वरदान' इसलिए है कि उसके बिना सुखकी प्राप्ति नही हो सकती है; सुखके विकासका सत्य यही दु ख है। उपर्युक्त पंक्तियोंमें इस तथ्यको रात्रि और प्रभातके रूपकसे समझाया गया है। आगेकी पंक्तियोंमें, अब, श्रद्धा मनुको एक गम्भीर दार्शनिक सिद्धान्तके आधारपर यही बात समझा रही है। वैदिक दर्शनके अनुसार यह माना जाता है कि सृष्टि रचनाके पूर्व केवल एक सत् था, उसे एकसे अनेक होनेकी इच्छा उत्पन्न हुई, उसने तप किया (स तपोऽतप्यत) अर्थात् उसमे इच्छाके उद्वेलनसे उष्णता उत्पन्न हुई। और, फिर उसने चराचर विश्वको रचा। अतएव विश्व-जीवनमे जो कुछ सुख आनन्द है वह इसीलिये है कि सृष्टि-रचनाके प्रारम्भमे उस एक 'सत्'में इच्छाकी पीडा उत्पन्न हुई और वह अनेकमें विभक्त-सा हो उठा, उसकी समरसतामेंसे विषमता उत्पन्न हो उठी; और विषमतारी उस पीडासे (विक्षोभसे) सृष्टिका विकास होने लगा।

इसलिए श्रद्धा मनुसे कहती है कि—सारा विश्व पीडासे स्पदित है; यदि वह न होती तो विश्वमें स्पन्दन ही न होता, फिर सुख विकासकी बात कल्पनाके परे होती। नीचेकी पंक्तियोंमें यही तात्पर्य व्यक्त किया गया है :—

"विषमताकी पीडासे व्यस्त
हो रहा स्पन्दित विश्व महान
यही दुख सुख विकासका सत्य
यही भूमाका मधुमय दान।"

सृजन द्वन्द्वात्मक होता है। द्वन्द्व सृष्टि विकासका मौलिक सिद्धान्त है। सृष्टि आनन्दसे निकलकर आनन्दको पानेमें निरत है, यही उसका चरम लक्ष्य है। परन्तु इस लक्ष्यकी प्राप्ति द्वन्द्वात्मक विकासके माध्यमसे ही सम्भव है, और महाचितिको वही अभीष्ट है ('दर्शन विमर्श' देखिये)। आगे इसी सन्दर्भमें श्रद्धा कहती है :—

'नित्य समरसताका अधिकार
उमडता कारण जलधि समान

बिखरे नीली लहरों बीच
बिखरते सुख मणिगण द्युतिमान।"

तात्पर्य यह है कि "परम चेतनकी समरसता शक्ति [सांख्य दर्शनमें इसे गुणोंकी साम्यावस्था या अव्यक्त प्रकृति अथवा प्रधान माना गया है।], विश्व-सृजनकी इच्छा वेदनासे, कारण-समुद्रके समान उमडने लगती है। समुद्रके उद्वेलनके कारण, जिस प्रकार उसकी नीली लहरोंमें मणियाँ यत्र तत्र बिखर पडती हैं, उसी प्रकार उस समरस शक्तिके पीडोद्वेलनके कारण होनेवाले विश्व-जीवनके विभिन्न रूपोंमें सुख इधर उधर बिखर पडता है।" ध्वनि यह है कि जिस प्रकार समुद्रसे मणियोंकी उपलब्धि तभी सम्भव होता है जब उसमें विषमता, द्वन्द्व, या पीडाका उद्वेग हो, उसी प्रकार विश्वम (जो कि परमसत्ताकी अभिव्यक्ति है) सुखकी प्राप्ति तभी होती है जब वह परमसत्ता, जो समरसता शक्ति सम्पन्न है, सृष्टि-सर्जनकी इच्छा पीडासे व्यथित होकर स्पन्दित होती है। अतएव सृष्टिमें पाये जानेवाले सुखकी भूमिका दु ख ही ठहरता है, दु ख ही सुखका विकास करता है ('दर्शन विमर्श' भी देखिए)।

(यहाँपर यह सकेत कर देना ठीक होगा कि श्रद्धा यह भी बताना चाहती है कि दु ख और उसके द्वारा विकसित होनेवाला सुख दोनोंके मूलमें, अर्थात् द्वन्द्वोंकी विषमताके मूलमें, शाश्वत अखण्ड समरसताकी अवस्थिति रहती है। अतएव उसी समरसताकी अनुभूति उपलब्ध करके, और यह सोचकर कि दु खके भीतरसे ही सुखका विकास होता है, मनुष्यको दु खसे डरना नहीं चाहिये)।

इस प्रकार श्रद्धाने मनुको दु खकी महत्ता बतायी, और यह समझाया कि दु खसे डरनेकी आवश्यकता नहीं है। 'काम'से दु ख होता है या हो सकता है, परन्तु चूँकि दु ख ही सुख विकासका सत्य है इसलिए यदि सुखकी आकाक्षा है तो दु खकी स्वीकृति आवश्यक है। दु ख सुख सृष्टि अकुरके दो पल्लव है, दोनों अनिवार्य रूपसे सह बद्ध है।

दु खको स्वीकार कर लेनेपर, विवेकवादियों या ऐसे ही अन्य लोगोंकी कामके प्रति झिझक दूर हो जाती है। सक्षेपमें यहाँतक श्रद्धाने जो कुछ कहा उसका सार यही ठहरता है कि श्रेयसे अभिन्न कामको स्वीकार करना सृष्टि प्रयोजनको सफल बनाना है। यही 'काम'की व्यापक भावना है। वैदिक आनन्दवाद इसी काम भावनाकी अपूर्व उपलब्धि है।

इस काम-भावनासे परिचालित जीवनके स्वरूप और उसके आनन्दको स्पष्ट करनेके उद्देश्यसे श्रद्धाने मनुसे कहा —

"एक तुम यह विस्तृत भूखण्ड
प्रकृति वैभवसे भरा अमन्द
कर्मका भोग, भोगका कर्म
यही जडका चेतन आनन्द।"

अन्तिम दो पंक्तियोंमें 'आनन्दवादी' कर्म-अनुष्ठानका महत्त्वपूर्ण सूत्र है। 'आनन्दवाद'की विवेचनाके अवसरपर ('दर्शन-विमर्श'के प्रकरणमें) मैं इसकी विर व्याख्या करूँगा। अतएव यहाँ संक्षेपमें ही मैं इस सूत्रके आशयको प्रस्तुत कर रहा ह श्रद्धा मनुको बताना चाहती है कि मनुष्यको चाहिये कि वह अपने पौरुषसे कर्म क उस कर्म (श्रम)का भोग करे और उस फल-भोगमेंसे पुनः (भावी जीवन-विकास हे कर्मका अनुष्ठान करे। इसी प्रक्रियासे चेतन (मानवात्मा) जड (प्रकृति)का वास्तवि आनन्द पा सकता है। न तो मनुष्यको कर्मसे भागनेकी आवश्यकता है, और न फ भोगसे। परन्तु भोगमें ही रुक जाना भी वास्तविक आनन्द मार्ग नहीं है। मे (फल)मेंसे, अर्थात् उसकी समीक्षा करके और उसका आवश्यकतानुसार सबल लेक आगे कर्म चुनना और करना अत्यावश्यक है। इस प्रकार कर्म, फल, और पु कर्मकी अविरल, अटूट, शृंखलामें विकासोन्मुख रहकर ही चेतन (जीव) जड प्रकृतिक आनन्द पायेगा।

यह कर्म सिद्धान्त भारतीय वेदान्तकी अपूर्व उपलब्धि और देन है। इसक ओर संकेत करके श्रद्धा मनुसे कहती है कि इस 'कर्म-भोग-कर्म'के मार्गपर भल तुम अकेले किस प्रकार चल सकते हो। तुम अकेले हो और तुम्हारे सामने प्रकृति वैभवसे परिपूर्ण विस्तृत भू-खण्ड हैं :—

"अकेले तुम कैसे असहाय
यजन कर सकते ? तुच्छ विचार ?
तपस्वी, आकर्षणसे हीन
कर सके नहीं आत्म विस्तार।"

आत्म-विस्तारके लिए 'प्रकृति-वैभवसे परिपूर्ण भू-खण्ड'का, उपर्युक्त कर्म-सिद्धान्तके अनुसार, पूर्ण उपयोग करना होगा; तभी तुम्हारा (अर्थात् मनुका) चेतन, जडका आनन्द पा सकता है। इसके लिए साथीकी आवश्यकता है; तो लो मैं तुम्हारी सहचरी बनकर अपने ऋणसे मुक्त होनेको उद्यत हूँ—

"दब रहे हो अपने ही बोझ
खोजते भी न कहीं अवलम्ब
तुम्हारा सहचर बनकर क्या न
उऋण होऊँ मैं बिना विलम्ब।"

सृष्टि-शक्तिके द्वारा उत्पन्न किये जाकर उसके विकासमें योग देना, सर्जनात्मक कार्यमें प्रवृत्त होना, ही वह ऋण है जिससे मुक्त होना प्रत्येक प्राणीका कर्तव्य है। इसी कर्तव्यके पालनके निमित्त श्रद्धा मनुको अपना साहचर्य समर्पित कर रही है। वह (कामकी, विश्व शक्तिकी) सर्जन इच्छाकी, प्रथम सृष्टि (काम-रति)की सन्तान थी; अतएव उसके ऊपर सृष्टि ऋण था। फल-प्रदनके कारण उसका विनाश भूमिकाके ऊपर नव निर्माणका कार्य सम्मुख था। सृष्टि विकासकी उस समय वह प्रथम आर-

श्यकता थी कि प्रत्येक व्यक्ति सर्जन-कर्ममें प्रवृत्त हो। नर-नारीका एक साथ होना इसकी प्रथम अनिवार्यता थी।

परन्तु श्रद्धाका यह समर्पण नरके प्रति नारीका सहज आकर्षणमूलक खिंचाव ही नहीं था। उसके मूलमें मानवता की और विश्वकी सेवा-भावना भी थी। दुःख करुणासे पूर्ण भव सागरसे पार लगाने, लौकिक जीवनको सफल बनाने या परम पुरुषार्थ की सिद्धिके लिए यह सेवा-वृत्ति अव्यर्थ अवलम्बन है। इसी सेवा-भावसे श्रद्धाने मनुके चरणोंमें अपने विगत विकार (विमल) जीवनको सहसा सौंप दिया—

"समर्पण लो सेवा का सार
सजल संसृतिका यह पतवार
आज से यह जीवन उत्सर्ग
इसी पद-तल में विगत विकार।"

श्रद्धाने दया, माया, ममता, मधुरिमा और अगाध विश्वास रूपी अमूल्य रत्नों-वाला अपना स्वच्छ हृदय मनुको समर्पित कर दिया। परन्तु इसका यह तात्पर्य नहीं है कि मनु उसके इन भाव-गुण रत्नोंका व्यक्तिगत भोग ही करें। उसका आशय यह है कि मनु उन गुणों-भावोंका उपयोग सृष्टि लक्ष्यकी प्राप्तिके निमित्त करें; सृष्टि शक्तिने श्रद्धा नारीके हृदयमें जिन भावोंको निहित कर रखा था उनका उपयोग करके मनु सृष्टिके विकासमें मौलिक योग दे। इसीलिए वह तुरत इस आशयको स्पष्ट कर देती है, और मनुको उदात्त कर्म दिशाका संकेत कर देती है—

"बनो संसृतिके मूल रहस्य
तुम्हीं से फैलेगी यह बेलि
विश्वभर सौरभ से भर जाय
सुमन के खेलो सुन्दर खेल।"

स्पष्ट हो गया कि श्रद्धाने इसीलिए अपना साहचर्य समर्पित किया कि उसके द्वारा मनु संसृतिरूपी लताका विस्तार करें, और जिस प्रकार पुष्प अपने सुख विकास-के द्वारा विश्वको भी सुख प्रफुल्लता प्रदान कर जाता है, उसी प्रकार मनु श्रद्धाके जीवनका चरम आनन्द विश्व आनन्दसे अभिन्न हो उठे। उनका आनन्द अन्योंका भी आनन्द हो। यहीं अहम् और इदमका समन्वय है, और यही आनन्दवादका चरम लक्ष्य है। 'शीर्षक'की विवेचनामें मैं यह संकेत कर आया हूँ कि इदम् और अहम्से समन्वित कामका स्वरूप 'कामायनी'में प्रस्तुत किया गया है। श्रद्धा मनुको उसी काम मार्गकी प्रेरणा प्रदान करती है।

× × ×

सम्भव है आजकी प्रगतिशील (?) मनीषाको, श्रद्धाका यह सेवा-भावसे किया गया मनु-नरके पद-तलमें 'विगत विकार' समर्पण थोथा आदर्शवाद प्रतीत हो। वह प्रश्न कर सकती है कि यह समर्पण नारी ही क्यों करे, नर क्यों नहीं? ऐसी प्रबुद्ध वैज्ञा-निक मनीषाको 'श्रद्धा'-कार्यका औचित्य समझाना कठिन है, फिर भी 'लज्जा' सर्गके

अन्तमें और 'कर्म' सर्गके आदिमें मैं एक बार उसे समझानेका प्रयत्न करूँगा। विषयान्तर न हो, इसलिए यहाँपर इतना ही कह देना मैं ठीक मानता हूँ कि 'वासना' सर्गमें नारीके प्रति नरका समर्पण भी दिखाया गया है। इसलिए यह पूछना गलत होग कि नारीके द्वारा ही समर्पण क्यों कराया गया? स्थितिकी माँग भी यही थी। मनु निराशा और जड़ता जम चुकी थी; वे जीवन-मार्गके थके प्राणी थे। उन्हें अवलम्बन आवश्यकता थी। और, श्रद्धामें परिस्थितियोंके अनुकूल अपनेको बनाकर अपने निष्ठा मार्गमें अग्रसर होनेकी क्षमता थी। इसलिए कर्मकी प्रेरणा और अपने सहयोगक प्रस्ताव श्रद्धाकी ओरसे ही हो सकता था।

काव्य-वर्णित पात्र, जैसा कि प्रारम्भ ही में कहा जा चुका है, एक साथ ही विशिष्ट और सामान्य दोनों होते हैं। वे केवल प्रतिनिधित्व नहीं करते; वरन् उनका अपना व्यक्तित्व और अस्तित्व भी होता है; वे अपनी विशेष परिस्थितियों और युगसे बद्ध होते हैं। यदि हम उस विशिष्ट भूमिकासे उन्हें हटाकर देखेंगे, यदि उन्हें सामान्य प्राणीके (या सामान्य नर-नारीके) प्रतिनिधि रूपमें ही देखेंगे, तो हम उन्हें ठीकसे न समझ सकेंगे। मैं यह कह आया हूँ कि श्रद्धा और मनु विशिष्ट युग और संस्कृतिसे सम्बद्ध थे; वे इतिहासके पात्र थे; इसलिए सामान्य नर-नारी होते हुए भी वे अपनी संस्कृति और परिस्थिति-गत जीवनको भी प्रस्तुत करते हैं।

जिस परिस्थितिमें ये पात्र खड़े हैं उसीमें उनके व्यापारोंकी समीक्षा होनी चाहिए। हमे यह देखना चाहिए कि उस दशामें इन पात्रोंके जिन भावों, विचारों और क्रियाओंकी अभिव्यक्ति हुई है वे सामान्य मानवीय प्रकृतिके नियमोंके अनुसार ग्राह्य हैं या नहीं। यदि हमे काव्यके भाव, विचार या क्रियामें मनोवैज्ञानिक औचित्य मिल जाता है तो चाहे वह आजकी विशेष विचार-धाराके मेलमें भले ही न हो, हम उसे साहित्यिक मूल्य प्रदान करेंगे। यदि केवल धर्म, दर्शन या अर्वाचीन समाज-शास्त्रका माप लेकर काव्य-जगको आँका गया; तो वह साहित्यिक परख नहीं होगी।

मनु-श्रद्धा जिस स्थितिमें हैं और उनकी प्रकृतियोंमे जो विशिष्टताएँ या अन्तर हैं, उन्हें देखते हुए श्रद्धाका मनुको समर्पण करना मनोवैज्ञानिक सत्य ठहरता है। यहाँ-पर यह प्रश्न प्रमुख नहीं है कि समर्पण कौन करे; नारी नरको समर्पण करे, या नर नारीको; अथवा दोनों एक साथ ही उठकर एक दूसरेके गले लग जायँ। मिलनकी यह स्थिति सृष्टिके नवोन्मेषकी स्थिति है। वह न आजका युग था और न आजकी तात्त्विक प्रगति ही थी। जीवन-यात्रा श्रम-सापेक्ष कार्य था। नारी श्रद्धाको अपार वीर्य-सम्पन्न नर-मनुके अवलम्बकी आवश्यकता अधिक थी। श्रद्धाके साहचर्य-समर्पणका यह भी एक कारण था।

× × ×

'आशा' सर्गमें कहा जा चुका है कि जल-प्लावनके उपरान्त प्रकृतिका नित नवीन सौन्दर्य उद्घाटित होने लग गया था; चारों ओर उल्लास और स्फूर्तिसे भरा जीवन उभर रहा था। इसी वस्तु-स्थितिको लक्ष्य करके श्रद्धा मनुसे कहती है कि

'देखो चारों ओर विधाताका मंगल-वरदान नव-शक्तिमान जीवनके रूपमें व्यक्त हो रहा है; विनाशपर जीवनकी विजय हो रही है—

"और यह क्या तुम सुनते नहीं
विधाता का मंगल वरदान—
'शक्तिशाली हो, विजयी बनो'
विश्वमें गूंज रहा जय गान।"

नव-सृजनोन्मुख विश्व-शक्ति अपने प्रकट उल्लासके माध्यमसे यह स्पष्ट संकेत कर रही है कि—

डरो मत अरे अमृत संतान
अग्रसर है मंगलमय वृद्धि
पूर्ण आकर्षण जीवन-केन्द्र
खिंची आवेगी सकल समृद्धि।"

"जीवन पूर्ण आकर्षण-केन्द्र है, सारी समृद्धियाँ स्वयं खिंची आवेंगी", इस आशा-जनक तथ्यको समझा लेनेके उपरान्त श्रद्धा कहती है कि देवोंकी असफलता तुम्हारी प्रगति और भावी मांगलिक उपलब्धियोंके लिए पर्याप्त संकेत प्रस्तुत कर रही है। जिन विकृतियोंके कारण देव-जाति नष्ट हो गयी उन्हें त्याग देना ही उस मार्गकी भूमिका है जिसपर चेतन अपनी पूर्ण प्रतिष्ठा पा सकता है:—

"देव-सफलताओं का ध्वंस
प्रचुर उपकरण जुटा कर आज
पड़ा है बन मानव सम्पत्ति
पूर्ण हो मनका चेतन राज।"

इस प्रसंगमें अब श्रद्धा एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण (आनन्दवादी) सिद्धान्तका प्रति-पादन कर रही है, जिसपर हमें विशेष ध्यान देना होगा; और वह यह है—

चेतना का सुन्दर इतिहास
अखिल मानव भावों का सत्य
विश्व के हृदय पटल पर दिव्य
अक्षरों से अंकित हो नित्य।"

देव-जीवनमें विकृतियाँ आयीं, और उनके कारण उसका विनाश हुआ। ऊपर श्रद्धाने मनुसे उन विकृतियोंको छोड़नेकी बात समझायी। परन्तु इस स्थलपर यह समझाना अत्यन्त आवश्यक है कि त्याग या दमन विकृतियों, इन्द्रियके विकृत व्यापारों-का होना चाहिए; न कि प्रकृत इन्द्रिय-व्यापारोंका, या भावोंके स्वस्थ रूपोंका। थोड़े ही समय पूर्व श्रद्धाने मनुको यह समझा दिया था कि 'श्रेयसे अभिन्न काम' जीवनके लिए मांगलिक होता है; और विश्व शक्ति उसीको स्वीकार करनेकी प्रेरणा देती है। उसने मनुको बताया था कि अखण्ड जीवनकी स्वीकृति ही आनन्द-मार्ग है। प्रस्तुत प्रसंगमें उसने पुनः इन सभी बातों, निष्कर्षोंको इन उपर्युक्त चार पंक्तियोंमें स्पष्ट कर

दिया। आनन्दवादको समझनेके लिए इन पंक्तियोंका अर्थ समझ लेना आवश्यक है। अतः मैं इस पदकी व्याख्या नीचे प्रस्तुत कर रहा हूँ—

"भाव चेतनमें ही होते हैं, अचेतन जडमें नहीं। अतएव आजतक चेतनाने जिन जिन भावोंको उपलब्ध किये हैं वे सभी उसके वैशिष्ट्य हैं। अखिल, सम्पूर्ण मानवीय भाव सत्य हैं। मनुष्यकी चेतनाने अपने विकासमें उन्हें प्राप्त किया है। वे चेतनाके इतिहासकी सुन्दर उपलब्धियाँ हैं, सुन्दर इसलिए कि उनसे विकास होता है जीवन शक्तिने अपने विकासमें उपयोगी समझकर ही उन्हें उत्पन्न किया है। अतएव उनमेंसे किसीका त्याग करना न केवल चेतनाकी उपलब्धिको ठुकराना होगा, वरन जीवन विकासको अवरुद्ध करना भी होगा। ऐसा करनेसे जीवन एकांगी, खण्डित और कुण्ठित होकर विकृत या नष्ट हो जायगा।

परन्तु चेतना द्वारा उपलब्ध सभी मानवीय भावोंको अविवेक पूर्ण ढगसे ग्रहण करनेमें भी विकृत और विनष्ट हो जानेका भय रहता है। इसलिए श्रद्धाका कहना है कि "चेतनाका सुन्दर इतिहास, जो सम्पूर्ण मानवीय भावोंका सत्य है, विश्वके हृदय पटलपर नित्य दिव्य अक्षरोंमें अंकित हो, अर्थात् सम्पूर्ण भावोंको गरिमापूर्ण व्यापारों (यही दिव्य अक्षर हैं)में व्यक्त किया जाना चाहिए।" ध्वनि यह है कि भाव सभी ग्राह्य हैं और अनिवार्य रूपसे ग्राह्य होने चाहिए, आवश्यकता इस बातकी है कि उनके द्वारा दिव्य व्यापार सम्पन्न हो। प्रेय और श्रेयका समन्वय निरन्तर होता रहे।

गीतामें इसी मार्गको श्रेयस्कर प्रतिपादित किया गया है : "मनुष्य न तो कर्मोंके न करनेसे निष्कर्मताको प्राप्त होता है और न कर्मोंको त्यागने मात्रसे वह सिद्धि उपलब्ध करता है। क्योंकि कोई भी किसी क्षणमें बिना कर्म किये नहीं रह सकता है। निःसन्देह सब लोग प्रकृति-गुणोंसे परवश हुए कर्म करते हैं। जो मूढ बुद्धि पुरुष कर्मेन्द्रियोंको हठसे रोककर इन्द्रियोंसे चिन्तन करता है, वह मिथ्याचारी, दम्भी होता है। और, जो पुरुष मनसे इन्द्रियोंको वशमें करके अनासक्त हुआ कर्मेन्द्रियोंसे कर्म योगका आचरण करता है वह श्रेष्ठ होता है।" यह संयम और भोगके समन्वयका उपदेश है। यही परामर्श श्रद्धाका है (दर्शन विमर्श भी देखिये)।

अन्तमें वह कहती है कि "इस प्रकार कार्य करनेसे विधाताकी यह कल्याणी सृष्टि पूर्ण सफल होगी। इस मार्गपर मनुष्यके आरूढ होनेपर सागर, ग्रह पुंज तथा ज्वालामुखियाँ अवरोधक न रह पायगे। मानवता इनको कुचलती हुई आनन्दकी उपलब्धि करनेमें समर्थ होगी, और वायु, पृथ्वी तथा पानीके द्वारा किसी भी रूपमें उसका यश प्रसारित होनेसे रोका न जा सकेगा। वह नाना प्रकारकी हलचलोंमें भी अभ्युदयकी दृढ मूर्ति बनी रहेगी। अपनी दुर्बलताओं, हारसे भी उसे बल मिलेगा। वह अपनी हारोंके उल्लासमें, असफलताओं, पराजयोंमें भी सौम्याद बढ़ती रहेगी। शक्तिके बिखरे, विच्छिन्न विद्युत्कणोंको समन्वित करके वह नवीन मानवता विजयिनी बने—

"शक्ति के विद्युत्कण, जो व्यस्त
विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय
समन्वय उनका करे समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय।"

मानवताकी यह अपूर्व विजय जल प्लावनके उपरान्त विश्व शक्तिकी आकांक्षा है। जो कार्य देवासुर न कर सके, उसे सफल करनेके लिए वह मानव-सृष्टि और उसके संवर्धनमें निरत हुई। वैदिक आर्य 'मानव'ने उसकी इस आकांक्षाको पूरा किया। परन्तु ऐसी विजय 'मानव'को तब मिली, जब वह उस विशिष्ट आर्य-जातिकी संस्कृतिके मार्गपर यात्रारत हुआ जिसके स्वरूपकी विवेचना श्रद्धाके कथनों द्वारा हुआ है। 'कामायनी' काव्यके अन्तमें प्रदर्शित 'मानव'की आनन्द प्राप्ति इसी संस्कृतिकी अनिवार्य उपलब्धि है; अतएव वही साधन होकर साध्य भी है; यदि उसे आयत्त करके कार्य किया जाय तो विजय निश्चित है। केवल आनन्द-साध्यपर दृष्टि रखनेसे विकृतियोंकी सम्भावना रहती है। इसीलिए कामायनीकारने, जैसा कि हम आगे देखेंगे, वैदिक संस्कृतिके अविकृत मूल आनन्दवादी रूपका बोध करा देनेमें ही अपनी कला-साधनाका लक्ष्य समझा और उसके द्वारा प्राप्त विविध विजयों तथा उनकी प्रक्रियाओं-को व्यंग्य रूपमें ही प्रस्तुत किया है। ✓

प्रमुख उपलब्धियाँ

(१) श्रद्धाने मनुको बताया कि यह विश्व उस परम शक्तिकी अभिव्यक्ति है जो सत्, चित और आनन्द है। इसलिए विश्व भी सत्, चित् और आनन्द है। जीवन सत्य है।

(२) जीवन केवल (विरक्तिमूलक) तपमें नहीं होता है, 'तरल आकांक्षाओंसे भरा हुआ' उसका दूसरा उल्लासमय पक्ष भी है। श्रेयसे अभिन्न काम वास्तवमें जीवनका व्यापक सत्य है। हमें उसे स्वीकार करना चाहिए।

(३) दुःख सुख विकासका सत्य है, अतएव दुःखका मौलिक महत्त्व है। उससे त्रस्त न होकर 'दुःख के डरसे तुम अज्ञात जटिलताओंका कर अनुमान' न करना चाहिए। 'दुःख-सुख' दोनोंमें जीवनका अखण्ड सत्य प्रवाहित होता है। परिवर्तन सृष्टिका मंगल-विधान है। इसलिए अखण्ड जीवनको ग्रहण करना ही हमारा कर्त्तव्य है।

(४) चेतनके द्वारा उपलब्ध सभी भावोंको स्वीकार करते हुए हमें ऐसे कार्य करने चाहिए, जिनसे सृष्टि शक्तिकी विकास आकांक्षा, आनन्दोपलब्धि-आकांक्षाकी पूर्ति हो सके।

(५) 'कर्मका भोग और भोगका कर्म' ही वह उपयुक्त मार्ग है, जिसपर चलकर 'जड़का चेतन आनन्द' पाया जा सकता है।

× × ×

समीक्षा

इन प्रमुख उपलब्धियोंके साथ 'श्रद्धा' सर्ग समाप्त होता है। यहीं काव्य बीजका वपन होता है। जिस आनन्दवादी, अद्वैतमूलक, काम मार्गका निरूपण श्रद्धा मनुसे किया और जिसे उसने 'मानवताकी विजय'का अव्यर्थ साधन बताया, उसप वह स्वय मनुके साथ चल पड़ी। यहींसे कार्यका आरम्भ है; और कामकी व्यापक भावनापर प्रतिष्ठित वैदिक आनन्दवादी संस्कृतिके मूल स्वरूपको प्रस्तुत करना ही व कार्य है। 'आनन्द' उसका अनिवार्य फल है।

अन्तमें यहाँ यह भी कह देना आवश्यक है कि कविने जल-प्लावनके उपरान्त दो पात्रोंको हमारे सामने अबतक प्रस्तुत किया है; मनु और श्रद्धा। ये दोनों देव जातिके थे; और मैंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि देव-जातिने इन्द्रके 'आत्मवाद' के सिद्धान्तको पूर्ण आयत्त नहीं किया, इसलिए वह भोगवादिनी ही होकर रह गई। प्रसादजीकी कल्पनाने 'जल-प्लावन'की ऐतिहासिक घटनाके मनोवैज्ञानिक अन्वेषण द्वारा यह निष्कर्ष निकाला (जिसे 'चिन्ता' सर्गमें मनुके द्वारा व्यक्त कराया जा चुका है) कि आत्मवादकी पूर्ण अनुभूतिके अभावके कारण ही देव भोगवादी बने और उनको आत्मवादकी स्थापनामें नितान्त असमर्थ या व्यर्थ एव बाधक समझकर सृष्टि शक्तिने उनका विनाश कर दिया। 'चिन्ता' सर्गमें मैं कह आया हूँ कि कामायनीकारकी कल्पना-सृष्टिका यही बीज मन्त्र है, इसीका विन्यास 'कामायनी'का काव्य-कलेवर है। इसलिए यह स्पष्ट हो जाता है कि 'आत्मवादी' संस्कृति (इन्द्रकी 'आनन्दवादी' संस्कृति)की पूर्ण प्रतिष्ठाका पावन कार्य ही वह महा-शक्ति अपनी इस नयी सृष्टिमें सम्पन्न करना चाहती थी, प्रसादजीने इसी संस्कृतिकी स्थापनाको अपना लक्ष्य बनाया।

परन्तु चूँकि प्रसादजीने 'जल-प्लावन'का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करके यह उपलब्धि प्राप्त की; अतः उन्होंने इसका विकास भी नितान्त मनोवैज्ञानिक ही रखा। कहीं भी उन्होंने मनोविज्ञानका आधार छोड़ा नहीं। यह मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि पुराने संस्कार सहसा विलीन नहीं हो जाते, उनका उभार होकर रहता है। अतएव उन्होंने दो पात्रोंको दो विभिन्न प्रवृत्तियोंका चुना। 'मनु'में एकेश्वरवाद, बहु देववाद, भोगवाद एव आत्मवाद आदि सभी प्रलयपूर्वकी विचार-धाराओंका अप्रौढ़-बोध था। जल-प्लावनके बहुत बाद वैदिक कालमें हम इन धाराओंका उन्मेष पाते हैं। अतः प्रसादजीने यह कल्पना की कि जल प्लावनके पूर्व देवासुर जातियोंमें इनका मूल रहा होगा, जो बादमें उभरता रहा और प्रबुद्ध आर्य तरुण सबने 'आत्मवाद'को ही स्वीकार किया। अतएव इन सभी विचार-धाराओंका उभार प्रसादजीने 'मनु'के व्यक्तित्वमें प्रदर्शित करना मनोवैज्ञानिक समझा। यही कारण है कि 'कामायनी'में मनुमें कई प्रकारके विचारोंका मिश्रण पाया जाता है।

दूसरी ओर श्रद्धा है जिसमें, प्रसादजीके अनुसार, 'आत्मवाद'की स्वस्थ एव पूर्ण अनुभूति प्रतिष्ठित थी। अतएव जल प्लावनके उपरान्त उसने मनुको उसी

ार्ग (आत्मवाद)की ओर प्रेरित किया। हमने 'आशा' सर्गमें देखा कि मनुके भीतरसे सुर संस्कृति' उभर चुकी थी। उसके उभारके बाद कविने श्रद्धा द्वारा 'आत्मवाद'के र्म अनुष्ठानका प्रसग प्रस्तुत किया।

इन सभी प्रमुख उपलब्धियोंको हमें निरन्तर स्मरण रखना होगा। अब हम आगे यह देखेंगे कि कविने प्रलय पूर्वकी संस्कृतिको मनुके भीतरसे उठनेकी प्रक्रिया, श्रद्धा द्वारा नवीन 'आत्मवादी' संस्कृतिकी स्थापना, और दोनोंके संघर्षों एवं हार-जीतको किस प्रकार मनोविज्ञानकी भूमिपर प्रस्तुत किया है।

कार्यकी व्यवस्थाका पूर्व-पक्ष : 'काम' सर्ग

कहा जा चुका है कि पहलेसे ही मनु तप निरत थे, और श्रद्धाने उन्हें बताया कि केवल तप जीवन-सत्य नहीं है। उसका दूसरा पक्ष आशा-उल्लाससे पूर्ण कर्म भोगका है। श्रेयसे अभिन्न काम जीवनका पूर्ण सत्य है, वह जीवनका उभय पक्ष-समन्वित, अखण्ड, सत्य है। इसके अतिरिक्त इस सदर्भमें श्रद्धाने अन्य जो कुछ भी कहा, उन सभी बातोंका प्रभाव मनुपर किसी-न किसी मात्रामें पड़ा ही होगा, और सबसे बड़ा प्रभाव तो यह रहा कि परामर्श देनेवाली स्वय साथ रहने लग गयी थी।

वेदान्त चिन्तनके अनुसार परम शक्तिकी सर्वप्रथम सृजनात्मिका स्फुरणाके मूलमें 'काम'की ही अवस्थिति मानी जाती है, और उस स्फुरणाका प्रथम फल भी 'काम' ही होता है, फिर उसी कामके द्वारा सृष्टि-चक्र घूमने लगता है। अतएव नवीन सृष्टिके मूलमें इसी कामको प्रस्तुत करना कविके लिए अनिवार्य था। मनु 'काम'से परिचित भी थे, यद्यपि कामके व्यापक, श्रेयसे अभिन्न 'मांगलिक' रूपका बोध उन्हें न था। कामका प्रारम्भिक रूप 'वासना', इच्छा, भोग वृत्तिका होता है। वह मनुकी अन्तश्चेतनामें, जैसा कि 'आशा' सर्गमें कहा गया है, उभर ही चुका था।

श्रद्धाकी रूप मधुरिमाने उस वासनाके मर्मका सहास स्पर्श कर लिया। अतएव मनुके भीतर यौवनका, तप-चलित यौवनका, जो मधुमय स्रोत अबतक दबा था, वह अब 'चेतन मन'के ऊपर आनेके लिए उछलने लगा। हम जानते हैं कि 'काम' यौवनको उद्वेलित करके ही प्रकट होता है, या यों कहिये कि यौवनका प्रस्फुरन 'काम'की अभिव्यक्तिकी प्रथम सहज प्रक्रिया है। मनुके भीतरसे 'काम' उत्पन्न होना चाहता था, इसलिए सर्वप्रथम उसने मनुके यौवनको पुन तरगायित कर दिया, और मनु अपने प्रलय पूर्व यौवनके विलास सुखकी स्मृतियोंमें डूब चले।

विषयोंके स्मरणसे उनके प्रति आसक्ति होती है, और फिर उससे 'काम' उत्पन्न होता है।—'ध्यायतो विषयान्पुंस सगस्तेषूपजायते, सगात् सजायते

कामः'''। 'चिन्ता' सर्गमें कविने उस विलास-सुखका बोध करा दिया है, अतः इस स्थलपर उस जीवनके विविध व्यापार-बिम्बोंको न प्रस्तुत करके कवि उनका अप्रत्यक्ष प्रभावात्मक वर्णन करता है। वह यौवनपर मधुमय वसन्तका रस-स्निग्ध रूपक डाल देता है। केवल एक उदाहरण देकर हम आगे बढ़ेंगेः—

"लतिका घूँघट से चितवन की
वह कुसुम दुग्ध सी मधुधारा
प्लावित करती मन अजिर रही
था तुच्छ विश्व वैभव सारा।
वे फूल और वे हँसी रही
वह सौरभ, वह निश्वास छना
वह कलरव, वह संगीत अरे
वह कोलाहल एकान्त बना।"

बीते विलासकी स्मृतियोंके अतिरिक्त बाह्य प्रकृतिकी ओरसे भी मनुकी वासना पर्याप्त रूपसे उद्दीप्त की जा रही थी। मनुके सामने 'प्रकृति' सुन्दरीका निरावृत दर्शन तो पहलेसे ही हो रहा था; अब उसका मधु-सौन्दर्य अपने पूर्ण निखारमें छलकने लगा था। मनुका उद्वेलित यौवन मचल उठा; और उनका हृदय कह पड़ा :—

"जो कुछ हो, मैं न सम्हालूँगा
इस मधुर भार को जीवन के
आने दो कितनी आती हैं
बाधायें दम संयम बन के।"

जब यौवनका भार इस स्थितितक पहुँच जाता है कि व्यक्ति दम, सयमकी रत्तीमात्र परवाह नहीं करता है, तब उसकी चेतना कुछ शिथिल पड़ जाती है, और नीचेसे उठकर जड़ताका तम (विषयान्धकार) उसे अपने अंकमें कुछ देरके लिए समेट लेता है। मनुकी दशा भी ऐसी ही थी :—

"चेतना शिथिल सी होती है
उन अन्धकार की लहरों में
मनु डूब चले धीरे धीरे
रजनी के पिछले पहरों में।"

चेतनाकी यह शिथिलता, जड़ताके तममें यौवनोद्वेलित चेतनाका कुछ देरके लिए डूब जाना, कामके प्रथम उन्मेषकी उपयुक्त भूमिका होती है। इसीपर काम खड़ा होता है, यहींसे नर-नारीके काम प्रेरित जीवनकी यात्रा आरम्भ होती है। मनुके अचेतन मनसे निकलकर काम उपर आ गया। कविने इसे स्वप्न विधान'के द्वारा प्रस्तुत किया है।

१ Dream Sequence

स्वप्न अचेतन मनका आरोपण होता है। मनु काम से परिचित थे ही; काम देवोंका सहचर था और उसीके इगितोंपर वे (जिनमे मनु भी एक थे) निर्बाध-विलास किया करते थे। इधर श्रद्धाके द्वारा भी उन्होने 'काम'को श्रेयसे अभिन्न और जीवनका पूर्ण सत्य माननेका परामर्श पाया था। इस बार उन्हें कामके विषयमें नवीन बोध प्राप्त हुआ। देवोंका परिचित 'काम' द्वैतमूलक भोगवादी था, पर श्रद्धा द्वारा निरूपित काम श्रेयसे एकरस, द्वैतमें अद्वैतकी भावनासे पूर्ण था। श्रद्धाकी बातें सुननेके उपरान्त मनुने पर्याप्त चिन्तन मनन किया ही होगा; उनकी मनन शक्तिका पता हमें 'चिन्ता' सर्गमें मिल चुका है। उन्होने मन ही मन 'काम'के स्वरूपकी समीक्षा की होगी। जिसकी छाप उनके अचेतन मन पर पडी होगी। कविने इस सर्गमें मनुके इसी अन्तर्मनन, चिन्तन या कामकी समीक्षाको प्रस्तुत किया है। हम आगे इसीपर विचार करेंगे; 'कार्य'-विकासका प्रथम स्फोट होनेके कारण यह प्रसग बडे महत्त्वका है। यह सर्ग 'काम'की स्वरूप विवेचना लेकर प्रस्तुत है।

× × × ×

काम-वाणी

चूँकि मनुमे कामकी परिचित स्फुरणा हो चली थी, इसलिए उन्हें स्वप्नमें 'काम'की सर्वप्रथम यही वाणी सुनाई पडी कि "मैं अब भी प्यासा हूँ, देव-जीवनमे विलासकी जो बाढ सी आयी थी, उससे भी मैं तृप्त न हो सका। सृष्टिका वह समय आया और चला गया परन्तु मेरी तृष्णाको तनिक भी शान्ति न मिली, वरन् वह बढती ही गयी। देव-जाति मेरी ही उपासनामें लीन थी, और उसी दशामे विनष्ट हो गयी। उस समय मेरी गति निर्बाध थी, वह मेरा अतिचार ही था जिसमे देव-जाति उन्मादकी परिधिमें कसी हुई थी। उसके लिए केवल मेरा सकेत नियम था, और मेरे व्यापक व्यामोहकी छायामें उसे विश्रामकी प्रतीति होती थी। मैं उसके विनोदका साधन, उसका सहचर काम था। मैं भी स्वय प्रसन्न था, और देवोंको मस्ती प्रदान कर रहा था। सक्षेपमें, मैं ही उनके जीवनकी सनियता था।"

"साथ ही मेरी पत्नी रति, अनादिवासना, देव-बालाओंके रूपमें निरन्तर आकर्षण बनी हुई थी। वह देव-बालाओंमें यौवन, उद्दीप्ति और मदका भराव सम्पन्न करके उनमे आकर्षण शक्ति बनाये रखती थी। इस प्रकार हम दोनों देव-सृष्टिपर छा

"मैं काम रहा सहचर उनका
उनके विनोद का साधन था
हँसता था और हँसाता था
उनका मैं कृतिमय जीवन था।
जो आकर्षण बन हँसती थी
रति थी अनादि वासना वही

"अव्यक्त प्रकृति के उन्मीलन के
अन्तर की उसकी चाह रही।"

अव्यक्त प्रकृति, महाशक्ति, के विश्वरूपमें व्यक्त होनेके आरम्भमें वही रति अनादि वासना थी। उस विश्व-चक्रकी प्रथम गतिमें हम दोनोंका ही अस्तित्व रहा। जिस प्रकार कुम्हारके चक्रकी गतिसे नानाविध रूप-आकार निर्मित होते रहते है, उसी प्रकार हम दोनों विश्वको रूप-आकार प्रदान करने लगे :—

"हम दोनों का अस्तित्व रहा
उस आरम्भिक आवर्तन-सा
जिससे संसृति का बनता है
आकार रूप के नर्तन सा।"

कहा जा चुका है कि वैदिक मान्यताके अनुसार सृष्टिके मूलमें काम ही होता है :—"कामस्तदग्रे समवर्तताधि"···। "तदैक्षत एकोऽहम् बहुस्याम्," उसने कामना की कि मैं एक हूँ, बहुत हो जाऊँ; बस वह एक बहुत हो गया। 'काम'के मूल रूपके विषयमें मनुकी अन्तर्चेतनापर यही मीमांसा उभर रही है। मानो 'काम' स्वयं कह रहा है कि "जिस समय प्रकृति, विश्व शक्ति, वासन्ती लताके समान पूर्ण युवती होकर पुष्पवती हो उठी, उसमें प्रजननशक्ति उत्पन्न हुई, उस समय हम दोनों (काम-रति) सर्वप्रथम दो मधु फलके रूपमें उत्पन्न हुए :—

"उस प्रकृति लता के यौवन में
उस पुष्पवती के माधव का
मधु हास हुआ था वह पहला
दो रूप मधुर जो ढाल सका।"

जिस समय वह मूल शक्ति उठकर, सक्रिय होकर, सृजन-कार्यमें तत्पर हुई, उस समय उसकी इच्छासे सारे परमाणु-तत्व सृष्टि-व्यापारमें अनुप्रवृत्त हो चले; चारों ओर मंगलकी वर्षा होने लगी। अन्तरिक्षमें मानो मधु-उत्सवका समारोह रहा। विद्युत्कण परस्पर आलिंगित होने लगे। उसे ही लोग सृष्टि कहने लगे। वह प्रकृति अपनी ही मायामें मतवाली थी। उस समय प्रत्येक नाश विश्लेषण संश्लिष्ट हो चला। ऐसा प्रतीत होता था मानो वसन्तका कुसुमोत्सव सम्पन्न हो रहा था। चारों ओर मादक मकरंद आनन्दकी वर्षा होने लगी थी। सृष्टिका यह आरम्भ कितना मधुर, आनन्द-उल्लाससे पूरित और मदिर था :—

"भुज लता पड़ी सरिताओं की
शैलों के गले सनाथ हुए
जलनिधि का अंचल व्यजन बना
धरणी का, दो दो साथ हुए।"

प्रणयी युग्मोंके इस सामान्य मदिर समारोहमें हम दोनों भी मस्त थे, कुसुमित काननमें प्रमुदित मलयानिलके समान हम मस्तीमें बेसुध थे। हम भूख-प्यास, प्रति-

की माँग, वे रूपमें लग पड़े। आकांक्षा और तृप्तिका समन्वय लेकर देव अमर हुए :—

"हम भूख-प्यास से जाग उठे
आकांक्षा तृप्ति समन्वय में
रति-काम बने उस रचना में
जो रही नित्य यौवन वय में।"

नित्य यौवन-वयमें रहनेवाली वह रचना देव-सृष्टि थी। वह विश्व-प्रकृति की प्रथम सृष्टि थी। उसमें काम और रति आकांक्षा-तृप्ति बनकर रहते थे। काम देवोंमें आकांक्षा, तृष्णा जगाता और सुरबालाओंके माध्यमसे रति उसकी तृप्ति करती। यह कार्य अतिचारके रूपमें परिवर्तित हो उठा। महाचितिको यह अतिचार पसन्द नहीं था। इसलिए उसने इस जातिका विनाश कर दिया। न वे अमर देवता रह गये, और न उनका भोग विनोद। काम केवल चेतना रह गया; क्योंकि उसका आधार (देव-जीवन) नष्ट हो गया। शरीरके विनष्ट हो जानेपर काम-चेतना मात्र 'अनंग' (आधारहीन) रह गयी। काम अपने इस चेतना-अस्तित्वको लेकर भटकने लगा। यही कामका इतिवृत्त रहा; अब वह एक सरल, सहज, भाव मात्र रह गया :—

"वे अमर रहे न विनोद रहा
चेतना रही, अनंग हुआ।
हूँ भटक रहा अस्तित्व लिये
संचित का सरल प्रसंग हुआ।"

× × × ×

समीक्षण

यहाँतक कामने अपने जल-प्लावनके पूर्व रूपकी और प्रलयके उपरान्तकी अपनी दयनीय स्थितिकी विवेचना की। अब वह उसके आधारपर प्राप्त किये गये अपने अनुभवों और निष्कर्षों को प्रस्तुत कर रहा है। ठीक ही कहा जाता है कि "सुर्खरू होता है इन्सा ठोकरें खानेके बाद"। महाचितिकी ठोकर खाकर 'काम'को वस्तुस्थितिका, सृष्टिके अभिप्रायका, और अपने स्वरूपका सम्यक् बोध हो गया। उसने यह प्रत्यक्ष अनुभव कर लिया कि निर्बाध-विलाससे तृप्ति नहीं होती है। कामाग्नि विषयोंके सेवनसे ठीक उसी प्रकार बढ़ जाती है जैसे हविष पाकर यज्ञाग्नि भभक उठती है :—

"न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूयमेवाभिवर्धते।"

कामको यह भी अनुभव हो गया कि कामाग्निका निर्बाध अभिवर्धन सृष्टि-शक्तिको स्वीकार नहीं है; अन्यथा भोगवादी देव-जातिका वह विनाश क्यों करती! इसीसे सम्बन्धित कामको एक अनुभव यह भी हुआ कि केवल भोग जीवनका सत्य या लक्ष्य नहीं है; क्योंकि यदि ऐसा ही होता तो देवोंमें कौन-सी त्रुटि थी? भोगके

रूप' (जिसे प्रसादजीने पूर्ण 'काम' स्वीकार किया है : देखिये शीर्षक विमर्श) उपलब्ध किया जा सकता है।

अस्तु, इस विवेचनसे हम यह निष्कर्ष निकाल रहे हैं कि कामने मनुको संक्षेपमें यही समझाया कि देव-जातिमें कामका रूप केवल योनि भोग (उत्पादन-शक्तिके वेग) तथा उससे अनिवार्य रूपमें सम्बद्ध अन्य इन्द्रिय सुखके भोगतक ही सीमित रहा, और इसलिए अमंगल रहा। उसका प्रगतिशील रूप, जो रचनात्मक कार्य द्वारा विश्व स्रष्टासे एक होनेका है, देव-सृष्टिमें बाधित था। मनुका आधार लेकर वह अपने इन्हीं दोनों पक्षोंके समन्वित रूपको पाना चाहता है। सुनिये उसकी वाणी :—

"आरम्भिक वात्या उद्गम मैं
अब प्रगति बन रहा संसृति का।
मानव की शीतल छाया में
ऋण शोध करूँगा निज कृति का।

"अर्थात् पहले मैं वात्या उद्गम था, मैंने केवल भूख प्याससे भरा योनि-भोग (तथा अन्य सभी इन्द्रिय भोगों)का जीवन संचालित किया। वात्याचक्रमें चक्कर भर होता है, प्रगति और विकास नहीं। देव जातिका जीवन भोग-नृत्यमें भ्रमित रहा। परन्तु अब मैं संसृतिकी प्रगतिका कार्य सम्पन्न करनेका संकल्प ले रहा हूँ। नव मानवीय शीतल (विवेकपूर्ण) सृष्टिमें अब मैं अपनी पुरानी गल्तियोंका परिहार करूँगा।"

"दोनों का समुचित प्रतिवर्तन
जीवन में शुद्ध विकास हुआ।
प्रेरणा अधिक अब स्पष्ट हुई
जब विप्लव में पड़ ह्रास हुआ।"

इन पंक्तियोंमें 'दोनों'पर ध्यान दीजिये। प्राय इसका अर्थ लोग भोग और संयमसे लगा लेते हैं, यह अर्थ गलत है, यह मैं नहीं कह सकता। परन्तु मुझे इतना अवश्य कहना है कि 'दोनों'का अर्थ 'भोग और संयम' कह देनेसे बात पूरी पूरी खुलती नहीं। यही कारण है कि मैंने ऊपर 'भोग' और 'कर्म'के प्रसंगानुकूल अर्थों की विवेचना की है। यदि वह विवेचना ठीक है तो 'दोनों'का अर्थ हुआ 'योनि-भोग' (उत्पादन-कार्य Sex) और रचनात्मक-काय। यौन भोगमें मानवकी सम्पूर्ण पशु प्रवृत्तियोंकी तृप्तिका भी समावेश हो जाता है। और, रचनात्मक कर्मके अन्तर्गत वे सभी कार्य आ जाते हैं जो सामाजिक और आध्यात्मिक चेतना भूमियोंपर सम्पन्न होकर मानवात्माके परमात्म रूपको आयत्त करनेमें सहायक बनते हैं। सूत्र रूपमें इन सभी कार्योंको 'संयम' कह दिया जा सकता है।

काम कहता है कि इन दोनोंके समुचित उपयोगसे ही जीवनका शुद्ध विकास होगा, जल प्लावनकी घटनाकी यही प्रेरणा है। चूँकि मनु कामके इस व्यापक रूपके प्रथम पक्षसे (भोगसे) पूर्ण परिचित थे, अतः उसकी महत्ताकी चर्चा न करके 'काम' अपने दूसरे पक्ष, रचनात्मक-कर्म की महत्ता उन्हें समझाने लगा —

"यह भीड़ मनोहर कृतियों का
यह विश्व कर्म रंगस्थल है
है परम्परा लग रही यहाँ
ठहरा जिसमें जितना बल है।"

मैं आरम्भमें ही बता आया हूँ कि श्री मुक्तिबोधजीको इन पंक्तियोंका अर्थ करनेमें भ्रम हो चुका है। कारण यह है कि उन्होंने सन्दर्भ, परिस्थितियोंके मनोवैज्ञानिक विश्लेषणपर ध्यान दिये बिना ही इनका अर्थ किया है। वास्तवमें अपने अनुभवोंके आधारपर (जिसकी चर्चा ऊपर हो चुकी है) काम यह निष्कर्ष निकालता है कि "यह विश्व केवल भोगका नहीं, अपितु मनोहर कृतियोंका क्षेत्र है।" यह विश्व कर्मकी अभिनयशाला है। यहाँ वही ठहर सकता है, जिसमें मनोहर (रचनात्मक) कृतियोंको सम्पन्न करनेकी क्षमता है। जो सृष्टिके विकासमें योग देनेवाले सुन्दर कर्म नहीं करेगा उसे महाशक्ति, विश्वाभिनयकी सूत्रधारिणी शक्ति, देव-जातिके समान ही इस रंग-मंचसे हटा देगी। इस सृष्टिमें प्राणियोंका उत्पादन-क्रम निरन्तर गतिशील है। प्रकृति उनसे सुन्दर कर्मोंका व्यापार चाहता है; वह चाहती है कि उसकी सम्पूर्ण सम्भावनाओंको अभिव्यक्त होनेमें वे सहायक बनें। जो प्राणी इस योग्य नहीं सिद्ध होते, उन्हें छोड़कर वह अन्योंकी उत्पादनामें प्रवृत्त होती है। देवासुर विनाश इसका प्रबल उदाहरण है।

पश्चिमके प्रसिद्ध नाटककार बर्नार्डशाने 'दी सुपर मैन' नामक अपनी कृतिमें लिखा है कि "यदि मनुष्यको जीवित रहना है तो उसे इसके योग्य होना पड़ेगा। नहीं तो, जो जीवन शक्ति[1] बन्दर जातिको अपने उद्देश्य (विकास)की उपलब्धिमें अनुपयोगी पाकर मानवीय सृष्टि कर चली, वह मानवको भी (विकासमें अनुपयोगी पाकर) छोड़कर अन्य कोई सृष्टि कर सकती है। फिर तो मानवका महत्त्व ही समाप्त हो जाता है।" गोसाईंजीका भी कहना है कि "*कर्म प्रधान विश्व करि राखा, जो जस करइ सो तस फल चाखा।*" यदि हम व्यावहारिक क्षेत्रमें भी देखें तो हमें यही पता चलेगा कि इस संसारमें रचनात्मक कर्म करनेवालोंका ही यश अक्षुण्ण रह पाता है, ऐसे व्यक्ति ही युग-युगकी मानवता द्वारा पूजित होते हैं, और उन्हींकी परम्परा स्थिर रहती है। वही मानवीय संस्कृति अमर होती है जिसमें कर्म-गौरवका आग्रह होता है।

इतिहास इस तथ्यका प्रमाण लेकर प्रस्तुत है कि न जानें कितनी जातियाँ इस विश्व रंगस्थलीपर बिजलीके समान कौंधती हुई अवतीर्ण हुई और अपने प्राणान्तक प्रहारसे मानवताको कुचलती हुई कुछ कालतक गर्वोन्नत अट्टहास करती रहीं, परन्तु अन्तमें सम्पूर्णतः विलीन हो गयी। भारत भूमिको ऐसी बर्बर जातियोंके उन्मत्त-नृत्य और विलयनकी अनुभूति है। उसे यह भी ज्ञात है कि सुन्दर, मनोहर, रचनात्मक कर्मोंको निष्ठापूर्वक सम्पन्न करनेवाली आर्य-जातिकी परम्परा न केवल आजतक अक्षुण्ण

1 Life force.

बनी है, वरन् उसके ज्ञानालोकको पुन प्रस्फुटित होनेका सुयोग भी उपस्थित हो चला है। फिरसे अशोक चक्र और आर्य वैदिक संस्कृतिका सर्वतोमुखी उन्नयन स्पृहणीय हो उठा है।

मनोहर कर्मकी व्याख्या

अब यह प्रश्न उठता है कि मनोहर कृतियों, रचनात्मक कार्योंसे 'काम'का अभिप्राय क्या है ? आगे वह इसीको स्पष्ट कर रहा है :—

"वे कितने ऐसे होते हैं
जो केवल साधन बनते हैं
आरम्भ और परिणामों के
सम्बन्ध सूत्र से बुनते हैं"

"कुछ लोग कर्म तो करते हैं परन्तु वे केवल साधन होते हैं, वे कर्मके वास्तविक कर्ता नहीं होते हैं। प्रकृतिकी जैव आवश्यकतासे या अन्य किसीके द्वारा नियोजित साधन रूपमें वे कर्मरत होते हैं। उनमें स्वयं कर्म निर्धारणकी क्षमता नहीं होती है। उनमें वास्तवमें परिस्थितियों, परिवेश, परम्परा, प्रकृति आदिकी ही अभिव्यक्ति होती है। सही अर्थमें वे दास होते हैं, स्वामी (कर्ता) नहीं। जिस प्रकार जुलाहे धागोंसे कपड़ा बुनते हैं, उसी प्रकार उनको माध्यम बनाकर प्रकृति, परिस्थिति, परिवेश, परम्परा आदि ही अपनेको व्यक्त करते हैं," (ऐसे लोगोंको 'रहस्य' सर्गमें श्रद्धाने भी वास्तविक कर्ता नहीं माना है : देखिये 'रहस्य' सर्ग)।

स्पष्ट है कि यहाँपर 'काम' प्रत्येक मनुष्यका स्वतन्त्र चेता कर्ता बनना ही श्रेयस्कर मान रहा है। जो व्यक्ति जिस मात्रामें स्वतन्त्र-चेता, आत्मनिर्भर होगा उसकी मानवता उसी मात्रामें उच्च कोटिकी होगी। प्राकृतिक आवश्यकता और स्वतन्त्रता दोनों उत्कृष्ट व्यक्तित्वके विकासके लिए अपेक्षित हैं। केवल जैव आवश्यकतासे परिचालित जीवन पाशविक सृष्टिसे अधिक भिन्न वस्तु नहीं होता। उत्कृष्टताके लिए, इसके अतिरिक्त, स्वतन्त्रताकी अनिवार्यता होती है। स्वतन्त्रता चेतनाका वैशिष्ट्य है, इसीके माध्यमसे वह अपनी पूर्ण अभिव्यक्ति करनेमें समर्थ होती है। गोसाईंजीने लिखा है — "परवस जानि हँस्यो इन इन्द्रिन निज बस ह्वै न हँसैहौं।" इन्द्रियोंकी दासता, भोगकी दासता,से ऊपर उठकर 'निज बस' होना, अपनी चेतनाका उन्नयन करना, ही वास्तवमें कर्ता होना है।

विकसित चेतनाकी अभिव्यक्ति स्पष्ट रूपसे तीन स्तरोंपर दिखायी देती है। एक स्तर वनस्पतियोंका है, दूसरा मानवके अतिरिक्त सभी जीवोंका है और तीसरा स्तर मानव सृष्टिका है। प्रथम दो स्तरोंमें ऊर्ध्वगामी चेतनाकी गति प्रकृतिके स्थूल आवरणके कारण मुक्त नहीं हो पाती। इन सृष्टियोंमें प्रकृतिके तथा उसके अतिरिक्त परिस्थितिके नियम ही चेतनाकी क्रिया सञ्चालन करते हैं। अतएव चाह कर भी अन्दरकी चेतना अपनी स्वतन्त्र अभिव्यक्ति नहीं कर पाती। पर उसके वेगको रोकना भी असम्भव है। उसने इन दो स्तरोंसे ऊपर उठकर तीसरे स्तर अर्थात् मनोमय स्तर

पर अपनेको प्रस्तुत किया। यहाँ वह स्वयं आत्मा बनकर प्रस्तुत होती है, जिसको अन्यत्रसे न प्रकाश लेना है, न गति रुद्ध रहना है। यहीं वह स्वतन्त्र, प्रकृतिके स्थूल आवरणसे मुक्त, सञ्चरण करती है। यहीं वह प्रथम दो स्तरोंके जीवनका भी स्वतन्त्र भोग करती हुई महाचेतनासे एकरस होनेमें समर्थ होती है। काम मनुमें इसी स्वतन्त्र चेतनाकी मनोहर अभिव्यक्ति देखना चाहता है। आगेकी पंक्तियोंमें काम 'मनोहर कर्म', अर्थात् स्वतन्त्र-चेता साधक (कर्ता)के कर्मका उदाहरण प्रस्तुत करता है :—

"उषा की सजल गुलाली जो
घुलती है नीले अम्बर में
वह क्या है? क्या तुम देख रहे
वर्णों के मेघाडम्बर में।
अन्तर है दिन और रजनी का
यह साधक कर्म बिखरता है
माया के नीले अंचल में
आलोक बिन्दु सा झरता है।"

"उषाकी जो आर्द्र गुलाली नीले नभमें घुलती है, उसका क्या रहस्य है? इन वर्णोंकी सघटना (या प्रातः एवं सन्ध्याकी रंग बिरंगी मेघ-मालाओं)के भीतर तुम क्या देखते हो? वास्तवमें यह रहस्य साधक कर्मका है जो मायाके नीले आँचल (आकाश)में आलोक बिन्दु बनकर झरता है। यह दिन और रातका अन्तर है।"

काम कहना यह चाहता है कि सूर्य स्वतन्त्र चेता कर्ता है, वह आत्म निर्भर-साधक (स्रष्टा) है जो मनोहर कृति सम्पन्न करता है, वह स्वयं ज्योति है। उसीकी साधना (या कर्म) उस आकाशमें उषाकी स्निग्ध अरुणिमामें प्रस्फुटित होकर आलोक बनती है और सारे विश्वको ज्योति प्रदान करती है। साधक सूर्यका यह कर्मालोक ही दिन और रातका विभेदक गुण है। रातमें इस कर्मालोकका अभाव होता है। मायाके नीले आँचल (काल)से आच्छादित इस जीवन (विश्व)में स्वतन्त्र-चेता (साधक) कर्ताका कर्म ही आलोक प्रदान करता है। इसीके द्वारा प्राणी श्रेयको उपलब्ध करता है। जो सूर्यके समान कर्म साधक न होकर केवल साधन होता है वह आप्रतिष्ठ नहीं, वरन् तमका जीवन व्यतीत करता है। सृष्टिशक्ति तमकी ओर नहीं, वरन् ज्योतिकी ओर अपना विकास चाहती है, इसलिए ऋषियोंकी प्रार्थना थी कि "तमसो मा ज्योतिर्गमय"

इससे कामके स्वरूपका विश्लेषण भी हो जाता है। जिस प्रकार उषा-कालमें साधक (सूर्य)का कर्म राग, उल्लास, प्रमोदमें आरम्भ होता है और धीरे धीरे आलोक बनकर आकाश-व्याप्त हो जाता है उसी प्रकार जीवनमें काम पहले राग, उल्लास, स्नेह स्निग्धता मस्ती लेकर आता है, और धीरे धीरे जीवनको आलोक, श्रेयसे ज्योतित कर देता है। उसमें प्रेय और श्रेय एक हो जाते हैं, श्रेय प्रेयका समन्वय ही आनन्द है। अतएव काम जीवनको प्रेयसे श्रेयतक ले आनेवाली मांगलिक चेतना है। अपने राग और कर्मालोकमें वह सभी भावों, कर्मों और विचारोंको समाविष्ट कर लेता है।

नर नारीके मिलनपर गृहस्थी निर्मित होती है, फिर वात्सल्यके द्वारा दम्पतिका जीवन विकासोन्मुख होकर, कुटुम्ब, समुदाय, राष्ट्र और वसुधैवकुटुम्बकमूलककी मांगलिक भावनाओंको उपलब्ध कर लेता है। व्यक्तिके विकासकी यह पराकाष्ठा है। अतएव यह कहना गलत न होगा कि यदि जीवनमें इस कोटिकी व्यापक-काम-भावनाको ग्रहण कर लिया जाय तो जीवनके चरम लक्ष्य आनन्दकी प्राप्तिके लिए अन्यत्र जानेकी आवश्यकता नहीं है।

वैदिक काम भावना इसी कोटिकी थी। आर्य गृहस्थका जीवन इसी भावनाकी निर्मिति है। 'कामायनी', जैसा कि हम आगेकी विवेचनामें भी देखेंगे, इसी आर्य गृहस्थ जीवनकी स्थापनाका प्रयास करती है। यह व्यवस्था शैवागम या शाक्तागमकी नहीं, उसके पूर्वकी तरुण आर्य जातिकी व्यवस्था थी। प्रसादजी इसीको आर्योंकी मौलिक जीवन व्यवस्था मानते थे। यह व्यवस्था कोई वाद नहीं है, वरन् जीवनके सामान्य विकास सिद्धान्तके आधारपर गृहीत है। आज भी इस गृहस्थ-जीवनको ही मानव विकासका आधार और प्रमुख साधन माना जाता है।

× × ×

श्रद्धाकी ओर प्रवर्तन

मनुको अपने प्रेय श्रेय समन्वित रूपका बोध करा लेनेके उपरान्त 'काम' कहता है '—"जिस मूल शक्तिने विश्व-लीला प्रारम्भ की थी, वह 'प्रेम कला' (या प्रेम शक्ति) थी। उसका सन्देश सुनानेके लिए, उसके अभीष्टको व्यवहारमें ढालनेके लिए, वह 'कमला' (यहाँ उसका संकेत श्रद्धाकी ओर है) अवतरित हुई है। वह हम दोनोंकी सन्तान है। वह अत्यन्त सुन्दरी और भोली भाली है, तथा उल्लास, आमोद और आनन्दसे पूरित है।"

आगे कामका कहना है —

"जड़ चेतनता की गाँठ वही
सुलझन है भूल सुधारों की
वह शीतलता है शान्ति मयी
जीवन के उष्ण विचारों की।"

नर नारीको पुरुष (ब्रह्म) और प्रकृतिका दार्शनिक रूपक मानकर इन पंक्तियों का अर्थ करना मुझे मान्य नहीं है। वह सही हो सकता है, परन्तु सन्दर्भकी माँग दार्शनिक रूपकात्मक अर्थकी नहीं है। मेरे अनुसार इनका अर्थ इस प्रकार है :—

"यही जड़ चेतनताकी गाँठ अर्थात् जीवनकी और उसके भूल-सुधारकी सुलझन है। वह जीवनके उष्ण विचारोंकी शान्तिमयी शीतलता है।" मनुष्यका जीवन जड़ चेतनके प्रगाढ़ आलिंगनमें बद्ध होता है। अतएव वह अपनी जड़तासे भूल करता है और चेतनताके कारण उसका सुधार करनेमें प्रवृत्त होता रहता है। इसी भूल सुधारमें उसका जीवन उलझता चलता है। मनुष्य अपनी जड़-चेतनताकी इस गाँठको,

उलझनको सुलझानेका प्रयत्न करता है, पर यह कार्य सबके वशका नहीं होता है। न यह उलझन दूर हो पाती है, न जीवनमें समगति स्थापित हो पाती है; और परिणाम स्वरूप न उसका पूर्ण विकास हो पाता है। जडता और चेतनताकी समगति स्थापित करना आत्म विकासकी प्रथम अनिवार्यता होती है।

प्रायः देखा जाता है कि कुछ लोग जडताके अभिभूत होकर उसीकी सम्पुष्टिमें प्रवृत्त होते हैं और चेतनताका विकास रुक जाता है, वे इसके उपासक होते हैं। दूसरी ओर कुछ लोग चेतनताके ही विकासमें प्रवृत्त होकर जडताको पूर्णतः त्याग देनेका आग्रह करते हैं और तपमें निरत होते हैं। इन दो अतिचारियोंके बीच उन लोगोंकी स्थिति है जो विधि निषेधमय वैदिक कर्म नियमोंके सहारे इस उलझनको सुलझाना चाहते हैं। प्रथम मार्ग इन्द्रिय भूख-तृप्तिका है, दूसरा विरक्ति-मूलक ज्ञान (तप)का और तीसरा एषणा द्वारा संचालित विधि निषेधमय कर्मानुष्ठानका। पहला इच्छाका, दूसरा ज्ञानका और तीसरा 'कर्म'का मार्ग है, जिनके समन्वयका प्रसंग प्रसादजीने रहस्य सर्गमें प्रस्तुत किया है (देखिये 'रहस्य' सर्ग)। यह समन्वय श्रद्धाके द्वारा ही हो पाता है। 'काम' भी मनुसे यही कहता है कि जड चेतनताकी समस्याको सुलझानेवाली वही श्रद्धा है।

प्रश्न होगा कि श्रद्धा इस समस्याको किस प्रकार सुलझा सकती है? 'श्रद्धा' सर्गमें मैंने श्रद्धाकी प्राकृतिक विशेषताकी ओर ध्यान आकृष्ट किया है। मैंने यह बताया है कि प्रत्येक जीवन स्थितिसे तादात्म्य स्थापित करके, उसके भीतर से कर्तव्य कर्मका निधारण करना और उल्लासके साथ, विश्वास आशाके साथ, उसका पालन करना उसकी प्रकृतिगत विशेषता थी। कामके स्वरूपको हमने देख लिया कि वह श्रेय प्रेय समन्वित एक मांगलिक चेतना है जो जीवनके उद्भव और पूर्ण विकासका सबल-साधन है। वह वैदिक प्रेमका स्वरूप है। श्रद्धा इसी कामकी सन्तान है। अतएव जडता और चेतनताकी समस्याको वह सुलझानेमें पूर्ण समर्थ है।

श्रद्धामें स्वतन्त्र चेतना शक्ति थी और वह 'मनोहर' कृतियोंको करनेकी प्रबल आकांक्षासे प्रेरित थी, इसे हम 'श्रद्धा' सर्गमें देख आये हैं। जड-चेतनताकी गाँठकी समस्याके विषयमें उसने स्पष्ट रूपसे मनुके सम्मुख यह समाधान प्रस्तुत कर दिया था (जो आनन्दवादी समाधान ही है) कि —"कर्मका भोग, भोगका कर्म, यही जडका चेतन आनन्द" (इसकी व्याख्या की जा चुकी है)। बस यही वह समाधान है जो श्रद्धा जानती थी। (विस्तृत विवेचनाके लिए देखिये—आनन्दवादका प्रकरण, क्योंकि श्रद्धाके द्वारा आनन्दवादकी अभिव्यक्ति करायी गयी है, और जैसा कि उस स्थलपर देखा जायगा, आनन्दवाद जड-चेतनका समन्वयात्मक जीवन दृष्टिकोण ही है। वह जीवनकी रसात्मक अनुभूति है)।

यहाँपर यह समझ लेना ठीक होगा कि 'श्रद्धा' *प्रसादकी आदर्श नारीका* प्रतिनिधित्व तो करती है, परन्तु यह मानना ठीक न होगा कि वह नारी जातिका प्रतिनिधित्व करती है। सभी नारियाँ 'श्रद्धा' नहीं हो सकतीं। काव्य-वर्णित ऐति

हासिक पात्र अपना वैशिष्ट्य बनाये रखकर केवल अपने प्रकृतिगत धर्म (या गुण विशेष)का प्रतिफलन करते हैं, और इसलिए वे उन्हीं व्यक्तियोंका प्रतिनिधित्व कर सकते हैं जिनमें वे धर्म (या गुण) हों। उन्हें सर्वसामान्यका प्रतिनिधि मानना गलत होगा।

दार्शनिकोंने जड प्रकृति (माया)को नारी और चेतन (ब्रह्म)को पुरुष (नर) कहकर ब्रह्म और उसकी माया-शक्ति (प्रकृति)के सम्बन्धको स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है। इससे यह समझना भूल ही होगी कि सभी नारियाँ जड हैं, और जडतामें ओर पुरुष (नर)को खींचती हैं; तथा सभी नर चेतन हैं, वे जडतासे भागना चाहते हैं पर नारी उन्हें पृथ्वी (भौतिकता)से सम्बद्ध रखती है। इसी प्रकार यह कहना भी भ्रम ही होगा कि सभी नर प्रकृतित उत्ताप (उष्णता)में जलते हैं और नारी उन्हें शान्ति शीतलता प्रदान करती है। यह सब मानना दार्शनिकताके प्रति व्यामोह नहीं तो और क्या होगा?

जड चेतनताकी गाँठकी समस्या, भूल सुधारोंकी समस्या, केवल नरके लिए नहीं वरन् नारियोंके लिए भी है। यह मानव जीवनकी सामान्य समस्या है। जिस प्रकृतिगत गुणके द्वारा 'श्रद्धा' इसे सुलझा सकती थी, उसके द्वारा विश्वके सभी नर-नारी इस समस्याको सुलझा सकते हैं। इसीलिए मेरे मतमें उपर्युक्त पंक्तियोंका तात्पर्य दार्शनिक रूपकके द्वारा न केवल स्पष्ट नहीं होता, वरन् उसके स्पष्टीकरणमें बाधा भी प्रस्तुत होती है। ऊपर मैंने संकेत किया है कि जड-चेतनकी ग्रन्थिको खोलनेका प्रसादीय हल 'आनन्दवादी' जीवन सिद्धान्त है, जो नर नारी दोनोंके लिए समान रूपसे उपयोगी है।

× × ×

अन्तमें काम कहता है कि उसे ('श्रद्धा'को) पानेकी इच्छा हो, तो योग्य बनो। तात्पर्य यही है कि श्रद्धाको, जो जड-चेतनताकी समस्याको हल करना जानती है, पानेके लिए उसके मार्ग-दर्शनमें चलना सीखो। यहाँपर भी यह ध्यानमें रखना चाहिए कि कामका यह तात्पर्य नहीं है कि नरको नारीके मार्ग-दर्शनमें चलनेसे श्रेय-की प्राप्ति होती है, उसकी समस्याएँ दूर हो जाती हैं। हमें कहीं भी इन पात्रोंके ऐतिहासिक व्यक्तित्वकी प्रकृतिगत विशेषताओंको भूलना नहीं चाहिए। वास्तवमें मनुको व्यापक काम भावनाकी प्राप्ति थी ही नहीं, वह तो केवल श्रद्धामें थी; और चूँकि केवल उसी भावनाके द्वारा (प्रसादके अनुसार) जीवन आनन्दमय हो सकता है, इसलिए मनुको उसके मार्ग दर्शनमें चलनेका परामर्श दिया गया होगा।

परन्तु मनुकी समझमें बात न आयी। उन्होंने पूछा 'पथ कौन वहाँ पहुँचाता है?' काम-वाणी इस हो चुकी थी, मनुका वह स्वप्न भंग हो गया, अर्थात् अचेतन मनका उभार दब गया। सबेरा हो गया; मनु जगे तो अनायास ही उनके हाथोंमें रोम-लता थी। (कवि यह संकेत प्रदान करना चाहता है कि इस घटनासे मनुने यह

भी व्यवधान तिलमिला देता है। प्रणयियोंका कहना है कि ऐसी स्थितिमें 'हार पहारसे लागत है'। गोपियाँ श्रीकृष्णकी मुरलीको भी सहनेमें असमर्थ थीं। तात्पर्य यह है कि रति भूर ईर्ष्या लेकर जाग्रत होती है।

मनु भी ईर्ष्यासे अभिभूत हो उठे। पशुओंके प्रति प्रदर्शित श्रद्धाका प्रकृत स्नेह भी मनुको पीडा देने लगा। अबतक श्रद्धाके प्रति अपने रागको उन्होने तप विभूति के आवरणमें छिपा रखा था, परन्तु अब ईर्ष्या-पवनके कारण वह कोमल तपावरण उघडने लगा था:—

"यह विराग विभूति ईर्ष्या-पवन से हो व्यस्त
बिखरती थी, और खुलते ज्वलन-कण जो अस्त
किन्तु यह क्या एक तीखी घूँट, हिचकी आह
कौन देता है हृदय मे, वेदनामय डाह।"

एक दिन श्रद्धा एक पशु शावकको स्नेह प्रदान करती हुई मनुकी ओर आ रही थी। इस दृश्यको देखकर वे सोचने लगे —

"आह! यह पशु और इतना सरल सुन्दर स्नेह
पल रहे मेरे दिये जो अन्न से इस गेह
मे? कहाँ मैं? ले लिया करते सभी निज भाग
और देते फेंक मेरा प्राप्य तुच्छ विराग।"

× × ×

"विश्व में जो सरल सुन्दर हो विभूति महान
सभी मेरी हैं, सभी करती रहे प्रतिदान।
यही तो, मैं ज्वलित वाडव-वह्नि नित्य अशान्त
सिन्धु लहरों-सा करें शीतल मुझे सब शान्त।"

प्रथम चार पंक्तियाँ तो ईर्ष्याको प्रणयकी प्राकृतिक सीमाके भीतर ही व्यक्त करती हैं। यह प्राकृतिक है कि प्रणयी अपने और अपने प्रेमालम्बनके बीच निर्दोष वस्तुओंको भी नहा आने देना चाहता है। ईर्ष्याका यह रूप प्रणयारम्भमें अनिवार्य होता है। इश्क और हसदका अनिवार्य साथ होता है। परन्तु अन्तिम चार पंक्तियोंमें मनुकी ईर्ष्या जिस सीमाको छू रही है वह असाधारण है, और उसकी असाधारणतामें कोई रहस्य है।

'आशा' सर्गमें हम यह देख आये हैं कि "मनुमें देव-संस्कृति फिरसे सजग हो उठी थी।" उसी स्थलपर हम यह भी संकेत ग्रहण कर लिये थे कि देव-जीवनकी विकृतिया के मनुके जीवनमें उभरनेकी सारी सम्भावनाएँ बनी हुई हैं। 'आशा' सर्गकी प्रमुख उपलब्धियोंमें यह एक उपलब्धि है। इस स्थलपर उपर्युक्त अन्तिम चार पंक्तियों में हमें देव विकृतिके पुनरुभारका संकेत बोध हो जाता है। इस प्रकार उत्तेजना पाकर रागाधिक्य ईर्ष्याने मनुके भीतर दबे हुए विकृत 'अहम्'को जगा दिया। 'चिन्ता' सर्गमें कहा जा चुका है कि देव-जाति एकाधिकार और भावनासे अभिभूत थी। यह

निजको भोक्ता और शेष विश्वको भोग्य मान बैठी थी। मनुका जल प्लावनसे पूर्वका जीवन इसी मान्यताकी छायामें स्फुरित रहा। यही उनका संस्कार था।

उपर्युक्त अन्तिम चार पंक्तियोंमें उनका यह संस्कार व्यक्त हो उठा है। वे कहते हैं:—"विश्वमें जो कुछ सरल सुन्दर महान् विभूतियाँ हैं, वे सब मेरी हैं, वे सभी मेरी भोग्या हैं। मैं उस बाडवाग्निके समान हूँ जो निरन्तर अपनी तृप्ति चाहती है फिर भी अशान्त रहती है। जिस प्रकार समुद्रकी लहरें उसे शीतल करती रहती है, उसी प्रकार विश्वकी प्रत्येक वस्तु मेरा प्रतिदान करे।" यह भोगवादकी, विकृत अहम्‌की, पराकाष्ठा है।

आगे चलकर मनुका यह देव संस्कार कई भयानक कार्योंके रूपमें व्यक्त हुआ है। उन्हें देखकर जो लोग यह कहनेके भ्रममें पड जाते हैं कि कविने मनुको गिराया है उन्हें इस स्थलपर, तथा 'आशा' सर्गके सम्बन्धित अंशमें, प्रस्तुत किये गये इस संकेत को याद रखना होगा कि रह-रहकर मनुके देवत्वका भभक उठना प्राकृतिक एवं मनोवैज्ञानिक तत्त्व है और कार्य-विधानकी माग है। इन उभारोंके अभावमें मनुका व्यक्तित्व प्रौढताको प्राप्त ही न हो पाता (पात्र विमर्श देखिये)।

× × ×

मनुकी ईर्ष्याका यह असाधारण उभार आवेगजन्य और क्षणिक था। श्रद्धाके पास आते ही वह दब गया, और मनु प्रणयकी स्निग्धतामें बह चले। नारी श्रद्धाको रति-भूखी आँखोंसे निरख कर नर-मनु मुग्ध हो गया और कह उठाः—

"कौन हो तुम विश्व माया कुहक-सी साकार
प्राण सत्ता के मनोहर भेद-सी सुकुमार
हृदय जिसकी कांत छाया में लिये निश्वास
थके पथिक समान करता व्यजन ग्लानि विनाश।"

प्रणय की इस विमुग्धतामें मनुको अपने प्रलय पूर्व जीवनकी सहचरी काम-बालिकाकी याद आ गयी। प्रेम भावने स्मृतिको स्पष्ट कर दिया; उन्होंने पहचान लिया कि वह बालिका इस समय उनके सम्मुख उपस्थित युवती श्रद्धा ही तो है:—

"वही छवि हाँ वही जैसे किन्तु क्या यह भूल?
रही विस्मृति सिन्धु में स्मृति नाव विकल अकूल।
जन्म संगिनि एक थी जो काम बाला, नाम
मधुर श्रद्धा था, हमारे प्राण को विश्राम
सतत मिलता था उसी से, अरे जिसको फूल,
दिया करते अर्घ्य में मकरंद, सुषमा सूल।"

'प्रीति पुरातन'की इस भूमिकाने दोनोंको ओर निकट ला दिया। मनु अपनी चेतनाका समर्पण करते हुए कहने लगे.—

"आज ले लो चेतना का यह समर्पण दान
विश्व रानी सुन्दरी नारी जगत की मान।"

श्रद्धा तो प्रेमके उपादानसे ही निर्मित थी, अत प्रेमके इस समर्पणको वा अस्वीकार कैसे करती ? यद्यपि मनुमें एकाधिकार भोगकी भावनाका उग्र रूप व्यक्त होकर दब गया था और उसके पुनरुभारकी आशका निर्मूल नहीं थी, परन्तु उनका यह समर्पण विशुद्ध प्रेमानुभूतिकी भूमिपर था, श्रद्धाने उसे स्वीकार कर लिया। पुरुषने इस चेतना-समर्पणने उसकी नारीको उल्लास, व्रीडा, चिन्तासे भर दिया, और अत्यन्त पुलकित हृदयसे उसने पूछा —

"... ... क्या समर्पण आज का हे देव !
बनेगा चिर-बंध नारी हृदय हेतु सदैव।
आह मैं दुर्बल, कहो क्या ले सकूँगी दान
वह जिसे उपभोग करने में विकल हों प्रान ?"

नवीन मानवीय धरावलपर नर-नारीका यह प्रथम समर्पण-पर्वोत्सव था। श्रद्धा नारी मनु नरसे पूछती है कि "हे देव, क्या आज नारीके प्रति किया गया पुरुषका यह समर्पण अटूट (चिर बन्ध) रहेगा ?" इस उद्धरणकी प्रथम दो पंक्तियोंका कुछ लोग यह अर्थ भी ले सकते हैं कि श्रद्धा मनुसे प्रश्न करती है कि "हे देव, क्या आजका यह समर्पण नारीहृदयके लिए चिर-बन्ध होगा, अर्थात् क्या आज आप जो समर्पण कर रहे हैं, उसके कारण नारीका हृदय सदाके लिए बन्धनमें बँध उठेगा।" इस अर्थके अनुसार श्रद्धाको डर है कि यह समर्पण उसके लिए चिर-बन्धन होगा, उसका जीवन पुरुषके इगितोंपर चलने के लिए विवश रहेगा।

मैं इस अर्थको नहीं मानता। प्रेमियोंका साक्ष्य लेनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि जब कभी नर नारीके प्रति अपनी 'चेतनाका समर्पण' करनेका प्रस्ताव रखता है तो प्रेयसी नारी उसे ग्रहण करनेके पूर्व यह सहज प्रश्न कर उठती है कि क्या आजका समर्पण (अर्थात् एक होना) सदा बना रहेगा ? वह यह जानना चाहती है कि उसका प्रेमी उसका साथ जीवन भर देगा ? उसे इसकी चिन्ता नहीं होती है कि उसे जीवन भर बँधना होगा, उसके लिए तो वह तैयार ही है। उसे यह चिन्ता अवश्य होती है कि उसका प्रेमी उस बन्धन में जीवन भर रहेगा या नहीं ? जीवन ही क्या, वह चाहती है कि उसका यह प्रथम मिलन (बन्धन) जन्म जन्मातरतक बना रहे। ऐसी बात नहीं है कि यह आकाक्षा केवल प्रेयसी (नारी)की होती है, प्रेमी नरकी आकाक्षा भी यही होती है। बेवफाईकी इसकी आशका दोनोंमें समानरूप उभरती है, दोनों उसके निराकरणके लिए वादे कराते-करते हैं। और, यदि अपनी प्रकृतिगत त्रुटियों या अन्य दुर्बलताओंके कारण प्रेमियोंमें बेवफा भी होते हैं, तो केवल नर ही नहीं, नारी भी बेवफा हो जाती है। यह यथार्थ है। मनोविज्ञान इसका समर्थन करता है।

हाँ, वास्तवमें अमनोवैज्ञानिकता तब होती है जब मिलनके अवसरपर प्रेयसी प्रेमीसे यह पूछे कि क्या आज मुझे अपनी चेतनाका समर्पण देकर, तुम मुझे सदाके लिए बन्धनमें बाँध रहे हो ? ऐसा पूछना प्रेमकी दिव्य भावनाका अनादर होगा। इसका तो यह आशय हुआ कि पूछनेवाली नारीमें उस एकनिष्ठताका अभाव है जो

प्रेमका वैशिष्ट्य है। प्रेम एकनिष्ठ बन्धन ही तो है। अतएव उपर्युक्त पंक्तियोंका यह अर्थ अमनोवैज्ञानिक और भ्रमपूर्ण है। ✓

इस अर्थको माननेवाले, अपने इसी मिथ्या काव्य-बोधके कारण, यह समझकर आगे बढ जाते है कि 'प्रसाद'ने श्रद्धाके द्वारा यह व्यक्त करना चाहा है कि 'समर्पण'के बाद नर नारीको वेदनापूरित असहाय बन्दिनीके रूपमें छोड देता है। फिर जो मनीषी समीक्षक आधुनिक विचारोंकी प्रबुद्धतासे एकरस हैं, वे तुरत 'प्रसाद'-पर नारीविषयक इस 'बुर्जुआ भावना'का आरोप करके गर्म हो जाते हैं। पर यह दोष प्रसादका नहीं, वरन् व्याख्याताओंका है। ×

यही कारण है कि मैंने इस चर्चाको इतना विस्तार दिया है। मैने आरम्भमें अपने मतानुसार अर्थ दे दिया है। चर्चाके उपसंहारमें उसे यहाँ पुन मैं स्पष्ट कर देना ठीक मान रहा हूँ। श्रद्धा यह पूछती है कि "हे देव! नारी हृदयके लिए (अर्थात् नारीके हृदयको पानेके लिए) आप आज जो "चेतनाका समर्पण" मुझे दे रहे हैं, क्या वह समर्पण सदा स्थायी रहेगा?" वास्तवमें यह प्रश्न नहीं है, वरन् यह इस तथ्यकी ओर मनुका ध्यान आकर्षित करनेका 'कान्तासम्मत' प्रकार है कि आजका हमारा सद्-बन्ध चिर बन्ध रहना चाहिए। ✗

श्रद्धाके कथनका यह आशय लेनेपर हमारे मानसमें नारीका असहाय या दुर्बल-दयनीय बिम्ब नहीं, वरन् उसका एकनिष्ठ प्रेमाश्रित सबल बिम्ब, उभर आता है। ✓

× × ×

उपलब्धियाँ

(१) मनुमें देव विकृतिका प्रबल, किन्तु क्षणिक, उभार हुआ। इससे भविष्यमें उसके पुन उभरनेकी सम्भावना अधिक हो उठी।

(२) मनु रति-भूखसे व्याकुल होकर श्रद्धाको अपनी चेतनाका समर्पण कर बैठे और श्रद्धाने उसे स्वीकार भी कर लिया, किन्तु ऐसा उसने एकनिष्ठ प्रेमकी सबल चेतना भूमिपर किया।

●'लज्जा' सर्ग

मनुके चेतना-समर्पणने श्रद्धाकी नारीके मूल मधु अनुभाव (अर्थात् लज्जाको) प्रस्फुटित कर दिया (मूल मधु भाव रति है और उसका मूल मधु अनुभाव लज्जा है। दोनोंमें अनिवार्य व्यग्य-व्यंजक सम्बन्ध होता है। लज्जा रतिकी प्रतिबिम्ब, प्रतिकृति है)। श्रद्धाकी अन्तर्चेतना समर्पण विमुग्ध होकर अपनी लज्जामें सिमट उठी। कविने भोग

रति और लज्जाके सहज द्वन्द्वको इस सर्गमें व्यक्त किया है। नारी जिस क्षण अपने निश्शेष समर्पण करनेके बिन्दुपर खड़ी होती है उस समय उसकी प्रकृत लज्जा उसे रोकती है, इसलिए कि इस पावन कर्मके पूर्व नारी अपने कर्तव्यको ठीकसे समझ ले। नर नारीका यह मिलन पावन इसलिए माना जाता है कि इसीपर सृष्टिका मूल अस्तित्व और विकास होता है, श्रुतियाँ इसे यज्ञ मानती हैं। कर्तव्य भावनासे, सृष्टिके अभिप्रायके निमित्त, इस कर्ममें प्रवृत्त होना पुनीत कर्म कहा जाता है, इससे पराङ्मुख होना सृष्टि शक्तिकी मंगल इच्छाका निरोध होता है।

इसीलिए प्रसादजी वैराग्यको, काम-त्यागको, भीरुकी आत्म प्रवंचना मानते थे। कामके इस उत्पादन अंशके त्यागको, नारीके त्यागको, प्रसादजी नरके दम्भके अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं मान पाये। बौद्ध भिक्षुओं भिक्षुणियोंके जीवनकी इसी कृत्रिमताकी उन्होंने खुलकर भर्त्सना की है। 'इरावती' उपन्यासके एक प्रमुख पात्रके मुखसे उन्होंने इसीलिए कहलवाया है कि "भिक्षु, तुम्हारा पुण्य न जाने कब घोरमें पाप बन गया है। मानव-जीवनको चैतन्य ज्वालाकी उपयोगिता निर्वाणमें बुझ जानेमें नहीं है।"

इसी उपन्यासमें आनन्दवादी ब्रह्मचारी कहता है कि "आर्य धर्मका आरम्भिक उल्लासमय स्वरूप यद्यपि अभी एक बार ही नष्ट नहीं हो गया है, फिर भी उसे जगाना पड़ेगा। वह अलस, अवसादग्रस्त, अपनी कायरताके कारण विवेकका ढोंग करने लगा है। शिथिल, जैसे किसीको कुचल न देनेका मिथ्या अभिनय करता लड़खड़ाता हुआ जीवन देवताको ही कुचल रहा है।" 'देवरथ' कहानीमें बौद्ध धर्म चक्रके नीचे सुजाताके जीवन देवताका कुचला जाना दिखाकर प्रसादजीने यही संकेत प्रदान करना चाहा है कि मिथ्या विवेकके कारण कामका हनन जीवन रसको नष्ट कर देता है। 'इरावती'में लेखकका ही कथन है कि "संसार नित्य यौवन और जराके चक्रमें घूमता है, परन्तु मानव जीवनमें तो एक ही बार यौवनोन्मादका प्रवेश होता है जिसमें अनुबन्धका प्रत्याख्यान और स्नेहका आलिंगन भरा रहता है।"

यह सब कहनेका लक्ष्य केवल यह दिखाना है कि प्रसादजी नर नारीके मिलनको, कामके उत्पादन रूपको अनिवार्य मानते थे। परन्तु इस मिलनके सुयोग भोगकी मात्रा भी वे स्वीकार करते थे। उनका मत था कि प्रेम इस मात्राको स्वयं निश्चित कर लेता है, क्योंकि रति सुखसे चलकर प्रेम परिणयमें बँधकर, कर्तव्यको सम्पन्न करता हुआ अपनी पूर्णता (मुक्ति) उपलब्ध कर लेता है। यही कामका वैदिक स्वरूप है। श्रद्धा काम मार्गके प्रथम प्रस्थान बिन्दुपर खड़ी है। काम मनु और श्रद्धाको एक (पूर्ण) करना चाहता है। इसी स्थितिमें श्रद्धाको लज्जाकी अनुभूति होती है।

(सम्पूर्ण काव्यमें यह सर्ग सर्वाधिक रमणीय है। एक तो विषय स्वयं मनोरम है, और दूसरे, इसमें साथ कविकी सहज माधुरी योग भी था।) कहा जाता है कि 'यादृशस्वभाव कवि तदनुरूप काव्य', अर्थात् जैसा कविका स्वभाव होगा उसीके अनुरूप उसका काव्य होगा। प्रसादजीका स्वभाव इस सर्गमें काव्यसे पूर्णतः एक हो गया है।

हमारे प्रस्तुत अध्ययनके लिए इस सर्गकी कला-विवेचना अवांछनीय है; यहाँपर हम उन्हीं बातोंपर विचार करेंगे जिनसे काव्यके अभिप्रायको समझनेमें सीधी सहायता मिलती है।

श्रद्धाके दो व्यक्तित्व-पक्ष

कविने श्रद्धाके व्यक्तित्वको दो भागोंमें विभक्त कर दिया है : नारी (Sex) और लज्जा। सर्वप्रथम हम उनके वैशिष्ट्योंपर विचार करेंगे। लीजिये नारीके यौवनोद्वेलित रूपकी झाँकी :—

"अंबर-चुंबी हिम-शृंगों से
कलरव कोलाहल साथ लिये
विद्युत की प्राणमयी धारा
बहती जिसमें उन्माद लिये"

\+ + +

"उज्ज्वल वरदान चेतना का
सौंदर्य जिसे सब कहते हैं
जिसमें अनन्त अभिलाषा के
सपने सब जगते रहते हैं।" (आदि)

स्पष्ट है कि कविने 'नारी'से श्रद्धाके व्यक्तित्वके उस अंशका बोध कराना चाहा है, जो यौवन-दीपित शरीरकी भोगों-अभिलाषाओंकी तृप्तिके लिए उन्मद है। अब लज्जाका रूप देखिये :—

"मैं उसी चपल की धात्री हूँ
गौरव महिमा हूँ सिखलाती
ठोकर जो लगने वाली है
उसको धीरे से समझाती।"

\+ + +

"मैं देव-सृष्टि की रति रानी
निज पंचबाण से वंचित हो
बन आवर्जना मूर्ति दीना
अपनी अतृप्ति-सी संचित हो।
मैं रति की प्रतिकृति लज्जा हूँ
मैं शालीनता सिखाती हूँ
मतवाली सुन्दरता पग में
नूपुर सी लिपट मनाती हूँ।"

इन पंक्तियोंसे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'लज्जा'को कविने कर्त्तव्य-भावना, शालीनताकी भावनाका प्रतीक माना है। यही नहीं, वरन् नारीकी लज्जा उसमें अवस्थित भोग-भावनाकी भी प्रतिमूर्ति है। देव-सृष्टिमें, भोगवादी सृष्टिमें, जो रति थी

वही जल-प्लावनके उपरान्त बननेवाली मानव-सृष्टिकी (भोग और कर्तव्य समन्वित) लज्जा है। अपने विकृत प्रलयपूर्व जीवनके अनुभवोंके कारण उसमें कर्तव्य भावना और अपने लक्ष्य एवं स्वरूपका बोध हो गया है। 'काम' सर्गमें कामने मनुसे अपने जि मांगलिक स्वरूप (प्रेय-श्रेय समन्वित रूप)की विवेचना की है; रतिका स्वरूप भी (लज्ज रूपमें) उसी कोटिका है। काम ही के समान वह भी :—

"अवशिष्ट रह गयी अनुभव में
अपनी अतीत असफलता-सी।"

\+ \+ \+

भोग और कर्मका संघर्ष

श्रद्धाकी नारी आँख बन्द करके मनुको आत्म-समर्पण करना चाहती है; व लज्जाकी पकड़से तिलमिला उठी है। और लज्जा उसे (समर्पणसे नहीं) अन्ध-समर्पण करनेसे रोक रही है। नारी उससे कहती है कि "तुम (अर्थात् लज्जा) कौन हो? क्या तुम मेरे हृदयकी परवशता हो? तुम मेरी स्वतन्त्रता छीन रही हो।" लज्जा कहती है कि "बाले! आश्चर्य करनेकी आवश्यकता नहीं है। तुम्हें अपने हितका विचार करना चाहिए; मैं तुम्हें यही अवसर प्रदान करती हूँ। मैं एक ऐसा अवरोध हूँ जो तुम्हें सोचने समझनेको बाध्य करता है :—

"इतना न चमत्कृत हो बाले
अपने मन का उपकार करो
मैं एक पकड़ हूँ जो कहती
ठहरो कुछ सोच-विचार करो।"

नारी कहती है कि "यह तो ठीक है, परन्तु यह बताओ कि मेरे जीवनका मार्ग क्या है? इन्द्रिय-उद्वेगके इस घोर अन्धकारमें प्रकाशकी रेखा क्या है? :—

"हाँ ठीक, परन्तु बताओगी
मेरे जीवन का पथ क्या है?
इस निविड़ निशा में संसृति की
आलोक मयी रेखा क्या है?

मैंने यह तो समझ लिया है कि दुर्बलता, अवयवकी सुन्दर कोमलता के कारण मैं सबसे हार जाती हूँ। परन्तु यह तो बताओ कि मेरा मन क्यों ढीला हो जा रहा है, और

"सर्वस्व समर्पण करने की
विश्वास महातरु छाया में
चुपचाप पड़ी रहने की क्यों
ममता जगती है माया में?

छाया पथ में तारक द्युति सी
झिलमिल करने की मधुलीला
अभिनय करती क्यों इस मन में
कोमल निरीहता श्रमशीला ?

× × ×

मैं जभी तोलने का करती
उपचार स्वयं तुल जाती हूँ
भुज-लता फँसा कर नर-तरु से
झूले से झोंके खाती हूँ
इस अर्पण में कुछ और नहीं
केवल उत्सर्ग छलकता है
मैं दे दूँ और न फिर कुछ लूँ,
इतना ही सरल झलकता है।"

आगे बढनेसे पूर्व हमें इन पक्तियोंपर, नारीके इस कथनपर, अवधानतापूर्वक विचार कर लेना आवश्यक है। [इस कथन से यह आशय ग्रहण होता है कि श्रद्धा-नारी निष्क्रिय समर्पणके लिए उद्यत है। नर-नारीका यह निष्क्रिय समर्पण केवल भोगमूलक होता है, यह सुषुप्तिका समर्पण होता है न कि प्रबुद्धताका। यह ठीक है कि नर-नारीके समर्पण व्यापारमें भाव विभोरता, सुख शैथिल्यका होना अनिवार्य होता है, परन्तु इसे ही मंजिल बनाकर पडा रहना प्रगतिमें बाधक और अमांगलिक होता है। वास्तवमें यह पडाव नहीं, वरन् प्रस्थान भूमिका है। श्रद्धाकी नारी इस समर्पण सुखको लूटनेके अतिरिक्त अन्य सुध बुध खो बैठी है।

वह चाहती है कि 'विश्वास महातरु छायामें' वह सर्वस्व समर्पण करके 'मायामें चुपचाप पडी रहे'। वह 'छाया पथ' में तारक द्युति-सी झिलमिल करना चाहती है।] वह नर-तरुसे भुजलता फँसाकर झोंका खानेका आनन्द लेना चाहती है। वह केवल उत्सर्ग करना चाहती है, और चाहती है कि 'मैं दे दूँ और न फिर कुछ लूँ'। उसके हृदयकी ये सारी अभिलाषाएँ इस तथ्यके प्रमाण हैं कि वह अपना निष्क्रिय समर्पण करना चाहती है, भोग्या बनने ही में उसे सुख दिखाई पड रहा है। देव बालाओंका भी यही रूप था। रतिको देव-बालाओंकी इस अन्धी भोग प्रवृत्तिका पूरा बोध था। अतएव उसी प्रवृत्तिके उभारको श्रद्धामें पाकर उसने तुरत उसे सजग कर देना चाहा। वह कहती है —

"क्या कहती हो ठहरो नारी
सकल्प अश्रु-जल से अपने
तुम दान कर चुकी पहले ही
जीवन के सोने से सपने।"

"अर्थात् हे नारी रुको, तुम यह क्या कह रही हो। तुमने तो, निश्चय करके

अश्रु रूपी जलसे अपने जीवनके सुनहले सपनोंको (अपनी व्यक्तिगत रुचियोंको) पहले ही दान कर दिया।"

मेरे मतानुसार इस कथनके द्वारा लज्जा श्रद्धाको यह बता देना चाहती है कि जिस दिन सृष्टि-शक्तिकी रचनात्मिका इच्छाको स्वीकार करके तुमने मनुको अपना साहचर्य ('श्रद्धा' सर्गमें) इसलिए समर्पित किया कि उसका सबल पाकर वे सृष्टि-कर्ममें प्रवृत्त हों और देवोंकी मात्र भोगमूलक संस्कृतिके विनाशपर नूतन कर्ममयी मानव संस्कृति स्थापना हो एवं मानवताकी विजय हो, उसी दिन तुमने अपने व्यक्तिगत भोगका (ऐकान्तिक भोगका) मार्ग छोड दिया। सृष्टिके व्यापक कर्तव्य मार्गपर आरूढ होनेपर निजी भोग भावनाको संयमित रखना अनिवार्य होता है। आगे लज्जाका परामर्श है —

"नारी तुम केवल श्रद्धा हो
विश्वास रजत नग पग तल में,
पीयूष स्रोत सी बहा करो
जीवन के सुन्दर समतल में।

"हे नारी तुम विश्वास रूपी शुभ्र पर्वतकी तलीमें प्रवाहित होनेवाली श्रद्धा स्रोतस्विनी हो। जिस प्रकार इस ऊँचे रजत, हिमाच्छादित पर्वतके तलमें पीयूष (मीठे जल)की धारा बहती है, उसी प्रकार तुम भी जीवनकी समरसतामें कर्तव्य निरत रहो। जिस प्रकार इस धवल पहाडके तलमें मीठे पानीके स्रोत बहते हैं, उसी प्रकार तुम अपने गरिमावान् दिव्य विश्वासके प्रति श्रद्धा रखकर जीवनके समतलमें अर्थात् दु ख-सुखको सम रूपसे ग्रहण करनेकी भूमिकापर, जो अत्यन्त सुन्दर-आनन्दमय है, बहा करो, अर्थात् कार्यरत रहो। बस यही नारीका जीवन है, यही उसकी आलोकमयी रेखा है।"

अब लज्जाके कथनकी निम्नांकित आठ पंक्तियोंके अर्थोंपर दृष्टिपात करनेके बाद हम पुन इस पूरे प्रसंगकी विवेचनामें प्रवृत्त होंगे। लज्जा कहती है —

"देवों की विजय, दानवों की
हारों का होता युद्ध रहा
संघर्ष सदा उर अन्तर में
जीवित रह नित्य विरुद्ध रहा।
आँसू से भींगे आँचल पर
मन का सब कुछ रखना होगा
तुमको अपनी स्मृति रेखा से
यह संधि पत्र लिखना होगा।"

लज्जा कहती है कि देव और दानव दोनों निरत भोगवादमें प्रवृत्त थे, दोनोंमें अहम्की भावना थी और दोनों ही विवेकहीन थे। दोनों परस्पर संघर्ष रत थे। इस संघर्षका कारण यही था कि वे दोनों केवल निजी स्वार्थ सिद्धिके निमित्त भिन्न भिन्न

जीवन सिद्धान्त लेकर केवल भोगमें मग्न रहे थे। देवोंकी विजय और दानवोंकी हार होती रही। फिर भी उनका यह संघर्ष उनके हृदयमें नित्य होता रहा, और नित्य विरुद्ध था। तात्पर्य यह है कि अपनी त्रुटिपूर्ण संस्कृति, या भोगवादी भावना, के कारण देव दानव-सृष्टि कोई उत्कृष्ट, संघर्ष-रहित, जीवन-पद्धति न उपलब्ध कर सकी। उनका विकास अवरुद्ध ही रह गया। फल हुआ उस सृष्टिका विनाश।

इसलिए लज्जा अन्तमें कहती है कि "हे नारी, आँसूसे भींगे अपने अंचलपर तुम्हें अपने मनका सब कुछ रखना होगा (तात्पर्य यह है कि वेदना सहकर भी तुम्हे अपनी व्यक्तिगत कामनाओंको, क्षुद्र स्वार्थोंको, मर्यादित करना होगा) तुम्हें निरन्तर मुस्कराकर जीवनसे यह समझौता करना होगा" (अर्थात् अपनी व्यक्तिगत मांगोंको संयममें रखकर या दबाकर तुम्हें सहर्ष, कर्तव्य मार्गपर चलना होगा, यही जीवनसे समझौता है)।

\+ \+ \+ \+

समीक्षा

नारीके प्रति कही गयी लज्जाकी इस उक्तिको समझनेमें भ्रमका हो जाना स्वाभाविक है। यह समझना भ्रम ही है कि लज्जा यह कहना चाहती है कि "नारी केवल वह श्रद्धा है जो पुरुषरूपी विश्वास-रजत नगके पद तलमें पीयूष-स्रोत-सी बहा करती है। वह पुरुषके अत्याचारोंको सहकर, आँसू बहाकर, अपने मनकी बातोंको प्रकट करती रहे, कुछ भी हो, वह नरके लिए पीयूष-स्रोत बनी रहे। वह पुरुषके अत्याचारोंको सहती जाय। हृदयमें दैवी और आसुरी प्रवृत्तियोंका द्वन्द्व चिरकालसे चला आ रहा है, और दैवी प्रवृत्तियोंकी आसुरी प्रवृत्तियोंपर जीत निरन्तर होती आयी है। इसलिए नारीका कर्तव्य है कि वह यह विश्वास रखे कि जिन आसुरी वृत्तियोंके कारण उसपर आज अत्याचार हो रहा है, वे अन्तमें पराजित होंगी, इसी आस्थाके सहारे वह पुरुषको अपने हृदयका अमृत देती चले आदि।"

श्री दिनकरजीका मत इसी प्रकारका है। वे लिखते हैं —"कामायनी ये *पंक्तियाँ कामायनीकी, सर्वश्रेष्ठ पंक्तियाँ हैं और समस्त विश्व साहित्यमें भी नारीको लक्ष्य* करके इतनी आकुल पंक्तियाँ कहीं लिखी गयी हैं या नहीं, मैं नहीं जानता। किन्तु क्या यह उक्ति नारी समस्याका कोई समाधान भी देती है? नारीने चूँकि प्रेम किया है, इसलिए अपने व्यक्तित्वपर उसका अपना अधिकार नहीं है। प्रेमी विश्वासका पर्वत है, प्रेमिकाको उसके पावोंपर पड़ा रहना चाहिए। उसपर चाहे लाख विपत्तियाँ आय, किन्तु अपना सर्वस्व उसे पतिके निमित्त उत्सर्ग करना ही होगा और पति चाहे जो भी विपरीत आचरण करे, उसे पत्नीको मुस्कुराकर टाल देना चाहिए। यही समाधान है जिसे छायावादकी रुचि पसन्द करती है।"

मेरे विचारसे ये अर्थ असंगत हैं, प्रसंगकी मांग अन्य अर्थकी है, जिसे संक्षेपमें ऊपर बताया जा चुका है। आगे मैं उसे ही स्पष्ट करनेका प्रयत्न करूँगा।

वक्ता और श्रोताका विचार करने, तथा सन्दर्भको समझकर हमें काव्यकी पंक्तियोंका अर्थ ग्रहण करना चाहिए। उपर्युक्त पंक्तियोंमें वक्ता है 'रतिकी प्रतिकृति' लज्जा, जो शालीनता सिखाती है या जो 'एक पकड़ है जो कहती ठहरो कुछ सोच विचार करो।' और श्रोता है 'नारी',[1] जो 'विश्वास महातरु छाया में' चुपचाप पड़ी रहनेके निमित्त इच्छुक है।

अब विचार कीजिये '—यदि लज्जा उसे यही परामर्श देती है कि 'हे नारी, विश्वासरूपी रजत नग (अर्थात् नर)के पग-तलमें पीयूष-स्रोत-सी बहनेवाली तुम श्रद्धा हो", तो उसने परामर्श क्या दिया? यह तो वह 'नारी' पहलेसे कह रही थी। वह तो नर-तरुसे 'भुज-लता फँसाकर' झूलनेको ही तैयार थी। यदि यह कहा जाय कि लज्जाने उसे यह बता दिया कि जब आगे चलकर उसे ठोकर लगेगी, उस समय भी उसे आँसू पीकर सब सहना होगा, तो यह कोई महत्त्वपूर्ण परामर्श न होगा। महत्त्वपूर्ण इसलिए नहीं होगा कि इस कोटिका निष्क्रिय[2] समर्पण व्यक्तिगत भोगके निमित्त ही होता है। उसके मूलमें व्यापक काम भावनाका अभाव होता है। 'ठोकर लगे तो रोकर सह लेना' कर्मिठों द्वारा दिया जानेवाला परामर्श तभी हो सकता है, जब उसीके साथ यह भी कहा जाय कि 'लेकिन कर्तव्य मार्गका त्याग न करना।'

'काम' सर्गमें मनुको कामने बताया है कि 'यह नीड मनोहर कृतियोंका' है, और व्यक्तिको कर्म-साधक या स्वतन्त्र चेता (वास्तविक) कर्ता होना चाहिये, न कि कर्मका साधन। लज्जा रूपमें रति भी श्रद्धाको ऐसा ही परामर्श दे रही है। वह यह कहना चाहती है कि 'विश्वास महातरुकी छायामें' चुपचाप पड़ा रहना, या 'छाया पथमें झिलमिल करना' ही जीवनका लक्ष्य नहीं होना चाहिए। वरन् 'विश्वास' रूपी शुभ्र पहाड़के समतल (समरसता)में प्रवाहित, निरन्तर कमरत, रहकर प्रगति करते रहना जीवन है। नरकी ओर उसका सकेत नहा है।

श्रद्धाका जीवनके प्रति एक निश्चित विश्वास था, इसी विश्वासमें आस्था रखकर वह मनुके साथ हो चली थी। वह सृष्टिके प्रयोजनकी पूर्तिके निमित्त, मानवताकी विजयके हेतु, प्रयत्नशील थी। लज्जा उससे इसी शुभ्र विश्वासके प्रति आस्थावान् होने और उसके सहारे कर्म निरत रहनेकी बात कहती है। वह यह कहना चाहती है कि श्रद्धा मनुको अपना समर्पण इस भावनाके साथ करे कि उसके द्वारा उसके हृदयकी, 'मानवताकी विजय'की, मगल कामना पूरी हो सके (आगे चलकर 'कर्म' सर्गमें श्रद्धाके एक मार्मिक कथनसे इस बातकी पुष्टि हो जाती है। उसे उसी सर्गमें हम देखेंगे)।

प्रसादजीने कहानियों, नाटकों और उपन्यासोंमें कतिपय गरिमा मंडित नारी-चित्र प्रस्तुत किये हैं। उन नारियोंमें कर्तव्य भावनाके प्रति अटूट विश्वास मिलता है। अपने व्यक्तिगत सुखको कुचलकर भी ये कर्तव्यकी रक्षा करती हैं। आवश्यकतानुसार

1 Sex 2 Passive

कर्तव्यकी रक्षामें नारीका सात्विक विद्रोहात्मक आवेग ध्रुवस्वामिनीमें देखने योग्य है। समाजकी मर्यादाके अनुसार वह रामगुप्तकी पत्नी थी; परन्तु अपने हृदयकी अनुभूतिके प्रति वफादार रहकर उसने चन्द्रगुप्तको ही वरण किया। रामगुप्तको उसने कभी पति नहीं स्वीकार किया। समाजकी परवाह न करके उसने कापुरुष रामगुप्तके वधकी योजना भी की। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रसादजीके मानसमें पुरुषके यदाचारों, समाजकी श्रृंखल रूढ़ियोंके प्रतिकारमें संघर्षरत नारीकी सकल्पमूर्ति 'कामायनी'की रचनाके पूर्व ही निर्मित हो चुकी थी। वे यह नहीं चाहते थे कि पुरुषके अत्याचारोंके प्रति नारी निष्क्रिय ही बनी रहे, और 'आँसूसे भीगे अंचलपर' 'सधि-पत्र' लिखती चले।

कहा जा सकता है कि ध्रुवस्वामिनीने तो रामगुप्तको कभी आत्मसमर्पण किया ही नहीं था, इसलिए उसने विद्रोह किया। परन्तु 'देवसेना'के विषयमें यह प्रश्न नहीं उठता है। स्कन्दगुप्त उसे अपनानेके लिए तैयार था; केवल देवसेनाकी 'हाँ'की आवश्यकता थी। देवसेना स्कन्दगुप्तको वरण कर चुकी थी। परन्तु उसकी कर्तव्य-भावनाने उसे अपने पूर्ण समर्पणसे रोक रखा, वह अपनी आस्था, अपने विश्वासपर दृढ़ रही। 'आकाश दीप'की चन्दा कर्तव्य भावनाके कारण ही अपने प्रणयीके साथ न जा सकी। उसने अपनी व्यक्तिगत रुचियोंको, अपने 'जीवनके सोने-से सपनों'को दबाकर कर्तव्यका पालन करना ही श्रेयस्कर समझा। प्रसादकी सभी प्रमुख नारी-पात्राएँ अपने आदर्शके प्रति आस्थावती हैं। 'देवरथ'की 'सुजाता'की चर्चा हो चुकी है। 'पुरस्कार'की मधूलिका, 'इरावती' आदि सभीके द्वारा इस आस्थापूर्ण आदर्शका निर्वाह हुआ है।

हाँ, एक बात अवश्य है। इन नारियोंने एक बार जिसे वरण कर लिया उसके प्रति भी वे जीवन भर वफादार रहीं। परन्तु प्रेमीके प्रति वफादारीका यह अर्थ नहीं कि कर्तव्यसे च्युत होकर उन्होंने व्यक्तिगत प्रेमका निर्वाह किया। प्रसादकी नारी-भावनाके वैयक्तिक प्रेम और सामाजिक कर्तव्य दो अभिन्न समतत्त्व थे। इनके संघर्ष होनेपर सामाजिक कर्तव्यके पालनको ही श्रेयस्कर मानना प्रसादको इष्ट था, साथ ही-साथ प्रेम (व्यक्तिगत प्रेम)की भावनाके त्यागको उन्होंने किसी स्थितिमें ठीक नहीं माना। यही व्यक्ति चेतना और समष्टि-चेतनासे समन्वित व्यापक काम (या प्रेम)की अनुभूति है। इसी अनुभूतिके द्वारा प्रसादजी जीवनका मांगलिक उत्कर्ष चाहते थे।

लज्जा, इसीलिए, इसी व्यापक काम भावनाकी ओर श्रद्धाकी भोगेच्छु, उन्मद, नारीको उद्बुद्ध करती है। वह यह तो चाहती है कि श्रद्धानारी मनु नरको व्यक्तिगत परातत्पर समर्पण करके व्यक्तिगत रति-सुख लूटे, और इस प्रकार सृष्टिके रचना-कार्य-की प्रारम्भिक भूमिकापर खड़ी हो, परन्तु इसीके साथ वह यह भी स्पष्ट कर देना चाहती है कि केवल भोगके लिये किया गया समर्पण देव-सृष्टिमें भी था जो प्रगति-पथपर न बढ़ सका। इसलिए समर्पणका आधार व्यक्ति-सुख और समष्टि-सुखकी समन्वित-भावना होनी चाहिए। 'भोग' को कर्म में परिणत करना आवश्यक है। केवल अहम्मूलक

सुख विकास-बाधक होता है। उसके साथ इदम्‌की मंगल चेतनाका आधार भी होना चाहिए।

'काम' सर्गमें मैं बता आया हूँ कि मनुके अन्तर्मनकी चिन्तना ही स्वप्नमें काम-वाणीके रूपमें सुनायी पडी। उसी प्रकार इस सर्गमें श्रद्धाकी अन्तर्चेतनाके तर्क वितर्क, इच्छा-आस्था, सोच-विचारको 'नारी' और 'लज्जा'के संवादों द्वारा प्रस्तुत किया गया है। प्रत्येक व्यक्तिमें (चाहे वह नर हो या नारी) एक अंश उन मूल प्रवृत्तियों का होता है जो प्रकृतिकी सभी जीव-सृष्टियोंमें वर्तमान रहती हैं। इसीलिए कहा गया है—

"आहार निद्रा भय मैथुनं च सामान्यमेतद् पशुभिर्नराणाम्"।

इन पाशविक प्रवृत्तियोंके अतिरिक्त मानव व्यक्तित्वका दूसरा अंश ज्ञानका है। व्यक्तिकी शक्ति जब इन्द्रिय सुखोपभोगकी तुच्छ परिधिसे उबरकर या उसकी भूमिका पर खडी होकर आत्मालोकके सहारे क्रियाशील होती है तो उसकी उपलब्धिको ज्ञान कहा जाता है। यह ज्ञान साधारण सुख-साधना उत्पन्न करनेवाली बुद्धिसे भिन्न होता है। 'इदम्'का सम्यक् दर्शन ही ज्ञानका क्षेत्र है। एक सर्वान्तरको 'अहम्' और 'इदम्'में (निजमें और शेष विश्वमें) अवस्थित देख लेना ही तात्विक ज्ञान है। श्रद्धाने मनुको इस ज्ञानका बोध करानेका प्रयत्न पहले ही किया था, अत उसे भी इसका बोध था यह निर्विवाद रूपसे माना ही जायगा।

जैसा कि मैं पहले कह आया हूँ, और आगे चलकर इडा सर्गमें पुन यह प्रसग आयेगा, इन्द्रने प्रलयके पूर्व सारस्वत प्रदेशमें वृत्रासुरको मारकर 'आत्मवाद' की प्रतिष्ठा की थी। उस समय सर्वप्रथम, प्रसादजीके अनुसार, एकेश्वरवादके स्थानपर 'अद्वैत', आत्मवाद,का सुरोंमें प्रचार हुआ। श्रद्धा प्रलयके पूर्व इस दार्शनिक, सास्कृतिक, समाज व्यवस्थाकी भूमिकामें उत्पन्न हुई थी। उसका संस्कार 'आत्मवादी' चिन्तनमें हुआ था। प्रस्तुत अवसरपर जब उसके भीतरसे प्रकृत (रति) भूख जाग्रत हुई तो उसीके साथ उसके अचेतन मनमें पडा यह संस्कार भी उभर चला। उसकी इस समयकी लज्जा इसी संस्कारकी प्रतिनिधि-सी है।

श्रद्धामें इन्हीं दोनों व्यक्तित्व-अशोंका सघर्ष हो रहा है। लज्जामें उत्कृष्ट जीवन मूल्यकी स्वीकृति है। जिसे जीवनके आदर्शोंका बोध न होगा, जिसे जीवन-मूल्यके प्रति आस्था न होगी, वह लज्जाका भी अनुभव न करेगा। लज्जा एक सामाजिक भाव है और व्यक्तिमें तबतक इसका सम्यक् उद्भव नहीं होता है, जब तक उसमें सामाजिक चेतना जाग्रत नहीं होती है। यह सामाजिक चेतना व्यक्तिगत काम-चेतनाका परिष्कार करती है और व्यक्तिको प्रगति प्रदान करती है। इसलिए लज्जाके कथनका तात्पर्य यही है कि श्रद्धाकी नारीको केवल व्यक्तिगत सुखके लिए (केवल भोगके लिए) नरको आत्मसमर्पण न करके अपने उस विश्वासके प्रति सक्रिय आस्था रखनी चाहिए, जिसे स्वीकार करके उसने नरका साथ पकड़ा है।

महादेवीजीका कहना है कि "नारी जब किसी साधनाको अपना लक्ष्य बना लेती है तब उसके लिए पुरुष न तो महत्वकी वस्तु रह जाता है और न भयका कारण।" 'इरावती' उपन्यासमें ब्रह्मचारी कहता है कि "उपासना आचरण है उस विचार निष्ठाका जिसमें हमें विश्वास है।" इसका तात्पर्य यही है कि हमें जीवनविषयक किसी सिद्धान्त या लक्ष्यके प्रति जो विश्वास होता है हमारे जीवन व्यापार उसीके वाह्यरूप होते हैं। हमारी निष्ठा ही हमारे भावों, विचारों, क्रियाओं तथा सम्बन्धोंमें रूप प्राप्त करती है। 'नारी' भी अपनी विश्वास निष्ठाको प्रेमी, पति, पुत्र, भाई आदिके सम्बन्धोंके माध्यमसे व्यक्त करती है। इन सब बातोंके प्रकाशमें ही लज्जाके उपर्युक्त कथनका आशय ग्रहण करना ठीक होगा।

श्रद्धा और विश्वासके रूपकसे सक्रिय महाचिति (प्रकृति) और ब्रह्मके सम्बन्धकी विवेचना दर्शनमें की गयी है। शिव विश्वास है और पार्वती उससे अभिन्न श्रद्धा है। 'श्रद्धाविश्वासरूपिणौ' भवानीशंकरौकी वन्दना दार्शनिक रूपकके आवरणमें ब्रह्मके उभय रूपों (निष्क्रिय और सक्रिय)की ही वन्दना है।

परन्तु यह समझना भ्रम होगा कि यही दार्शनिक रूपक इन पंक्तियोंमें भी है; जिसके अनुसार नारी श्रद्धा है और नर विश्वास है। विश्वास और श्रद्धा नर और नारी दोनोंकी प्रगति और मंगलके लिए अनिवार्य होते हैं। यह बात नहीं है कि नारीको ही 'विश्वास रजत नग पदतल'में पीयूष-स्रोत-सी बहना चाहिए, और पुरुषका श्रेय मार्ग इससे भिन्न है, या नारीका पीयूष पीकर ही वह मंगलको प्राप्त हो सकता है।

यहाँपर प्रसंग नारीको परामर्श देनेका है, और उसीकी प्रबुद्ध अन्तर्चेतना (लज्जा) उसे सीख दे रही है, इसलिए उसने यह सब कुछ नारीके प्रति कहा। कामने मनुको भी (काम सर्गमें) इसी प्रकारकी सीख दी है। मनुको उसने बताया था कि रत्यात्मक काम और प्रगतिशील (कर्म-साधक) कामके समन्वयात्मक रूपके बोधसे ही जीवन कल्याणभूमिको प्राप्त हो सकता है। लज्जा भी यही परामर्श, व्यक्तिगत रति और कर्म-साधकत्व (या प्रगतिशीलता)के समन्वित मार्गकी ओर संकेत, प्रदान करती है।

लज्जा सर्ग यहींपर समाप्त हो जाता है। मनु और श्रद्धाको, क्रमशः काम और रतिसे, यौन तृप्ति (जो उत्पादन-शक्तिकी अनिवार्य माँग है) और कर्तव्य-पालन (जिससे सृष्टिका अभीष्ट विकास होता है या जीवन पूर्णताको प्राप्त होता है) दोनोंकी अवसरोचित सीख प्राप्त हुई। आनन्दवादके लिए यह मर्यादा अनिवार्य होती है।

'कर्म' सर्ग

पिछले दो सर्गोंमें मनु और श्रद्धाके भीतरसे उठती हुई कामेच्छा, काम-रति-वासनाके उद्वेलनको व्यक्त करके कविने क्रमशः काम और रतिकी प्रतिकृति लज्जा

द्वारा उसे सामाजिक चेतना तथा विश्व चेतनासे सम्पृक्त करनेका प्रयत्न किया है। दोनों सर्गोमें कामके नर नारी सम्बन्धकी भोग भावनाको, 'मनोहर कृति' सम्पन्न करनेकी भावनाके साथ आवश्यक रूपसे सम्पृक्त माना गया है, दूसरे शब्दोंमें, कामके उत्पादक और प्रगतिशील विकासात्मक स्वरूपोंका मांगलिक समन्वय स्थापित करनेकी चेष्टा की गयी है। और, इस प्रकार नूतन मानवीय सृष्टिके आरम्भ ही में यह स्थापित कर दिया गया है कि कामके इन दो रूपोंके समन्वय द्वारा ही जीवनकी पूर्णता भूमि, आनन्द भूमिकी उपलब्धि सुलभ हो सकती है। मैं कह आया हूँ कि श्रेयसे अभिन्न प्रेय कामके स्वरूपका निदर्शन करना और उसके आधारपर मानव समाजकी आनन्दवादी व्यवस्थाकी मूल स्थापनाका संकेत प्रदान करना 'कामायनी' का प्रयोजन है। 'लज्जा' सर्गतकके अध्ययन द्वारा मेरे इस मतका समर्थन हो जाता है। अब हम 'कर्म' सर्गका अध्ययन करेंगे।

'आशा' सर्गमें कहा जा चुका है कि मनुमें देव-संस्कृति फिरसे सजग होने लगी थी। 'वासना' सर्गमें हमने मनुके विकृत भोगवादी देव अहम्के, एकाधिकार भोगभावनाके पराकाष्ठागत उभारकी एक झाँकी भी पा ली है। हमने यह भी देख लिया कि 'काम' ने मनुको 'मनोहर कृति' सम्पन्न करने और श्रद्धाके योग्य बननेका परामर्श दिया था।

'कर्म' सर्गके आरम्भमें हम मनुको कर्ममें प्रवृत्त देखते हैं। सोम यज्ञ करके अपने अभीप्सित लक्ष्यकी प्राप्तिके निमित्त वे उत्कण्ठित हो चले। यज्ञ यज्ञकी पुकारसे उनका हृदय भर उठा। वे जानते थे कि यज्ञ, तपके द्वारा मनोवांछित फल प्राप्त किया जा सकता है।

"कर्म-सूत्र संकेत सदृश थी
सोमलता तब मनु को,
चढ़ा शिंजिनी-सी, खींचा फिर
उसने जीवन धनु को।
हुए अग्रसर उसी मार्ग में
छुटे तीर से फिर वे।
यज्ञ-यज्ञ की पुकार से
रह न सके. अब. थिर. वे।,
× × ×
जीवन की अविराम साधना
भर उत्साह खड़ी थी,
ज्यों प्रतिकूल पवन में तरणी
गहरे लौट पड़ी थी।"

इन पंक्तियोंसे स्पष्ट है कि मनु पुनः देव-संस्कृतिके मार्गपर चल पड़े। यज्ञके द्वारा ही देवोंको वांछित फल मिला करता था, जिससे उनकी भोग प्रवृत्तियोंकी

सन्तुष्टि हुआ करती थी। मनु न तो श्रद्धाकी बातोंका उपयुक्त आशय समझ सके और न कामकी वाणीका तात्पर्य ही वे हृदयंगम कर पाये। अपने संस्कारके कारण वे पुनः देव-मार्गपर चल पड़े। उन्होंने सोचा--

"कर्म यज्ञ से जीवन के
सपनों का स्वर्ग मिलेगा;
इसी विपिन में मानस की
आशा का कुसुम खिलेगा।

+ + +

श्रद्धा पुण्य-प्राप्य है मेरी
यह अनन्त अभिलाषा;
फिर इस निर्जन में खोजे
अब किसको मेरी आशा।"

इस स्थलपर यह स्मरण रखना होगा कि मनु परार्थ भावनासे नहीं, वरन् निजोपभोगके निमित्त ही यज्ञ-कर्मकी ओर झुके थे। अतएव उनके यज्ञानुष्ठान कर्मका आधार उनका व्यक्तिगत-भोग था, उनका अपूर्ण अहम् था। वे श्रद्धाको पानेके लिए यज्ञ-कर्म कर रहे थे। संयोगवश असुर पुरोहित किलात और आकुलि, जो जल-प्लावन-में बच रहे थे और सूखी घास (वनस्पति) खाते-खाते ऊब गये थे, मनुसे मिले। वे दोनों मनुको पशु बलिकी प्रेरणा देने लगे। मनुको उनकी वाणी पसन्द आयी, क्योंकि वे इस समय अपने देव संस्कारकी छायामें चल रहे थे। 'देव-यजनकी वर माया' उनपर 'अपनी कर्ममयी शीतल छाया' पहलेसे ही डालने लगी थी। अतएव उन्होंने सोचा कि जो कर्म परम्परासे सम्पन्न होते आये हैं, वे सुन्दर हैं और इसलिए त्याज्य नहीं, वरन् वरेण्य हैं--

"परम्परागत कर्मों की वे
कितनी सुन्दर लड़ियाँ,
जीवन साधन की उलझी हैं
जिनमें सुख की घड़ियाँ।
जिनमें हैं प्रेरणामयी-सी
संचित कितनी कृतियाँ;
पुलक भरी सुख देने वाली
बनकर मादक स्मृतियाँ।"

[इस स्थलपर यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि 'कर्म' शब्दका प्रयोग केवल एषणा द्वारा सचालित कर्मके अर्थमें किया गया है, जिसकी विस्तृत चर्चा 'रहस्य' सर्गमें कविने की है। इस कोटिका कर्म जीवनको सघर्षोंसे भर देता है। ऐसे कर्म करनेवाले व्यक्तिको 'काम'ने वास्तविक कर्ता न मानकर केवल प्रकृतिकी अन्ध शक्तिका

दास बताया है (देखिये 'काम' सर्ग)। और, ऐसे ही कर्ताओंको श्रद्धाने 'रहस्य' सर्गमें 'कशाघातसे प्रेरित' कहा है]।

मैं पहले ही बता आया हूँ कि वैदिक कालमें जितनी प्रमुख विचार सरणियोंका हमें पता चलता है उनके मूल, प्रसादजीके अनुसार, प्रलयके पूर्व सुरासुर जातियोंमें थे प्रकृतिपूजा, बहुदेवोपासना, एकेश्वरवाद, विधि निषेधमय कर्म मार्ग (जिसकी व्याख्या और प्रतिष्ठा निमित्त 'पूर्व मीमासा' उपस्थित की गई), औपनिषदिक ज्ञान (अद्वैत-दर्शन एव आगम निगममे व्यक्त जीवन मतों आदि सभीके पूर्व रूप प्रलयके पूर्व थे। यह *प्रसादजीका दृढ निष्कर्ष था, जिसे उन्होंने अपने निबन्धोंमें स्पष्ट रूपसे व्यक्त किया है* जिस प्रकार प्रलय के पूर्व इन्द्रके द्वारा कठिन सघर्षके उपरान्त तत्कालीन विभिन्न विचार धाराओंका प्रत्याख्यान करके 'आत्मवाद'की स्थापना की गई, उसी प्रकार 'प्रसाद'जीकी कल्पना है कि प्रलयके बाद, अन्य विचार धाराओंका प्रवाह पहले हुआ और उनका प्रत्याख्यान करके आत्मवादकी स्थापना अन्तमें हुई।

मैं यह स्पष्ट कर आया हूँ कि 'चिन्ता' सर्गमें मनुके भीतरसे प्रकृतिकी सर्वोपरिता और बहुदेववादकी अभिव्यक्ति करायी गई है, 'आशा' सर्गमें उससे आगे बढकर मनुके भीतरसे एकेश्वरवादकी अनुभूति फूटती दिखाई गई है। वहीं यह भी दिखाया गया है कि बहुदेवोंको, या एक देवको, प्रसन्न करके वर रूप वाछित फल पानेके लिए, प्रलय के पूर्व ही सुरासुर जातिमें 'सकाम कर्म' या यज्ञ-तन्त्रकी प्रधानता हो चली थी। इस समय मनुमें इसीका पुनरुभार होने लगा। महाभारतमें एक कथा आई है, जिसमें यह कहा गया है कि बृहस्पति और मनुमें एक बार वाद विवाद हुआ। बृहस्पति भौतिकता वादके प्रबल स्थापक और वेद विहित सिद्धान्तोंके विरोधी थे। मनु पर्याप्त वाद विवादके उपरान्त उन्हें अपना मत स्वीकार करानेमें सफल हुए। मनु 'यज्ञ-कर्म'के समर्थकोंमेंसे ही नहीं, वरन् यज्ञ पद्धतिके सस्थापकोंमेंसे एक थे। प्रसादजीने अपनी कल्पनाके 'मनु' में इस वैशिष्ट्यको सुरक्षित रखा है (इस विषयकी शेष चर्चा 'दर्शन विमर्श'में देखिये,)।

× × ×

मनुने यह भी सोचा कि 'पशु-बलि' द्वारा सम्पन्न यज्ञ एक नया कर्म होगा, जिसे देखकर श्रद्धा प्रसन्न हो उठेगी। इस विचारसे मनु स्वय आह्लादित हो उठे। *यज्ञ पूरा हो गया और पशु-बलि भी सम्पन्न हुई। कविने यज्ञ मडपके करुण दृश्यका* मार्मिक चित्र नीचेकी पक्तियोंमें प्रस्तुत किया है—

"वेदी की निर्मम प्रसन्नता
पशु की कातर वाणी,
मिलकर वातावरण बना था
कोई कुत्सित प्राणी।"

स्मरण करानेकी आवश्यकता नहीं है कि मनु हिंसातिरेकको प्रलयका एक कारण माना था। हिंसा काम-वासनाका काष्ठागत विकृत रूप ही है। जो व्यक्ति अपनी

स्वार्थ सिद्धिके निमित्त किसी निर्दोष प्राणीकी बलि दे सकता है, उसकी भोगेच्छाके अन्य सभी विकृत-रूप (क्रोध, मोह, बुद्धि-विभ्रम आदि) निश्चित रूपसे उभरेंगे। विकृत-कामसे क्रोध, क्रोधसे संमूढ़ता, संमूढ़तासे बुद्धिनाश और बुद्धि नाशसे व्यक्तिके विनष्ट होनेकी बात गीतामें कही गयी है। यहाँ हम देखते हैं कि मनुने जिस पशु-बलिको प्रलयका कारण माना था, उसे उन्होंने स्वयं सम्पन्न किया; इससे हमें उनके काम-विकृति और बुद्धि विभ्रमका बोध तो हो ही जाता है, शेष परिणामोंके आगे होनेकी सम्भावना भी दृढ हो जाती है।

× × ×

श्रद्धाको यह पशु-बलि कार्य असह्य वेदना दे गया। जिस व्यक्तिको आत्म-समर्पण करनेके लिए वह इतनी अधीर थी, उसके इस कुकृत्यने उसे अधिक दुःख दिया। उसे यह प्रतीत होने लगा कि सृष्टि शक्ति जिस प्रकार एवं कोटिकी मानवताकी सृष्टि करना चाहती है, वह अभी मनुमें उत्पन्न न हो सकी। उल्टे वे पुनः देव-जीवनकी विकृत गहराईमें डूबना चाहते हैं। फिर भी श्रद्धा मनुको प्यार तो करती ही थी।

'लज्जा' सर्गमें कहा जा चुका है कि प्रसाद-कल्पनाकी आदर्श नारी एक बार जिसे वरण कर लेती है, उससे कभी भी घृणा नहीं करती; परन्तु साथ ही वह अपने कर्तव्य, विश्वासके मार्गसे विचलित भी नहीं होती है। वह अपने प्रिय पात्रको भी उसी श्रेय-मार्गपर ले आनेका प्रयत्न करती है; यही उसकी साधना रहती है। श्रद्धाकी इस समय ऐसी ही स्थिति है। वह मनुके प्रति व्यक्तिगत प्रेम भाव रखकर भी उनके कारण अपने जीवन-विश्वास, कर्तव्य-निष्ठाको छोड़नेके लिए उद्यत नहीं थी। 'लज्जा' ने अभी-अभी उसे ऐसी ही सीख भी तो दी है। कर्तव्य-निष्ठाके क्षेत्रमें वह मनुसे (जो विकृत अहम् से ग्रस्त थे) समझौता करनेको तैयार नहीं थी; यह उसकी आस्थाका प्रश्न था। 'लज्जा' की सीख, यहाँ आलोक-रेखा बन उठी थी। श्रद्धाकी इस द्वन्द्व-पीड़ित स्थितिका चित्र देखिये —

"मधुर विरक्ति भरी आकुलता
विरती हृदय गगन में;
अन्तर्दाह स्नेह का तब भी
होता था उस मन में।
वे असहाय नयन थे खुलते
मुँदते भीषणता में;
आज स्नेह का पात्र खड़ा था
स्पष्ट कुटिल कटुता में।"

सम्भव है कि आजकी प्रगतिशील मनीषा श्रद्धाकी 'मधुर विरक्ति', मनुके प्रति प्रेम और विरक्तिको उसकी दुर्बलता माने। वह कह सकती है कि 'कुटिल' व्यक्तिसे छुट्टी कर लेना ही प्रगति है। समर्पणका उसने सङ्कल्प किया था तो क्या हुआ; और

यदि समर्पण कर भी दिया होता तो क्या ? कुटिल व्यक्तिको प्यार देना कुटिलताको बढावा देना है, जो एक सामाजिक अपराध है। श्री मुक्तिबोधजीने ऐसा आरोप प्रसादजीपर लगाया भी है।

ऐसे लोगोंको उत्तर देकर सन्तुष्ट करना तो कदाचित् 'शारदा'के ही वशकी बात है, क्योंकि इनके अनुसार सत्य और प्रगति शब्दोंके अर्थ इन्हींके द्वारा निर्धारित होते हैं। इनका मार्ग उस वैदिक आर्य-मार्गके समान प्रशस्त नहीं होता है, जहाँ जीवन-विषयक विविध-दर्शन-विचारोंकी अकुण्ठ अभिव्यक्तिकी किसी भी सम्भावनाको न *केवल रोका नहीं जाता था, वरन् उनके प्रस्फुटनकी उपयुक्त भूमिकाको भी सुलभ रखा* जाता रहा। फिर भी निवेदन किया जा सकता है कि कुटिलको यदि प्रेमसे सुधार लिया जाय या सुधारनेका प्रयत्न किया जाय तो वह असामाजिक न होगा। सर्वत्र और सर्वदा 'एटम बम' ही काम नहीं दे सकता। यदि विश्वकी सम्पूर्ण कुटिलताको वही दूर कर पाता तो आज आनन्दका अभाव ही क्यों होता ? 'एटम बम' या समाजशास्त्रीय विचारोंकी प्रचुर राशि हमारे पास है, फिर भी हम आनन्दसे दूर होते जा रहे हैं। हम आज यह महसूस करने लगे हैं कि शान्ति और आनन्दके लिए वैज्ञानिक शस्त्रोंके अतिरिक्त 'हृदयकी बात' की आवश्यकता है। एकता और शान्तिके लिए क्या आज सम्पूर्ण विश्व उदात्त मानवीय भावोंकी ओर घूम नहीं पडा है ? अतएव जो लोग यह मानते आये हैं कि मानव-सुधार और जीवन मगलका जो काम प्रेम कर सकता है वह विनाशक शस्त्रास्त्र नहीं कर सकते हैं, उन्हें गलत कहना अपना चापल्य प्रदर्शन करना होगा।

\+ \+ \+ \+

वेदना-ग्रस्त श्रद्धा एकान्त कुटियामें पडी-पडी अपने मानसमें भावी सृष्टिके सम्भाव्य अभिशापोंका दर्शन कर रही है। पशु-बलिकी इस घटनाने उसकी अन्तर्चेतनाको आहत कर दिया है, और श्रद्धाको लग रहा है कि मानो एक बार पुनः सृष्टि अपने उद्देश्यमें असफल होने जा रही है। उसके सभी विचारोंकी व्याख्या करना तो अत्यधिक विस्तारकी अपेक्षा रखता है। परन्तु चूँकि श्री मुक्तिबोधजीको इस सर्गमें पर्याप्त भ्रम हुआ है, अतः यह सोचकर कि सम्भव है कुछ अन्य लोगोंको भी वस्तु-स्थितिका पूर्ण बोध न हो, मैं श्रद्धाकी कुछ बातोंकी मीमांसा कर लेना ठीक समझ रहा हूँ। मुनिये श्रद्धा कहती है—

> "कितना दुःख जिसे मैं चाहूँ
> वह कुछ और बना हो,
> मेरा मानस चित्र खींचना
> सुन्दर सा सपना हो।"

श्रद्धाने भावी जीवनका निश्चित मानस चित्र खींचा था (जिसका पता 'श्रद्धा' सर्गमें मनुको दी गई उसकी प्रेरणामें लग जाता है)। वह नारी चाहती थी कि उसकी सहायतासे मनु उस मानस चित्रको वाह्य-वास्तविकतामें बदल दें, यही उसका 'विश्वास

रजत नग' था और इसीके 'पग तल' में आस्थामय कर्म करना उसके जीवनकी साधना थी ('लज्जा' सर्गके 'लज्जा-कथन' को इन पंक्तियोंके आधार पर ठीकसे समझा जा सकता है)। परन्तु मनु श्रद्धाके कल्पना मार्गसे भिन्न मार्गके बटोही निकले, वे अन्य प्रकारकी साधनामें प्रवृत्त हुए। और फलस्वरूप मनुके साथ रहकर श्रद्धाने जो उपलब्ध करना चाहा था, वह उसका कोरा सपना प्रतीत होने लगा। अपनी साधोंके जगकी व्यर्थताकी सम्भावनासे श्रद्धाका दुखी हो उठना स्वाभाविक था।

परन्तु यह दुःख केवल उसके अन्तरका दुःख नहीं था; वह सारी सृष्टिको व्याप्त किये हुए प्रतीत होने लगा। श्रद्धाके सामने विश्वका दुःखार्त रूप प्रत्यक्ष हो उठा—

"जाग उठी है दारुण ज्वाला
इस अनन्त मधुबन में;
कैसे बुझे कौन कह देगा
इस नीरव निर्जन में।"

श्रद्धा यह मानती थी (और वेदान्तका यही अभिमत है) कि सृष्टि आनन्द मूलक और आनन्दपूरित है। सृष्टि शक्तिको सृजनमें आनन्द मिलता है, अन्यथा वह इस कर्ममें प्रवृत्त ही न होती। इसलिए यह विश्व आनन्दका अनन्त मधुबन है। "इस अनन्त सुषमा, आनन्दसे परिपूरित विश्वमें आज हिंसाकी दारुण ज्वाला प्रज्वलित हो उठी है। इस नीरव निर्जनमें, सृष्टिके नवोन्मेषके आरम्भमें, इस ज्वाला (दुःख)को कौन दूर करेगा।" तात्पर्य यह है कि मनुके द्वारा ही नूतन मानवताकी सर्जना होनेवाली थी, और वे ही हिंसामें लीन हो चले तो फिर उस हिंसाको और उससे उत्पन्न वेदनाको कौन दूर करेगा। नयी सृष्टिका प्रथम कार्य ही कुत्सित और दुःखद रहा। आगे श्रद्धा कहती है—

"यह अनन्त अवकाश नीड़-सा
जिसका व्यथित बसेरा,
वही वेदना सजग पलक में
भर-कर अलस सवेरा।"

"अर्थात् (यह विस्तृत आकाश जिस वेदनाका, पीड़ाका, निवास है, वही अलसाये प्रभातको पलकोंमें भरकर जागृत हो उठी है।" तात्पर्य यह है कि विश्व-व्याप्त वेदना का यह प्रथम उन्मेष है। 'श्रद्धा' सर्गमें श्रद्धाने मनुको बताया था कि "विषमताकी पीड़ासे व्यस्त, स्पन्दित हो रहा विश्व महान"। वहाँ भी उसका यही अभिप्राय था कि द्वन्द्वजन्य पीड़ा प्रकृतित. विश्व-स्पन्दनके मूलमें अवस्थित है। उपर्युक्त पंक्तियोंमें वह इसी तथ्यको इस प्रकार कह रही है कि वही सृष्टि-व्याप्त वेदना इस नव-सृजनके आदिमें जग पड़ी है; आगे उसके भीषण परिणाम सामने आवेंगे। श्रद्धाने अपनी कल्पना-आँखोंसे देखा—

"काँप रहे हैं चरण पवन के,
विस्तृत नीरवता-सी
घुली जा रही दिशि दिशि की
नभ में मलिन उदासी।"

"वेदनाके कारण पवन काँप रहा है, नभमें सारी दिशाओंकी उदासी पुंजीभूत होती जा रही है, सारा वातावरण नीरव विषादसे आच्छन्न है।"

"अन्तरतम की प्यास, विकलता से
लिपटी बढ़ती है,
युग-युग की असफलता का
अवलम्बन ले चढ़ती है।"

"सृष्टि-शक्तिके अंतरतमकी प्यास, आनन्दकी प्यास (या अपनी पूर्ण अभिव्यक्तिकी आकांक्षा), विकल होकर बढ़ती जा रही है। परन्तु उसकी यह आकांक्षा पूरी होती नहीं दिखलायी देती है, देवासुर सृष्टिसे उसे निराशा ही मिली, और जिस मनुसे वह नव-सृजन कराके अपने अभीष्टको पाना चाहती है वह हिंसा-रत हो उठा। यही कारण है कि सृष्टि शक्तिकी विकलता बढ़ती जाती है। वह युग-युगकी असफलताओंका विश्लेषण करके, तथा युग युगकी त्रुटियोंका त्याग करती हुई आगे बढ़ रही है। यही उसका अवलम्बन है।" इसके उपरान्त श्रद्धा विश्व-व्याप्त वेदनाके व्यापक भावी रूपकी व्यञ्जना प्रस्तुत कर रही है, जो उसके मानसमें प्रत्यक्ष हो उठी थी —

"विश्व विपुल आतंक ग्रस्त है
अपने ताप विषम से,
फैल रही है घनी नीलिमा
अन्तर्दाह परम से।
उद्वेलित हैं उदधि लहरियाँ
लौट रहीं व्याकुल-सी,
चक्रवाल की धुँधली रेखा
मानो जाती झुलसी।
सघन धूम मण्डल में कैसी
नाच रही यह ज्वाला!
तिमिर फनी पहने है मानो
अपने मणि की माला।
जगतीतल का सारा क्रन्दन
यह विषमयी विषमता,
चुभने वाला अंतरंग छल
अति दारुण निर्ममता।

जीवन के वे निष्ठुर दंशन
जिनकी आतुर पीड़ा,
कलुष चक्र सी नाच रही हैं
बन आँखों की क्रीड़ा।"

"अर्थात् विश्व विषमताकी पीडासे अत्यन्त आतंकित है, उसका परम अन्तर्दाह मानो आकाशमें नीलिमा बनकर फैला है। समुद्र भी उसी वेदनासे उद्वेलित है, हरें व्याकुल होकर लोट रही हैं। क्षितिजका ज्योतिर्वृत्त मानो इसी वेदनासे झुलस र धुँधला हो गया है। तारोंसे भरे आकाशमें व्याप्त घने तिमिरमें यही वेदना ज्वाला हय कर रही है; ऐसा लगता है मानो अन्धकाररूपी शेषनागने तारों रूपी मणियोंकी ाला पहन रखी है। पृथ्वीका सम्पूर्ण वेदना क्रन्दन, पीडा देनेवाला अन्तर्छल, जीवनके र्नर्मम घाव आदि सभी मानो पाप चक्र के समान मेरी आँखोंके सामने नाच रहे हैं।"

आशय यह है कि मनुके हिंसा-कृत्यको देखकर श्रद्धाके हृदयमें घोर वेदना, नेराशा और आतंक भर उठे थे। उसे इस तथ्यकी स्पष्ट अनुभूति हो चली कि जेस मनुके द्वारा नूतन सृष्टि होनेवाली थी, उनके इस कुकृत्यका यह प्रभाव पड़ेगा कि सारी सृष्टि वेदनासे भर उठेगी, और सृष्टि शक्ति पुनः अपने लक्ष्यकी प्राप्तिमें असफल होगी। श्रद्धाने अपनी इसी वेदनानुभूतिके रंगमें सारे वातावरणको देखा। उसके अन्तर्मनपर जगत् और जीवनके वे सभी वेदनाभिभूत बिम्ब अंकित हो उठे जो भविष्यमें अनिवार्य रूप से, मनुके कृत्यके फलस्वरूप, होनेवाले थे। प्रलय के समय विनाश का जो नृत्य हुआ था, उसे श्रद्धा देख चुकी थी। इस समय उसके मानस में वे वेदनापूर्ण विनाश बिम्ब उभर आये।

परन्तु मुक्तिबोधजी कहते हैं कि "सवाल है कि ऐसा कौन सा युद्ध हो गया है कि जिसके कारण कहा जाय कि 'विश्व विपुल आतंक त्रस्त है, अपने ताप विषमसे'। किलात और आकुलि और मनु पशुओंकी हत्या करते, तो आखिर कितनी कर सकते थे, और स्थिति ऐसी थी कि वे उदरपूर्ति तथा आत्मरक्षणके लिए कोई मार्ग भी नहीं देख रहे थे। मजा यह है कि उन दिनों जैसा कि प्रसादजीने चित्रित किया है, कृषिका जन्म भी नहीं हुआ था। तो ऐसी स्थितिमें श्रद्धाका आदर्शवादी शब्द प्रवाह समझमें नहीं आता। या तो प्रसादजी पागल थे, या श्रद्धा। किन्तु दोनोंमेंसे एक भी पागल नहीं है। वास्तविकता यह है कि प्रसादजी जब श्रद्धा द्वारा यह कहलाते हैं तो उनके सामने आधुनिक राष्ट्रीय-अन्तर्राष्ट्रीय तथ्य हैं।"

इस प्रकार तर्कारूढ श्री मुक्तिबोधजी इस निष्कर्षपर आ जाते हैं कि "श्रद्धाके मन्तव्यों और वक्तव्योंके पीछे कुछ ऐसे वस्तु तथ्य हैं जो मान संकेतित हैं, अपने मूल रूपमें उपस्थित नहीं हैं।" इसका तात्पर्य यह है कि श्रद्धाके उपर्युक्त उद्गार प्रत्यक्ष कारणसे उत्पन्न नहीं हैं वे केवल आरोपित हैं। मनुका वह हिंसा-कृत्य ऐसा तथ्य नहीं है जिसके द्वारा श्रद्धामें इस कोटिकी विराट् वेदनाकी अनुभूति उत्पन्न हुई। उसकी आडमें प्रसादजीने अपने युगकी विषमता और वेदनाकी अभिव्यक्ति कर दी है।

संक्षेपमें, श्री मुक्तिबोधजीका मत है कि श्रद्धाकी उपर्युक्त अनुभूतिका जो विभाव-पक्ष प्रस्तुत किया गया है वह वैसी अनुभूति उत्पन्न करनेमें असमर्थ है; और जब अनुपयुक्त विभावके द्वारा कोई अनुभूति प्रकट करायी जाती है तो वह आरोपित अनुभूति ही मानी जायगी। ऐसा ही मत मुक्तिबोधजीका श्रद्धाके अन्य सम्बन्धित उद्गारोंके विषयमें भी है; अतएव पहले हम उन उद्गारोंको सुन लें, फिर एक साथ ही मुक्तिबोधजीके मतकी जाँच करेंगे। ✕

श्रद्धा कहती है—

"स्खलन चेतना के कौशल का
भूल जिसे सब कहते हैं;
एक बिन्दु, जिसमें विषाद के
नद उमड़े रहते हैं।
आह वही अपराध, जगत की
दुर्बलता की माया,
धरणी की वर्जित मादकता
संचित तम की छाया।"

"लोग चेतनाके कौशल (विवेक बुद्धि) के स्खलनको भूल कहते हैं; अर्थात् व्यक्ति जब बुद्धिके द्वारा अपने कर्तव्यका सम्यक् निर्धारण नहीं कर पाता है तो वह भूल करता है। और एक छोटी सी भूलसे अपार दुःख एवं विषादकी सृष्टि होती है। वह छोटी-सी भूल महान् अपराध हो जाती है। यह भूल विश्व जीवनकी दुर्बलता है। जड़ताके कारण प्राणी भूल करता है; उसमें उसे आनन्द भी मिलता है। परन्तु भूलोंकी मादकता जीवनके मंगल हेतु वर्जित होती है; वह तमकी संचित छाया है" (कहनेकी आवश्यकता नहीं है कि श्रद्धाके मानसमें मनुके द्वारा की गयी छोटी-सी भूलकी स्मृति ही है और वह उसीको लक्ष्यमें रखकर यह बात कह रही है)।

इसके उपरान्त श्रद्धामें यह मंगलपूर्ण विश्वास उठा कि सृष्टि शक्ति सम्पूर्ण विश्व वेदनाके विषको पीकर उसे शांति, जीवन प्रदान करेगी। अन्यथा, यह दुःखपूर्ण सृष्टि जी कैसे सकती है? आनन्दवादमें इस परम चेतना शक्तिकी संज्ञा है शिव, जो विष पीकर सबका कल्याण करता है। श्रद्धाके सामने यही देव-मूर्ति खड़ी है। और वह कहती है—

"हे प्रभु! इस चन्द्ररूपी खप्परमें तुम नील विष (विश्व-वेदना) पीते रहते हो और इन अन्धकाराच्छन्न 'तारों' वाले बन्द नेत्रोंमें कितनी शान्ति प्रदर्शित करते हो। तुम सारे विश्वका विष पी रहे हो, इसलिए यह सृष्टि पुनः जी सकेगी। हे प्रभु! इतनी शीतलता तुम्हें कहाँसे मिलती है? ···क्या पूर्णता पानेके लिए ही लोग भूल किया करते हैं, क्या जीवनमें यौवन लानेके लिए ही, जीवनको नया बनानेके लिए ही लोग जी-जीकर मरते हैं? यह परिवर्तनशील सृष्टि-व्यापार महाशक्तिवान् और गतिवान् है। क्या यह कहीं रुकता नहीं? क्या इन क्षणिक विनाशोंमें कौन मंगल स्थिर रहता है?"

इस आशावादी उद्गारके उपरान्त वह उसी देव (आनन्द देव, शिव)से पूछती है—

"यह विराग सम्बन्ध हृदय का
कैसी यह मानवता !
प्राणी को प्राणी के प्रति बस
बची रही निर्ममता !
जीवन का सन्तोष अन्य का
रोदन बन हँसता क्यों?
एक एक विश्राम प्रगति को
परिकर सा कसता क्यों?"

"अर्थात् हे प्रभु ! क्या राग हीन हृदय ही मानवता है? क्या यही मानवता है कि एक प्राणी दूसरे प्राणीके प्रति निर्मम रहे? जीवनमें एक प्राणी अन्यको दुख देकर सुखका अनुभव क्यों करता है? एक एक भोगवादी कृत्य (या स्वार्थ सिद्धि) जीवनकी प्रगतिको रोक क्यों देता है?" (यहाँ भी श्रद्धाके प्रश्नोंका सम्बन्ध मनुके हिंसा कर्मसे है)।

अब अन्तमें श्रद्धा कहती है—

"दुर्व्यवहार एक का कैसे
अन्य भूल जावेगा,
कौन उपाय, गरल को कैसे
अमृत बना पावेगा।"

श्री मुक्तिबोधजीका कहना है कि "यदि श्रद्धाकी ये मानसिक प्रतिक्रियाएँ बलि-पशुके लिए होतीं, तो यह सवाल ही न उठता कि वह बलि पशु दुर्व्यवहार कैसे भूल जावेगा। इस प्रकारके प्रश्न केवल पशुओंके लिए उत्पन्न ही नहीं हो सकते। इससे स्पष्ट हो जाता है कि बलि पशुकी घटना मात्र एक रूपक है। प्रसादजीके सम्मुख अगोचर रूपमें वास्तविक राष्ट्रीय अन्तराष्ट्रीय, सामाजिक, राजनीतिक तथा व्यक्तिगत जीवन-क्षेत्रमें लोभ-लालच, अहंकार, मुनाफा, शोषण, अत्याचार और लूट-खसोटका विभ्राट खड़ा हुआ है, और उसके कारण आपसमें एक दूसरेके लिए हिकारत, घृणा, बदलेकी भावना, आतंक, भय, मिथ्याका आश्रय, दमन और रक्तपातका विशाल दृश्य दिखाई दे रहे हैं। अगर यह यथार्थ प्रसादजीके सम्मुख न होता तो वेदकालीन मनुके यथार्थसे इतनी भाव प्रबलता, इतनी तीव्रता, इतने कल्पना-चित्र प्रस्तुत ही न होते। जो हो, प्रसादजीने श्रद्धाको अपने जीवन चिन्तनका प्रतिनिधि बना रखा है।"

मैं मुक्तिबोधजीके इस मतसे पूर्ण सहमत हूँ कि "अगर यह यथार्थ प्रसादजीके सम्मुख न होता तो वेदकालीन मनुके यथार्थसे इतनी भाव प्रबलता, इतनी तीव्रता, इतने कल्पना चित्र प्रस्तुत ही न होते।" मैं यह भी स्वीकार करता हूँ कि "प्रसादजीने श्रद्धाको अपने जीवन चिन्तनका प्रतिनिधि बना रखा है।" कोई भी महान् कवि अपने

युगके प्रतिफलनसे विमुख नहीं होता। वर्तमान ही कविकी संवेदनाओंका जनक होता है। कवि अतीतके गर्भमेंसे वर्तमानको झलकाकर भावीका निर्देश करता है। वर्तमान ही कविको बल प्रदान करता है, उसमें अनुभूतिकी तीव्रता भरता है और विविध कल्पना-चित्र देता है। अतएव यह मानना ठीक ही है कि मनु श्रद्धाकी कथा द्वारा कविने अपने युगकी विषमता पीडाको भी प्रतिफलित किया है। परन्तु इसके साथ यह मानना निरा भ्रम होगा कि श्रद्धाकी उपर्युक्त अनुभूति केवल आरोपित है, उसके पीछे कोई उपयुक्त वास्तविकता नहीं है।

ऐसा भ्रम इसलिए हो जाता है कि 'कामायनी'के अध्ययनके समय लोग उसे रूपक माननेकी धारणा त्याग नहीं पाते हैं। फिर तो कोई इस काव्यकी कई उक्तियोंको कोरा दर्शन निरूपण बताने लगता है, और कोई वर्तमान (या कवि-युग)की कोरी अभिव्यक्ति। मुक्तिबोधजी दूसरे वर्गके आग्रही हैं। सर्वप्रथम पूरे जोरसे वे यह स्थापित कर देते हैं कि 'कामायनी' एक फैंटेसी (रूपक) है, फिर यह समझाते हैं कि यह रूपक दर्शन या मनोविज्ञानका नहीं, वरन् कविके युगके जीवन रूपका है। तत्पश्चात् उनः स्थापना है कि वर्तमानकी समस्याओंको उठाकर, उनका प्रतिफलन करके प्रसादजी थोथी रहस्यात्मकता (या आदर्शवादिता)का समाधान प्रदान किया, जो असामाजि एवं प्रतिक्रियावादी समाधान है, इसलिए 'कामायनी' काव्य प्रतिगामी काव्य है न f प्रगतिवादी, प्रसादने पूँजीवादी (सामन्तवादी) व्यवस्थाका विरोध समाजवादी, यथार्थ वादी सिद्धान्तसे न करके उसे रहस्यकी ऊँची भूमि ही प्रदान की है जो 'कामायनी'क सबसे बड़ा दोष है।

मैं कह आया हूँ कि कविने इस काव्यको रूपक नहीं, वरन् ऐतिहासिक रस काव्य माननेका आग्रह किया है। इस काव्यमें रूपक उसी सीमातक है (या हो सकत है) जहाँतक वह मनु-श्रद्धाकी कथाके अति प्राचीन होनेके नाते उसमें पहलेसे ही ख चुका है। कविने काव्य विन्यास केवल ऐतिहासिक दृष्टिसे किया है। इसलिए जबतक कथाका विन्यास ऐसा न हो जाय कि वह अपनी इतिहास भूमिसे कट जाय (अर्थात घटनाओं और चरित्रोंका प्रकृत विकास न मिले, उसके पात्रोंके भाव विचार उपयुक्त घटनासे उद्भूत होते न ज्ञात हों) तबतक हम उसे रूपक नहीं मान सकते। चिन्ता सर्गसे लेकर इस स्थलतक हमने रूपक द्वारा कथाको समझनेकी आवश्यकताका अनुभव नहीं किया। अतएव इस स्थलपर हम यह देखेंगे कि यदि श्रद्धाके उपर्युक्त उद्गार और अनुभूतियाँ पशु बलिकी घटनासे उद्भूत हैं, अर्थात् यदि काव्यके इस विभाव-पक्ष और भाव-पक्षमें कारण-कार्य या विभावक विभाव्य संबंध है, तो हम मुक्तिबोधजीके मतको अस्वीकार करेंगे, अन्यथा हमें उसे स्वीकार करना होगा।

सर्वप्रथम हमें यह स्मरण रखना है कि श्रद्धा भी प्रलय पूर्व थी। जिन देव विकृतियोंके कारण जल प्लावन होकर देवासुर-सृष्टिका विनाश हुआ, उनसे श्रद्धा भली भाँति परिचित थी। उसने अपनी आँखोंसे देव जातिकी निर्बाध भोग लिप्सा और हिंसा-कृत्यके भयानक रूप देखे ही होंगे। अतएव इस समय पशु-बलिकी जिस

घटनाको हम तुच्छ घटना समझ सकते हैं उसे ही श्रद्धा यदि यह समझ लेती है तो वह स्वाभाविक और मनोवैज्ञानिक ही होगा कि 'वह एक छोटी-सी भूल है जिसमें वेपाद के नद उमड़ते हैं।' दूधका जला छाछ फूँक फूँककर पीता है। अपने अनुभवोंके आधारपर कभी-कभी जिन तुच्छ-सी प्रतीत होनेवाली घटनाओंको देखकर हमारा माथा ठनक उठता है और हृदय धक् से स्पन्दित हो उठता है, उन्हें वे नहीं समझ सकते हैं जिन्हें उन घटनाओंके द्वारा घटित होनेवाले भीषण परिणामोंकी पूर्ण जानकारी नहीं रहती है। "इब्तदाए इश्क है रोता है क्या, आगे आगे देख होता है क्या"की बात अनुभवी ही कह सकता है।

श्रद्धाको हिंसा-कृत्यकी विकरालताका अनुभव था; जल प्लावनका एक कारण देवोंकी पशु-बलि भी थी। अतएव मनुके उस कृत्यको देखकर यदि श्रद्धाका मानस उपर्युक्त कोटिके भाव प्रबल, तीव्र, कल्पना चित्र उरेहने लगा तो उसे हम केवल आरोप नहीं कह सकते हैं। अधिक-से-अधिक हम यही कह सकते हैं कि प्रसादका हृदय और श्रद्धाका हृदय दोनों पूर्णतः एक हो गये थे। इसलिए कविकी निजी अनुभूतियाँ (वर्तमान जीवनसे सम्बद्ध अनुभूतियाँ) श्रद्धाकी अनुभूतियोंमें पूर्णतः समाविष्ट हो चलीं। परन्तु हमें यह न भूलना चाहिए कि श्रद्धाकी अनुभूति भी वास्तविक थी; वह पशु बलिकी घटनाके यथार्थसे ही विभावित थी।

यह भी तो कहा जा सकता है कि एक साधारण घटना अपेक्षाकृत अधिक संवेदनशील हृदयको असाधारण रूपसे झकझोर देती है। एक रोगी और एक मृतक शरीरको देखकर गौतम बुद्धने संसारके दुःखपूर्ण होनेकी जो तीव्र अनुभूति उपलब्ध कर ली, उसे क्या हम इसलिए अवास्तविक या आरोपित मान लेंगे कि न जाने कितने रोगियों और शवोंको देखकर भी हम वैसी अनुभूति पानेमें असमर्थ हैं? यह तो हृदयकी विशालता और संवेदनशीलताकी सामर्थ्य और पूर्वसंस्कारका प्रश्न है। एक रोगी और एक शवके साक्षात्कारने गौतमको जो करुणा प्रदान की, क्या वह अशोककी करुणासे इसलिए हल्की मानी जायगी कि अशोककी वह करुणा लाखों नरोंकी मृत्युसे प्राप्त हुई? क्या इसीलिए अशोककी करुणा अधिक प्रबल और तीव्र मानी जायगी?

एक बात और, ('कामायनी' एक रसवादी कलाभिरुचि-सम्पन्न कविकी कृति है) यथातथ्य कथन, यों इतिवृत्त निवेदन शैलीसे उसकी रुचिका मेल नहीं था। इसलिए उसके काव्य-वर्णनों, चित्रोंका अभिधात्मक आशय ही ग्रहण करना ठीक नहीं होगा। अतिशयोक्तिका चमत्कार (सौंदर्य) भी कवि छूटकी सीमाके भीतर होता है। अनुभूतियोंके चित्रणमें ऐसे चमत्कार आ ही जाते हैं। 'रामचरितमानस'में क्या भावोंकी अतिशयोक्तिपूर्ण अभिव्यक्तियोंकी कमी है? अतएव श्रद्धाके उपर्युक्त उद्गारोंमें इस कोटिक काव्यात्मक सौन्दर्यपर भी ध्यान देना समीचीन होगा।

इसलिए श्रद्धाने जब यह कहा (जिसे पहले उद्धृत किया जा चुका है) कि 'विश्व विपुल आतंक ग्रस्त है, अपने ताप विषमसे' तो यह पूछ उठना निरा बचपन ही है कि "कौन सी लड़ाई हुई थी?" विश्व-पीड़ा (द्वन्द्व-जन्य वेदना)की बात श्रद्धाने

मनुसे 'श्रद्धा' सर्गमें ही बता दी है। यह उसका दृढ विश्वास था, उसके जीवनका अनुभव था, उसके सृष्टि-दर्शनकी उपलब्धि थी। इसी प्रकार जब वह यह कहती है कि "एक प्राणी अन्यका दुर्व्यवहार कैसे भूल जावेगा" तो निश्चित रूपसे वह बलि-पशुके लिए ऐसा नहीं कहती है; और न तो उसके कहनेका यही तात्पर्य है कि पशु मनुष्योंके हिंसा कार्योंको कैसे भूल जायँगे? वास्तवमें वह यह सोच रही है कि आज तो पशु हिंसा हुई, आगे यह प्रवृत्ति नर-हिंसाका रूप ले लेगी क्योंकि हिंसाकी प्रवृत्ति रुकना जानती ही नहीं। फिर जब मानव-जगमें हिंसा व्याप्त होगी तो एक मनुष्य अपने प्रति किये गये अन्य मनुष्यके हिंसा-कार्यको भूल न पायेगा। बदलेमें वह भी प्रति-हिंसामें प्रवृत्त होगा। और, इस प्रकार हिंसा-प्रतिहिंसा बढती चलेगी। श्रद्धाके सामने हिंसाका वह छोटा रूप भावीका विराट् एवं विकराल रूप बन उठा।

× × ×

अब हम पुनः कथा-सूत्रको पकडकर आगे बढेंगे। (यज्ञ-मण्डपमें श्रद्धाको न पाकर मनु सोमकी मादकतामें उसके पास गुफामें जा पहुँचे। उन्होंने उसके रम्य शरीरके उन्मुक्त सौन्दर्यको सतृष्ण आँखोंसे देखा।) आप भी देखते चलिए :—

"खुले मसृण भुज मूलों से
वह आमंत्रण था मिलता;
उन्नत वक्षों में आलिंगन
सुख लहरों-सा तिरता।
नीचा हो उठता जो धीमे
धीमे निश्वासों में;
जीवन का ज्यों ज्वार उठ रहा
हिमकर के हासों में।
जागृत था सौंदर्य यदपि वह
सोती थी सुकुमारी;
रूप-चन्द्रिका में उज्ज्वल थी
आज निशा-सी नारी।"

(मनु श्रद्धाको छूते थे और उसका शरीर रोमांचित हो उठता था। उसकी अंग-लता कामकी स्वस्थ व्यथारूपी लहरोंसे भरी हुई थी। इस कोमल-उन्मद स्थितिको लक्ष्य करके कवि कहता है—)

"वह पागल सुख इस जगती का
आज विराट बना था;
अन्धकार मिश्रित प्रकाश का
एक वितान तना था।"

नर नारीका रति-सुख कविके लिए 'इस जगतीका पागल सुख' है, जो इस समय मनु श्रद्धाके जीवनमें विराट् हो उठा था। वे दोनों काम मदके अन्धकार-प्रकाश-के झिलमिले वितानकी छायामें पहुँच चुके थे, जहाँ चेतना और जडता दोनोंकी सम-मात्रा अपूर्व उन्माद भर देती है। कामायनी जगी थी, यद्यपि वह चेतनता खो भी चली थी; अर्थात् उसकी चेतना निष्क्रिय थी, मनोभाव उस चेतनापर स्वयं बनता बिगडता रहा—

"कामायनी जगी थी कुछ-कुछ
खोकर सब चेतनता;
मनोभाव आकार स्वयं ही
रहा बिगडता बनता।"

और, मनुने श्रद्धाकी वर्षाऋतुके पवनसे कम्पित 'पल्लव सदृश' हथेली (अर्थात् ऐसी हथेली जिसमें प्रियके स्पर्शसे कम्प और स्वेदके सम्भोग अनुभाव उत्पन्न हो चले हैं) अपने हाथमें ले ली। उन्होंने अनुनयपूर्वक, आँखोंमें प्रणयका उपालम्भ भरकर श्रद्धासे कहा कि "यह मानवतीकी रूठनेकी माया कैसी!"—

"स्वर्ग बनाया है जो मैंने
उसे न विफल बनाओ;
अरी अप्सरे! उस अतीत के
नूतन गान सुनाओ।"

ध्यान दीजिये स्थूलाक्षरित पंक्तियोंपर। मनु देव जीवनके भोगकी ओर ही हृदय किये हुए थे। वे चाहते थे कि यज्ञके द्वारा उन्होंने जिस सुख स्वर्गकी प्राप्ति की है वह विफल न हो, वरन् श्रद्धा अप्सरा बनकर उन्हें अतीतकी नवीन रागिनी सुनावे। अपने अतीत जीवनमें अन्य देवोंके समान वे भी (यज्ञानुष्ठानके फल रूप) अप्सराओं के (देवबालाओंके) गीत सुना करते थे और भोगमें मस्त थे। इस समय भी वे वैसा ही (बल्कि उससे बढ कर) भोगका, मस्तीका, जीवन चाहते थे। तभी तो उन्होंने कहा—

"आकर्षण से भरा विश्व यह
केवल भोग्य हमारा,
जीवन के दोनों कूलों में
बहे वासना - धारा।
श्रम की, इस अभाव की जगती
उसकी सब आकुलता;
जिस क्षण भूल सकें हम अपनी
यह भीषण चेतनता।

यही स्वर्ग की बन अनंतता
　　　　मुस्क्याता रहता है;
दो बूँदों में जीवन का रस
　　　　लो बरबस बहता है।"

प्रथम चार पंक्तियोंमें भोग भावना तथा एकाधिकार भावनाका अतिरेक व्य हो उठा है। 'वासना' सर्गमें इसका क्षणिक उभार हम देख आये हैं। यहाँपर ये पंक्ति मनुकी भोगवादी प्रवृत्तिका पूर्ण प्रतिफलन कर रही हैं। मनुके देव व्यक्तित्वका य सर्वाधिक उभरा हुआ रूप दिखायी देता है। भोगातिरेक या एकाधिकारकी भावनाव हम मनुके चरित्रका प्रमुख निर्णायक तत्त्व मान सकते हैं; और कविने यही दिखान भी चाहा है। देव-संस्कृतिकी छायामें पले हुए और इस समय चलनेवाले मनु ऐसी भावनाका उठना और उसीके द्वारा उनके चरित्रका निर्माण होना मनोवैज्ञानिव तथ्य है। 'आकर्षणसे भरे विश्व'को केवल अपना भोग्य और अपनेको केवल भोक्त मानना कामके विकृत होनेकी चरम दशा होती है। मनु यहाँतक आ चुके।

कामके नशेमें चूर होकर श्रमकी जगती, अभावकी जगतीकी व्यथासे भूलने में ही अनन्त स्वर्गिक सुख देखना; तथा सोमरसकी दो बूँदोंमें ही जीवनका आनन्द मानना, कामका सम्भवतम अशिव रूप है। कामके इसी अशिव रूपको लेकर मनु श्रद्धाको भी उसी ओर खींच रहे हैं। वे चाहते हैं कि श्रद्धा भी श्रमको भूलकर, जीवन के अभावको भूलकर, अपनी व्यथाको दूर करनेके लिए देव-स्वर्गकी भोगोन्मत्त अप्सरा बन जाय। यह अन्ततोगत्वा निराशा, अकर्मण्य, अवसाद, दुःख और तमका मार्ग है। भला श्रद्धा इसपर कैसे चल सकती थी!

मनुके अचेतन मनसे उभरकर प्रलय पूर्वकी दैवी भोगवादी संस्कृति श्रद्धाको, जिसे सृष्टि-शक्तिने आत्मवादी संस्कृतिकी स्थापना-कार्यमें लगाना चाहा है, अपनी ओर खींचने लगी। परन्तु श्रद्धाकी लज्जा (कर्तव्य भावना)ने अभी कुछ देर पूर्व उसे प्रमाद न करनेका परामर्श दिया ही था। अतः श्रद्धाने मनुका प्रस्ताव स्वीकार न करते हुए उनकी, एक प्रकारसे, भर्त्सना ही आरम्भ कर दी—

"बोली एक सहज मुद्रा से
　　　　यह तुम क्या कहते हो,
आज अभी तो किसी भाव की
　　　　धारा में बहते हो।
कल ही यदि परिवर्तन होगा
　　　　तो फिर कौन बचेगा;
क्या जाने कोई साथी बन
　　　　नूतन यज्ञ रचेगा।"

मुक्तिबोधजीको इन पंक्तियोंका आशय ग्रहण करनेमें पुनः भ्रम हो गया उनकी आपत्ति 'परिवर्तन' शब्दपर है। वे पूछते हैं—"कौन-सा परिवर्तन, काहेका

परिवर्तन' ? अधिक से-अधिक परिवर्तनका अर्थ किया जा सकता है प्रलय। अगर प्रलय होगा तो कौन बचेगा; अर्थात् मनु, श्रद्धा आदि सब नष्ट हो जायेंगे। किन्तु निश्चित ही यदि आप 'कामायनी'की कथाको फैंटेसी मानते हैं तो प्रलयको भी इस फैंटेसीका अग ही मानना होगा और तब प्रलयका अर्थ किया जायगा भयानक विप्लव और क्रान्ति, समाज-रचनामें आमूल परिवर्तन।" इसीके साथ इस समीक्षकको चेतावनी भी सुनिये--

"अगर आपने उपर्युक्त अर्थ स्वीकार नहीं किया तो आपको श्रद्धाके सुदीर्घ मन्तव्यों और वक्तव्योंकी औचित्य सगतिके लिए वैसी शक्तिशाली वास्तविक पार्श्व-भूमिके अभावका सामना करना पड़ेगा। तो फिर आपको इस निष्कर्षपर आना होगा कि प्रसादजीके काव्यमे मात्र मनोवैज्ञानिकता है, किन्तु जिन तथ्योंके प्रति ये मानसिक प्रतिक्रियाएँ हुई हैं वे तथ्य तथा उनकी शक्तिकी मात्रा, जिसके अनुपातमें इतनी तीव्र मानसिक प्रतिक्रियाएँ हुई हैं, आपके दृष्टिक्षेत्रसे बाहर ही रहेंगी, क्योंकि वस्तुत. वे जीवन तथ्य इस प्रकार प्रस्तुत ही नहीं किये गये हैं कि वे उन मनोवैज्ञानिक प्रक्रियाओंका वास्तविक औचित्य स्थापित कर सके।" इस चेतावनीका निष्कर्ष यह है कि श्रद्धाके उपर्युक्त उद्गार उसकी वास्तविक स्थितिकी प्रतिक्रिया स्वरूप नहीं हैं, वे केवल प्रसादकी फैंटेसी (या रूपक) की उपज हैं।

परन्तु यह मत गलत है। प्रलयके द्वारा एक परिवर्तन श्रद्धा देख चुकी थी। 'चिंता' सर्गमें मनुके साथ हमने भी जल प्लावनके भयकर दृश्योंको देखा और उसकी अनुभूति प्राप्त की है। श्रद्धाको वैसी अनुभूति रही होगी, यह सहज ही सोचा जा सकता है। जल प्लावनके कारण वह भी निरुपाय भटकती रही। उसे यह ज्ञात था कि निर्बाध काम विलास और हिंसातिरेकके कारण ही महाचितिने देवोंका नाश किया। मनुमे ये दोनों विकृतियाँ उभर आयी थीं। उन्होंने यज्ञमें पशु-बलि दी, और अब वे देवोके समान ही 'विश्वको केवल अपना भोग्य' मान बैठे। अतएव श्रद्धाका यह सोच लेना मनोवैज्ञानिक और वस्तुस्थितिकी माँग है कि पुन' प्रलय या विनाशके कारण तत्त्व प्रस्तुत हो चुके हैं। इसलिए परिस्थितिके कारण ही श्रद्धा यह सोच रही है कि—

"यदि प्रलय होगा तो क्या पता कौन बचेगा। सम्भव है कि मनु इस बार भी बचें और आकुलि किलात जैसे उन्हें पुरोहित मिल जाँय तथा श्रद्धाके बदले कोई दूसरी स्त्री-साथी मिल जाय। फिर नया यज्ञ होगा, पुन किसी निर्दोष प्राणीकी बलि दी जायगी। यह सब कितना बड़ा धोखा होगा।" वास्तवमें श्रद्धा मनुको यह सकेत भी कर देना चाहती है कि मनुके हृदयमें उसके प्रति प्रेम नहीं, वरन् भोग लिप्सा भर है। यदि उनमें प्रेम होता तो वे उसकी सीखों ('श्रद्धा' सर्गमे कही गई बातो) पर ध्यान दिये होते और यज्ञके विषयमें उससे परामर्श लिए होते। उन्होंने पशुओंको स्नेह प्रदान करते श्रद्धाको देखा भी था, यदि वे श्रद्धाकी भावनाका आदर करते तो पशुहत्या न हुई होती। उसने आगे कहा—

"ये प्राणी जो बचे हुए हैं
इस अचला जगती के;
उनके कुछ अधिकार नहीं
क्या वे सब ही हैं फीके !
मनु ! क्या यही तुम्हारी होगी
उज्ज्वल नव मानवता ?
जिसमें सब कुछ ले लेना हो
हंत ! बची क्या शवता ?"

कहा जा चुका है कि मनुने विश्वको केवल अपना भोग्य माना था और यह चाहा था कि उनके और श्रद्धाके बीच केवल वासना-धारा प्रवाहित होती रहे। श्रद्धाने उपर्युक्त पंक्तियोंमें इसी इच्छाकी निन्दा की है। वह कहती है कि यदि तुम विश्वको भोग्य मानकर केवल 'लेना' ही अपने जीवनका लक्ष्य समझोगे तो यह उज्ज्वल मानवता नहीं, वरन् शवता (या निष्प्राण मानवता) होगी। क्योंकि—

"अपने में सब कुछ भर कैसे
व्यक्ति विकास करेगा ?
यह एकान्त स्वार्थ भीषण है
अपना नाश करेगा।"

"आत्म विकास मानवताका प्राण है, उसकी प्रगति है। इसके लिए स्वार्थ-त्याग अनिवार्य होता है। यदि कोई व्यक्ति केवल अपनी हित-साधनामें प्रवृत्त रहता है तो वह विकास किस प्रकार कर सकता है। एकान्त स्वार्थ, अर्थात् केवल स्वार्थ-भाव अपना ही नाश करता है (इस तथ्यको श्रद्धाने आगे चलकर और स्पष्ट कर दिया है; कुछ पंक्तियोंके बाद हम उसपर विचार करेंगे)।"

एकान्त स्वार्थकी भीषणताका बोध करानेके साथ ही श्रद्धाने उपर्युक्त पंक्तियोंमें मनुको यह भी बताया कि इस पृथ्वीपर जो प्राणी बचे हैं, उनको भी विश्व-भोगका अधिकार है। उनका भी महत्त्व है; अन्यथा सृष्टि शक्तिने उन्हें सुरक्षित क्यों रखा ! अतः हमें चाहिए कि हम उनके अधिकारोंका भी आदर करें और अपनी भोग-भावनाको संयमित रखें। इसका उत्तर मनुसे सुनिए—

"तुच्छ नहीं है अपना सुख भी
श्रद्धे ! वह भी कुछ है,
दो दिन के इस जीवन का
वही चरम सब कुछ है।
इन्द्रिय की अभिलाषा जितनी
सतत सफलता पावे;

जहाँ हृदय की तृप्ति विलासिनि
मधुर-मधुर कुछ गावे।
× × ×
विश्व माधुरी जिसके सम्मुख
मुकुर बनी रहती हो;
वह अपना सुख स्वर्ग नहीं है!
यह तुम क्या कहती हो?"

एक भोगीके द्वारा भोगप्रधान जीवनकी महत्ताका प्रतिपादन इससे और अधिक आकर्षक क्या हो सकता है? मनुका कहना है कि दो दिनके इस जीवनका वही चरम सुख (लक्ष्य) है जहाँ इन्द्रियोंकी निरन्तर तृप्ति होती रहे, जहाँ हृदयकी आकांक्षाओंकी सर्वदा सन्तुष्टि होती रहे, और जहाँ इन्द्रिय तृप्तिमें ही विश्व माधुरीका आनन्द हो। मनुके अनुसार ऐसे भोग सुखको तुच्छ मानकर श्रद्धा गलती कर रही थी।

तथ्य यह है कि (जैसा पहले कई बार कहा भी जा चुका है) मनुका काम विकृत हो उठा है। इसीलिए उन्होंने भोग, इन्द्रिय-सुखको ही जीवनका चरम लक्ष्य मान लिया। देव-संस्कृतिकी जो विकृति मनुके मानसमें प्राक्तनबीजके रूपमें अंकुरित होती चली आ रही थी (जिसकी ओर कई स्थलोंपर संकेत किया जा चुका है), वह अब पराकाष्ठाको छूने लगी। उनकी इस विकृत काम भावनाके संस्कार या निरसनके निमित्त उनकी प्रेयसी श्रद्धाका उन्हें कर्तव्य-बोध करानेका प्रयत्न करना मेरे विचारमें परिस्थितिकी माँग ही माना जायगा (मुक्तिबोधजीकी बात मैं नहीं कह सकता)। इसे मैं उपदेशके लिए उपदेश देना नहीं मान सकता। हमें इतिहासकी ,काव्य गृहीत पृष्ठ भूमिकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिये।

× × ×

आगे श्रद्धा कहती है—

"रचना मूलक सृष्टि यज्ञ यह
यज्ञ पुरुष का जो है,
संसृति सेवा भाग हमारा
उसे विकसने को है।"

('परम पुरुष (ब्रह्म) का यह सृष्टि यज्ञ रचना, निर्माण, मूलक है, अर्थात् निर्माण ही सृष्टिके मूलमें है, निर्माण ही उसका प्रयोजन है। इसलिए हमारा कर्तव्य है कि हम इस संसृतिकी रचनात्मक सेवा करके इसे विकसित करें, तभी इस सृष्टि यज्ञका प्रयोजन पूरा होगा। विकासके लिए स्वार्थका पर्याप्त अंश छोड़ना होगा।) क्योंकि,

"सुख को सीमित कर अपने में
केवल दुख छोड़ोगे,

इतर प्राणियों की पीड़ा लख
अपना मुँह मोड़ोगे।"

"यदि तुम केवल अपने लिए विश्व भरसे सुखका संग्रह करते चले, तो अन्तमें केवल दु ख ही दु ख शेष विश्वमें बच रहेगा और फल यह होगा कि तुम उस दु ख दर्शनके कारण विश्व जीवनसे ही विरत हो उठोगे। इसलिए न सृष्टिका लक्ष्य पूरा होगा और न तुम्हारा ही विकास हो पायेगा।" वस्तुत भोगवाद अपनी पराकाष्ठामें निवृत्ति मार्ग, निराशावादका रूप धारण कर लेता है। अतएव भोगवादी सुख-सचय यद्यपि आरम्भमें अच्छा तो लगता है, परन्तु उसकी अन्तिम परिणति व्यक्तिके जीवनके विनाश या विकास अवरोधमें ही होती है। अतएव श्रद्धाके अनुसार उचित मार्ग यही है कि व्यक्ति सबको आनन्द दे और वैसा करनेमें स्वय भी आह्लादका आस्वादन करे। दूसरोंको आनन्द देनेमें आनन्द लेना शिव मार्ग है—

"औरों को हँसते देखो मनु
हँसो और सुख पाओ,
अपने सुख को विस्तृत कर लो
सब को सुखी बनाओ।"

इस प्रकार श्रद्धाने व्यक्तिगत सुख (या काम सुख)के त्यागका नहीं, वरन उसके विस्तार (या उदात्तीकरण)का परामर्श दिया। 'व्यक्तिगत सुख विस्तार'का अर्थ है औरोंको भी सुखी देखने और बनानेमें सुखका अनुभव करना। इस दृष्टिकोणके आते ही जीवनकी स्वार्थपरक विकृतियाँ स्वत तिरोहित हो जाती हैं, और जीवनकी काम भावना मांगलिक हो उठती है। इसीमें जीवनका विकास या विराटत्व है, और यही 'भूमैव सुखम्' है। जो लोग निजी आनन्दको ही लक्ष्य मानकर उसे पाना चाहते हैं उन्हें वास्तविक आनन्द नहीं मिलता है, और जो लोग निजी सुखको नहीं, वरन् मानवताकी रचनात्मक सेवाके आनन्दको उपलब्ध करनेका प्रयत्न करते हैं उन्हें ही वास्तविक सुख, आनन्द, मिलता है। यही प्रेय श्रेय समन्वित कामका मार्ग है। (इस प्रसगमें श्रद्धाने और जो कुछ कहा है, उसपर आगे चलकर विचार किया गया है)।

आधुनिक युगके विचारकोंने भी यही उपदेश दिया है। यह शाश्वत स्थापना है, न कि किसी एक युगकी। वैदिक आर्योंकी यह दृढ स्थापना थी। सहयोग, सह उन्नति, सर्वोदय उनकी उदात्त भावनाएँ थीं।

उनकी आकाक्षा थी कि —

"सर्वेऽपि सुखिन सन्तु सर्वे सन्तु निरामया।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दु खभाग् भवेत॥"

अतएव श्रद्धाके उपर्युक्त परामर्शोंको यह न माना जाय कि प्रसाद गाधीवादी विचारोंको ही काव्यमें भर रहे थे। काव्यमें वर्णित परिस्थितियाँ इस प्रकारकी हैं कि उनके यथार्थसे ऐसे परामर्श स्वय उत्पन्न होते हैं। श्रद्धाके सम्मुख विकृत काम ग्रस्त मनु

थे और उसमें (श्रद्धामें) पर्याप्त विश्व-मंगल-कामना एवं कर्तव्य-बोध था। अतः उसका उपदेश देना वास्तविक स्थितिकी माँग है। ✓

× × ×

कोई लाख उपदेश दिया करे, परन्तु विकृत कामका उपचार सुगम कार्य नहीं होता। कामी व्यक्ति अपनी आवश्यकताकी पूर्तिमें झुक भी जाता है, वह शालीनताका प्रदर्शन भी करने लगता है। मनुने भी यही किया। उन्होंने श्रद्धाको विश्वास दिलाया कि वे वही करेंगे, जैसा श्रद्धा कह रही है—

"श्रद्धे, पी लो इसे बुद्धि के
बन्धन को जो खोले

× × ×

वही करूँगा जो कहती हो
सत्य, अकेला सुख क्या ?"

और श्रद्धाने मनुकी इस छल-वाणीको सत्य मान लिया। उसका प्रणयी अब उसकी दृष्टिमें अपनी 'कुटिलता' छोड़नेका सच्चा संकल्प करता हुआ प्रतीत होने लगा। फिर वह प्रियके आग्रहको अस्वीकार कैसे कर सकती थी। फलस्वरूप उसका खिंचाव ढीला पड़ गया। मनुकी मुराद पूरी होनेको आयी। कविने इस स्थलपर मनुके अन्तरंग छलको नीचेकी पंक्तियोंमें व्यक्त किया है—

"छल वाणी की वह प्रवंचना
हृदयों की शिशुता को
खेल खिलाती, भुलवाती जो
उस निर्मल विभुता को।
जीवन का उद्देश्य, लक्ष्य की
प्रगति दिशा को पल में;
अपने एक मधुर इंगित से
बदल सके जो छल में।
वही शक्ति अवलंब मनोहर
निज मनु को थी देती;
जो अपने अभिनय से मन को
सुख में उलझा लेती।"

अन्तमें मनुकी इच्छा पूरी हुई; उनकी रति-भूख, जो लम्बी अवधिसे अपनी तृप्तिके लिए छटपटा रही थी, आज तृप्त हुई। सृष्टि शक्ति नव सृजनके लिए मनु-नर और श्रद्धा-नारीके जिस मिलनकी योजना करने लगी थी, वह सफल हो गयी। कामका जो (रत्यात्मक) प्रजनन-अंश सृष्टि विकासके लिए अनिवार्य होता है, उसकी क्रिया निष्पन्न हो गयी। आनन्दवादी कामकी मांगलिक अवधारणा हो चली—

"दो कालों की संधि-वीच
उस निभृत गुफा में अपने,
अग्निशिखा बुझ गयी
जागने पर जैसे सुख सपने।"

× × ×

उपलब्धि

(क) सम्पूर्ण सर्गके अध्ययनसे हमें एक उपलब्धि यह मिली कि मनुका काम विकृत हो चुका था। 'आशा' सर्गमें कविने कहा था कि "मनुमें देव संस्कृति फिरसे सजग हो उठी," वह इस सर्गमें आकर प्रौढ रूपसे प्रत्यक्ष हो गयी। तपमें निरत मनु धीरे धीरे वासनासे, रति-काम भूतसे, उद्वेलित हुए, फिर उस भूतकी सन्तुष्टिके लिए वे देवोंके समान ही यज्ञमें प्रवृत्त हुए। उनके लिए यज्ञ परार्थ सिद्धिके लिए नहीं, वरन् निजी भोग-तृप्तिका साधन भर रहा। आवश्यकता समझनेपर उन्होंने पशु-बलि भी दी और वे एकान्त भोगमें आँख बन्द करके पड गये। 'चिंता' सर्गमें उन्होंने देवोंकी 'भरी वासना सरिता'के जिस 'मदमत्त प्रवाह'की भर्त्सना की, उसीको इस समय उन्होंने अपनी प्रमुख जीवन धारा और चरम लक्ष्य माना। संक्षेपमें, हम यह जान गये कि मनु पूर्णत देव (विकृत काम-ग्रस्त देव) बन गये। उनके प्राक्तन कर्म पूरी तरहसे प्रारब्ध बनकर सजग हो गये। श्रद्धा और कामके उपदेश तथा जल प्लावनकी प्रकृति-चेतावनी सभी निष्फल रहे।

(ख) दूसरी उपलब्धि यह है कि श्रद्धाकी नारी अन्ततक 'लज्जा'की सीख (जिसे 'लज्जा' सर्गमें बताया गया है) मानकर, अपनी प्रकृतिकी (या आत्माकी) प्रेरणाके प्रति अडिग आस्था रखकर, अपने सुनिधारित 'विश्वास रूपी नग पगतल'में आस्था रखकर, मनुको उचित मार्गपर (कामकी व्यापक भावनाके मार्गपर) लानेका श्लाघ्य प्रयत्न करती रही। और, झुकी भी तो अपने इस विश्वासके कारण कि मनु अब सही मार्गपर चलेंगे। उसने छली मनुको नहीं, वरन् अपने विश्वासके मनुको आत्म समर्पण किया।

(ग) तीसरी उपलब्धि यह है कि नर-नारीके रति मिलन (Sex) की अनिवार्यताको सृष्टि शक्तिकी प्रेरणासे स्वीकार करना कविकी मूल स्थापना है। आनन्दवादी जीवनकी यही प्रस्थान भूमिका है। यही कारण है कि अत्यधिक रुचि और विस्तारके साथ कविने इस व्यापारके सम्पन्न होनेकी प्रक्रियाओंका आकलन किया है। इसे कोरा सम्भोग शृंगारका व्याज-वर्णन या 'मधुचर्या का अतिरेक' नहीं मानना चाहिए।

× × ×

भोगवाद और आनन्दवाद

इन उपलब्धियोंके साथ 'कर्म' सर्ग समाप्त हो जाता है। काव्यके 'कार्य'की प्यावस्थाका पूर्व अश यहाँ समाप्त हो जाता है। नर-नारीका रति मिलन, या कामके जनात्मक अशकी तृप्ति इस कथा भागका साध्य था, जो पूरा हो गया। भोगवाद ौर आनन्दवादका यही मिलन बिन्दु होता है। इसके उपरान्त आनन्दवाद परिणय-न्धनमें, गार्हस्थ्य जीवनमें, मर्यादित होकर चलता है और भोगवाद इस बन्धनकी विनताको अस्वीकार करता है। इसलिए मनुके अचेतन मनसे उठकर अपनी पुन-र्थापनाके लिए प्रयत्नशील 'सुर-सस्कृति' (भोगवादी सस्कृति) और श्रद्धा द्वारा स्थापित ी जानेवाली 'आत्मवादी' सस्कृति दोनोंका यही मिलन बिन्दु है और यहाँसे दोनोंका ङ्घर्ष भी आरम्भ होता है। आगेके पाँच सर्गोंमें इसी सघर्षकी कथा है।

'ईर्ष्या' सर्ग

'काम'की निन्दा महात्माओंने इसीलिए की है कि उसके विकृत होनेकी सम्भावनाएँ अधिक होती हैं, और यदि वह एक बार उचित मार्गसे हट गया तो फिर उसे ठीक रास्तेपर ले आना सयमात्माओंके लिए भी भारी पडता है—'को है बपुरा आन'। यही कारण है कि भगवान् श्रीकृष्णने कामको 'महाशनो', 'महापाप्मा' और 'आत्माका वैरी' कहा है। वह वह क्षीर-सागर है जो 'काँजी-सीकर'से ही भयानक रूप धारण करके जीवनको ले डुबाता है। गोसाईंजीका ठीक ही कहना है कि "विषय कुपथ्य पाइ अकुरे, मुनिहुँ हृदयँ का नर बापुरे।" पिछले सर्गमें हम यह देख आये हैं कि मनुकी काम भावना विकृत होकर एकाधिकार भोगको ही जीवनका चरम लक्ष्य मान चुकी है। श्रद्धा के स्वच्छ हृदयको उन्होंने अपनी भोग तुष्टिके निमित्त छल-वाणी द्वारा प्रवञ्चित करनेमें जरा सी भी हिचक न रखी। 'ईर्ष्या' सर्ग इस विकृतिके अन्य भीषण उपद्रवोंको लेकर प्रस्तुत होता है।

नर नारीके रति मिलनके उपरान्त श्रद्धामें मातृत्व भार उभरने लगा और मनुका मन नित नूतन रति-रग न पाकर मृगयामें रम चला। उन्हें अब श्रद्धामें कोई रमणीय नवीनता नहीं मिलती थी। फल स्वरूप वे कटे-कटे से रहने लगे। श्रद्धाको यह अनुभूति हो चली कि मनुने उससे जो सद्मार्ग, व्यापक काम मार्गपर चलनेका सकल्प किया था, वह केवल नशेका छल था। अब श्रद्धाको पश्चात्ताप होने लगा—

"चल भावी उस चचलता ने
खो दिया हृदयका स्वाधिकार।

श्रद्धा की वह मधुर निशा
फैलाती निष्फल अन्धकार।"

दिन प्रति दिन वह देखने लगी कि—

"मनु को अब मृगया छोड़ नहीं
रह गया और था अधिक काम,
लग गया रक्त था उस मुख में
हिंसा सुख लाली से ललाम।"

'हिंसा ही नहीं', बल्कि उनका अधीर मन 'और भी कुछ' खोज रहा था। वे 'अपने प्रभुत्वकी सुख-सीमा'का निरन्तर विस्तार चाह रहे थे, जिसके कारण उनके जीवनका अवसाद नष्ट हो। जो कुछ उन्हे मिल चुका था, उसमें कोई नवीनता न रह गयी और इसलिए वह रम्य नहीं था। परिणाम यह हुआ कि श्रद्धाका सरल विनोद अब मनुको आह्लाद प्रदान करनेमें असमर्थ था। मनुका देवत्व निरवरोध उग्र होने लगा, उनके विलास वेग और हिंसा सुख निरन्तर वृद्धिकी ओर उन्मुख थे। श्रद्धामें मातृत्वकी सरलता, स्निग्धता और शान्त गम्भीरता उन्हें जँचती नहीं थी। उनकी वक्र वासना उनमें निरन्तर वक्रताकी तृष्णा भरने लगी; और वे सोचा करते:—

"निज उद्गमका मुख बन्द किये
कब तक सोयेंगे अलस-प्राण,
जीवन की चिर चंचल पुकार
रोये कब तक है कहां त्राण।"

"मेरे हृदयमें दुर्ललित लालसा, इन्द्रधनुषके समान रम्य, उठकर सदैव अपने आप तिरोहित हो जाती है। मेरा प्राण इन काम लालसाओंको दबाकर कबतक सोया रहे। मेरे जीवनकी अतृप्त माँग कबतक रुदन करती रहे! इस विषम स्थितिसे उबरनेका मार्ग क्या है?" मनुकी इस दुर्ललित काम माँगको शान्त करना श्रद्धाके वशका नहीं था। वह भावी सृष्टिकी माँ बननेवाली थी। उसमें अपने कर्तव्यकी गुरुता भर रही थी। उसके सामने निजका ही नहीं, वरन् भावी सृष्टिके मंगलका प्रश्न था। भोग नहीं, रचनाको उसने अपना कर्तव्य चुना था। अब वह केवल प्रेयसी नहीं, वरन् गृह-स्वामिनीके उत्तरदायित्वकी चिन्तामें व्यस्त रहनेवाली 'माँ' भी थी। उसका समय बालियाँ बीनने, अन्न इकट्ठा करने और तकलीसे सूत कातनेमें बीतने लगा। प्रेयसीका 'हिल्लोर भरा' रूप पृष्ठ भूमिमें रख चुका था। यह बात नहीं है कि उसमें प्रणय-सुख लूटनेकी इच्छा जाग्रत नहीं होती थी। वह उठती थी, परन्तु रचनात्मक कर्मकी साधनाके आगे उसने अपनी वैयक्तिक सुख इच्छाका दृढ़ निरोध कर रखा था। कामकी व्यापक भावनामें जहाँसे कर्तव्य पथ जाग्रत होता है, वहाँसे प्राणि पशुको रो धोकर दबाना ही पड़ता है।

"मनु ने देखा जब श्रद्धा का
वह सहज खेद से भरा रूप,
अपनी इच्छाका दृढ़ विरोध
जिसमें वे भाव नहीं अनूप।
वे कुछ भी बोले नहीं, रहे
चुपचाप देखते साधिकार,
श्रद्धा कुछ-कुछ मुस्करा उठी
ज्यों जान गई उनका विचार।"

× × ×

मनुके हिंसा-कृत्यको श्रद्धा नापसन्द करती थी, पर मृगयामें रत मनुको घर आनेमें जब कभी विलम्ब हो जाता था तो वह बड़ी बेचैनीके साथ उनका इन्तजार करती थी। यह प्रणयकी माँग थी। अकेली आलस्यमें पड़ी रहनेकी अपेक्षा वह तकली कातकर सूत प्राप्त कर लेना ठीक समझती थी। वह सूत इसलिए कात लेना चाहती थी कि पशुके चमड़ोंसे शरीरको ढँकनेकी आवश्यकता न रहे। वह अन्न इसलिए एकत्रित करने लगी थी कि पशु मांसपर जीवन व्यतीत करनेके स्थानपर लोग अन्नसे काम चला सकें। इस प्रकार वह एक ओर तो अपने रचना-कार्य द्वारा हिंसाको रोकना चाहती है और दूसरी ओर (भोगकी नहीं) श्रमकी संस्कृति एवं सौन्दर्यके नवीन मानकी स्थापना करना चाह रही है।

प्रसादजीके युगमें गांधीजीके प्रभावसे घर घर तकली कातनेकी धूम मची थी। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि कविने उसीका आरोप श्रद्धाके कार्योंमें किया है। प्रसादजीको इस कल्पनाके लिए अपने युगके स्वदेशी आन्दोलनसे प्रेरणा अवश्य मिली होगी, पर वैदिक आर्य सूत कातते और कपड़े बुनते थे, यह प्रमाणित हो चुका है। अतएव श्रद्धाका तकली कातना उस युगसे कटा हुआ तथ्य नहीं माना जा सकता है, हम उसे कवि द्वारा गांधीवादी रचनात्मक कार्योंका आरोप माननेकी गलती नहीं करेंगे।

(वास्तवमें ऐसा आरोप तो 'साकेत'की सीता और उर्मिलाके कार्योंमें देखना चाहिए। 'प्रिय प्रवास'की राधामें भी युगका आरोप उभरा हुआ है। ये तीनों पात्र एकदम आधुनिक भूमिपर उतर आये हैं। देवरके साथ नोंक झोंकसे लेकर खुरपीसे निरानेके कामतक सीता आजकी आश्रम वासिनी कर्मिष्ठा-सैनिका हो गयी हैं। और, उर्मिला तो आजकी 'हीरोइन' ही बना दी गई है। राधा भी परिचारिकाका बाना पहन कर आयी है। इन नारी पात्रोंने अपनी ऐतिहासिक भूमिकाका एकदम त्याग कर दिया है। श्रद्धामें उसकी निजी, वैदिक भूमिकाका सम्पर्क निरन्तर बना हुआ है।)

× × ×

विलम्बसे मृगया कर्म सम्पन्न करके मनुके लौटने पर—

"'दिन भर थे कहाँ भटकते तुम'
बोली श्रद्धा भर मधुर स्नेह
यह हिंसा इतनी प्यारी है
जो भुलवाती है देह-गेह!

× × ×

ढल गया दिवस पीला-पीला
तुम रक्तारुण बन रहे घूम;
देखो नीड़ों में विहग युगल
अपने शिशुओं को रहे चूम!
उनके घर में कोलाहल है
मेरा सूना है गुफा द्वार!
तुमको क्या ऐसी कमी रही
जिसके हित जाते अन्य द्वार।"

आशय स्पष्ट है; श्रद्धा मनुको परिवारके पवित्र बन्धनमें रहकर सम्पूर्ण सुख-शान्ति उपलब्ध करनेकी प्रेरणा देती है। अन्तिम छः पंक्तियोंके तात्पर्यपर विचार कीजिये। श्रद्धा कहती है—"देखो, नीड़ोंमें पक्षियोंके जोड़े अपने शिशुओंको चूमकर, वात्सल्यसे स्निग्ध पूत होकर, कितना आनन्द प्राप्त कर रहे हैं। उनके नीड़ोंमें आनन्द-का कोलाहल है। परन्तु चूँकि तुम परिवार-जीवनमें अनुरक्ति नहीं रखते और सदा बाहर ही भटकते हो, इसलिए मेरी गुफामें आनन्द स्रोत प्रवाहित नहीं है। तुम्हारे पास आनन्दके सभी साधन हैं। आवश्यकता केवल इस बातकी है कि तुम इसी परिवार परिधिमें आनन्द पानेकी मन प्रवृत्ति उपलब्ध करो। फिर तुम्हें आनन्दके लिए कहीं जानेकी आवश्यकता नहीं पड़ेगी।"

परिवार विश्व-चेतनाकी उपलब्धिकी प्रथम शाला या साधना-भूमि है। यहाँसे व्यक्तिके कर्तव्यका मांगलिक विकास होता है। कामकी प्रजननात्मक भोग प्रवृत्ति इसी भूमिपर वात्सल्य तथा अन्य सम्बन्ध-स्नेहोंसे स्निग्ध होती हुई जीवनका स्वस्थ विकास प्रदान करती है। कुटुम्बोंकी समष्टि जाति या समुदाय, समुदायोंकी समष्टि राष्ट्र और राष्ट्रोंकी समष्टि विश्व कहलाती है। इनमें क्रमिक विस्तार पाता हुआ व्यक्ति पूर्णकाम, आप्तकाम, बन पाता है। जो व्यक्ति कुटुम्ब जीवनमें कर्तव्य-पालन करता हुआ आनन्द नहीं पा सकता है वह अपना विकास कर सकता है, इसमें सन्देह है। ऋषियोंने जीवनके चारों आश्रमोंमें गार्हस्थ्य आश्रमको अत्यधिक महत्त्वपूर्ण माना है। इस आश्रमसे नाता छूटा न, कि जीवन विकृत होकर विनष्ट हुआ। जिस धर्म, या दर्शनने इस कुटुम्ब जीवनको अप्रतिष्ठित करनेकी, या इसकी उपेक्षा करनेकी, जरा-सी भी प्रवृत्ति प्रदर्शित की, उसका दम्भ, भ्रम, उसे ही निगल गया। बौद्ध धर्म और चार्वाक दर्शन इसके उदाहरण हैं। प्रवृत्तिमूलक जड़ भोगवाद और निवृत्तिमूलक चेतन विवेकवाद दोनों इस

आश्रम-भूमिका साथ छोड़कर सुख पानेका प्रयत्न करते हैं; और परिणाममें दोनों जीवनकी प्रगतिको रोक देते हैं।

कौटुम्बिक जीवन, गार्हस्थ्य जीवन, इनके बीचकी भूमि है। भोग और विरक्ति (त्याग) दोनोंका आह्लादपूर्ण समन्वय इसी जीवनमें हो पाता है। यह आनन्दवादी विदेहका मार्ग है, जिसकी प्रशंसा श्रीकृष्णने गीतामें की है। श्रद्धा इसी मार्गपर मनुको आकृष्ट कर रही है। यहींपर विकृत काम स्वस्थ किया जा सकता है (आगे चलकर 'इड़ा' सर्गमें काम मनुको इस मार्गपर न चलनेके कारण शाप देता है तथा कौटुम्बिक जीवनकी उपादेयताका प्रतिपादन करता है। अतएव वह स्थल भी देखिए)। इस स्थलपर मैं केवल इतना और निवेदन कर देना अत्यावश्यक मान रहा हूँ कि श्रद्धाके उपर्युक्त अभिमतको हमें निरन्तर याद रखना चाहिए। हमें यह याद रखना होगा कि स्वस्थ कौटुम्बिक जीवन ही वह आर्य-मार्ग है, जिसपर चलकर श्रद्धा नयी मानवताकी विजयका अपना स्वप्न पूरा करना चाहती है। यही वह मार्ग है, जहाँ प्रेयस् आनन्द लेता हुआ काम श्रेयसे निरन्तर सम्पृक्त रहनेमें समर्थ होता है, जिसपर चलकर व्यक्ति-काम, ईश्वरकी सर्वाधिक व्यापक अभिव्यक्ति, विश्व-काम बन उठता है।

× × ×

परन्तु मनुको श्रद्धाकी सीख पसन्द न आयी। उन्होंने कहा—"श्रद्धे! तुम्हें तो किसी बातका अभाव नहीं प्रतीत हो रहा है, परन्तु मैं तो अभावका अनुभव कर रहा हूँ। अतीतके मधुर सुखके अभावसे इस समय मैं व्याकुल हूँ। मेरा चिर-मुक्त पुरुष (देवत्व) कबतक अवरोधोंमें घुटता रहेगा। मेरा जीवन गति-हीन कुण्ठाका जीवन हो गया है। मेरे जीवनका भवन ढहकर मात्र ढूह रह गया है।

"चिर-मुक्त पुरुष कब इतने
अवरुद्ध श्वास लेगा निरीह!
गति हीन पंगु-सा पड़ा-पड़ा
ढह कर जैसे बन रहा ढीह।"

मेरी विषम स्थिति यह है कि जब मेरे कोमल प्राणको जड़ बन्धन-सा मोह कस लेता है, तथा मनमें और जकड़ उठनेकी आकुलता उत्पन्न होती है, उस समय तुम उस मोहकी ग्रन्थिको तोड़ देती हो, अर्थात् मुझे अपने मोहमें और डूब जानेसे रोक देती हो; जब मैं जड़तामें (मोहान्धकारमें) खो जाना चाहता हूँ, तब तुम वैसा नहीं होने देती—

"जब जड़ बन्धन-सा एक मोह
कसता प्राणों का मृदु शरीर;
आकुलता और जकड़ने की
तब ग्रन्थि तोड़ती हो अधीर।"

तत्पश्चात् मनुने हँसकर कहा—"तुम्हारी वह प्रणय-आकुलता अब कहाँ रही, जिसमें मैं सब-कुछ भूल जाया करता था। तुम तो आशाके कोमल तन्तु सदृश तकलीमें झूल रही हो, अर्थात् जिस प्रकार तकलीसे कच्चे धागे तुम व्यर्थ ही निकालती हो, उसी

प्रकार अपने भ्रमात्मक जीवन-मत के सहारे तुम शाश्वत मगलकी व्यर्थ आशा रखती हो। धागोंके समान तुम्हारी यह आशा भी कची है, व्यर्थ है, भ्रम है।"

"वह आकुलता अब कहा रही
जिसमें सब कुछ ही जाय भूल,
आशा के कोमल तन्तु सदृश
तुम तकली में हो रही झूल।"

क्या तुम्हे पशुओंके कोमल चर्म नहीं मिलते ? तुम अन्न क्यों बीनती हो मेरा मृगया कर्म अभी शिथिल नहीं हो गया। मैं तुम्हें पहननेके लिए पशु-चर्म औ खानेके लिए पशु मास निरन्तर ला देता हूँ। फिर यह श्रमसाध्य कर्म तुम क्यों करत हो ? तुम्हारा मुँह पीला क्यों पडता जा रहा है ? यह श्रम तुम क्यों कर रही हो ? इस में क्या रहस्य है ? यह सब किसके लिए है ? (अर्थात् यह श्रम व्यर्थ है।)—

"तिस पर यह पीलापन कैसा
यह क्यों बुनने का श्रम सखेद ?
यह किस के लिए बताओ तो
क्या इसमें है छिपा भेद ?"

हमें यह न समझना चाहिए कि मनुको श्रद्धाके गर्भवती होनेका बोध नही था। कविने श्रद्धाके शरीरका जो वर्णन किया है (जिसकी चर्चा मैंने छोड दी है) उससे कोई भी उसके गर्भवती होनेका अनुमान लगा सकता है। मनुको भी इसका अनुमान ही नहीं, वरन् पूरा बोध था, क्योंकि पूरे सर्गमे श्रद्धाने उन्हें यह नहीं बताया कि वह गर्भवती है। एक स्थलपर (जिसकी चर्चा आगे होगी) उसने केवल यह कहा कि "वह आगन्तुक अब गुफा-बीच पशु-सा न रहे निर्वसन नग्न," इसलिए वह गूढ बात रही है। यदि मनु पहले से यह न जानते होते कि श्रद्धा माँ बननेवाली है तो केवल 'आगतुक'के सकेतसे वह तथ्यका ग्रहण किस प्रकार कर पाते !

मेरे विचारसे, श्रद्धाके मुखके पीलेपनके कारणको मनुका न समझना इसलिए सम्भव रहा कि पर्याप्त विश्राम और भोगवाली देव-सृष्टि देव-कामिनियोंके शरीरमे गर्भके कारण कोई विशेष ह्रास नहीं हो पाता था। वह 'नित्य यौवन वयवाली' सृष्टि थी। जरा और ह्रास उस सृष्टिके विधानसे परेकी वस्तुएँ थीं। श्रद्धाके शरीरमें श्रमके कारण और सात्विक आहार-व्यवहारके कारण, गर्भ-जन्य परिवर्तन अधिक दृष्टिगोचर होने लगे थे (आज भी जिन गर्भवती नारियोंकी सुश्रूषा, पोषण, वैज्ञानिक ढगसे हो पाता है और जो जरा भी श्रम न करके खूब पुष्टिकर आहारका सेवन करती हैं उनके शरीरकी कातिमें वैसा पीलापन नहीं आ पाता जैसा साधनविहीना नारियोंमें देखा जाता है)। अतएव मनुने समझा कि श्रद्धाके मुँहका पीलापन उसके श्रमके कारण ही था।

ऊपरकी पक्तियोंमें मनुने यह भी प्रश्न किया है कि 'यह किसके लिए' श्रम कर रही हो ? इस प्रश्नका कारण यह था कि श्रद्धा जिस वस्त्र-शिल्प निर्माण कर रही थी,

मनु उससे न केवल अनभिज्ञ थे, वरन् उसकी ठीक विरोधी संस्कृतिमें वे पले बढे इस समय चल रहे थे। अन्यके सुख मंगलकी साधना करना वे जानते ही नहीं थे। कहा जा चुका है कि देव जाति एकाधिकार भोग प्रवृत्तिपर आधारित संस्कृतिकी उन्नायक थी। 'मैं स्वय सतत आराध्य' उस जातिकी जीवन-पद्धतिका आधार-मन्त्र था। 'मैं'के आगे ('अहम्'से परे) 'हम' (अहम् और इदम् अर्थात् शेष विश्व)की समन्वयात्मक भावनातक उसने चिन्तन प्रसार किया ही नहीं था। सन्तानें उन्हें भी होती रहीं, परन्तु सन्तानके मंगलकी चिन्ता करके श्रम करनेकी आवश्यकता उन्हें थी ही नहीं, क्योंकि देव-सृष्टि इच्छा-सृष्टि थी। देवता किसी भी अन्यके निमित्त अपना भोग छोडनेको तैयार नहीं थे। इसीलिए वे संग्रह भी करते तो अपने भोगके लिए। मृगया द्वारा मनु अपने भोगका पर्याप्त साधन संगृहीत कर लिया करते थे। मृगयामें विनोद ही होता रहा। अतएव श्रम सापेक्ष कर्म करके अन बीनना या तकलीसे सूत कातना उन्हें अनावश्यक ही जँचा। सन्तानोंके नूतन संस्कारकी आवश्यकता उन्हें कभी अनुभूत हो नहीं सकी थी और मृगया द्वारा अपने लिए तथा अपनी सन्तानो के लिए खाने पहनने का काम वे चला सकते थे। इसलिए उन्होंने प्रश्न किया कि इतना श्रम क्यों (या किसके लिए) किया जा रहा है?

× × ×

श्रद्धाने मनुको बताया कि मैं सूत इसलिए कात रही हूँ कि पशुओंके चमडेसे शरीर ढँकनेकी आवश्यकता न रह जाय, और अन्न इसलिए बीनती हूँ कि पशु मास न खाना पडे। अहिंसक पशुओंकी हिंसा ठीक नहीं होती है। "यदि अपनी रक्षा करनेमें तुम अस्त्र चलाते हो तो बात समझमें आती है, क्योंकि हिंस्रपर अस्त्र चलाना ठीक है। परन्तु जो पशु अहिंसक हैं, जो जीवित रहकर हमारे काम आ सकते हैं, वे उपयोगी बनकर क्यों न जीवित रहें? उन्हें मारनेकी क्या आवश्यकता है? हमे उनके चर्मसे नहीं, वरन् उनोसे ही काम चला लेना चाहिए। वे पशु जीवित एव पुष्ट रहें और उनसे हमें सुख मिलता रहे। जिन पशुओको पालकर हम उन्हें अपने उपयोगमें ला सकते हैं उनके प्रति हमें निष्ठुरताका व्यवहार नहीं करना चाहिए। यदि हम पशुसे ऊँचे हैं, तो हम चाहिए कि ससाररूपी दुःख-जलधिसे सबका उद्धार करें, अर्थात् सबकी सहायता करें।

"पशु से यदि हम कुछ ऊँचे हैं
तो भव जलनिधिमें बनें सेतु।"

श्रद्धा अहिंसामूलक संस्कृतिकी स्थापनाका प्रयत्न कर रही थी, आगे चलकर 'मानव'ने इस संस्कृतिको प्रतिष्ठित किया। वैदिक आर्योंकी मूलधारामें यही संस्कृति प्रवाहित थी। याद रखना चाहिए कि वैदिक युगमें यज्ञमें पशु हिंसा (ध्वर) मान्य नहीं थी। 'ध्वर' शब्दका अर्थ है हिंसा, जिसमें हिंसा न हो वह है 'अध्वर' अर्थात् यज्ञ। यज्ञ शब्द यज् धातुसे बना है, जिसका अर्थ है पूजा करना, दान देना। गो यज्ञमें गायोंकी पूजा होती थी। यजुर्वेदके अनेक मन्त्रोंमें भगवान्से प्रार्थना की गई है कि आप हमारे

पुत्रों, पशुओं, गाय-घोड़ोंको हिंसासे बचावें :—'मानस्तनये मा नो गोषु मा नो अश्वेषु रीरिषः'। इसी प्रकार कहा गया है :—"पशून् पाहि, गां मा हिंसीः, अजां मा हिंसीः अविंमा हिंसीः। इमं मा हिंसीर्द्विपादं पशुम्, मा हिंसीरेकशफं पशुम्, मा हिंस्यात् सर्वा भूतानि"—अर्थात् पशुओंकी रक्षा करो, गायको न मारो, बकरीकी हिंसा न करो भेड़को न मारो। इन दो पैरवाले जीवोंकी हिंसा न करो, एक खुरवाले घोड़े-गधेकी हिंसा न करो। किसी भी प्राणीकी हिंसा न करो।" (

'महाभारत'के 'अनुशासन' पर्वमें कहा गया है :—"श्रूयते हि पुराकल्पे नृणां ब्रीहिमयः पशुः," अर्थात् प्राचीन युगमें अन्न ही पशु था; उसीसे यज्ञ किया जाता था। 'शतपथ ब्राह्मण'के एक प्रश्नोत्तरसे 'पशु' शब्दका अर्थ स्पष्ट हो जाता है :—"कतमः प्रजापतिः अर्थात् प्रजाका पालन करनेवाला कौन है? उत्तरमें कहा गया 'पशुरिति' अर्थात् पशु ही प्रजा पालक है। तात्पर्य यह है कि वे सभी पदार्थ 'पशु' हैं जिनसे प्रजाका पोषण होता है। वास्तवमें 'पशु' शब्द एक रूपक या प्रतीक था, जिसका प्रयोग ऋषियोंने यज्ञकी चर्चामें किया था। अथर्ववेदमें लिखा है—"धाना धेनुरभवद्, वत्सोऽस्यास्तिलः" अर्थात् धान ही धेनु है और तिल उसका बछड़ा है। इसी प्रकार उसी वेदके (११ ३-५ और ११-३-७) दो मंत्रोंमें लिखा है कि चावलके कण ही अश्व हैं, चावल ही गौ हैं, भूसी ही मशक है, चावलोंका श्याम भाग मांस है और लाल भाग रुधिर है।" ५

यह स्थल इस प्रकारकी विस्तृत चर्चाके लिए अनुपयुक्त है। उपर्युक्त संकेत तो केवल यह स्पष्ट करनेके लिए था कि वैदिक आर्य-संस्कृतिकी मूल धारा हिंसाके विरुद्ध थी। श्रद्धा इसी संस्कृतिकी स्थापनाका प्रयत्न कर रही थी। प्रलय पूर्वकी देवासुर संस्कृति हिंसायुत थी; वह भोग और मृगया की संस्कृति थी। महाभारतमें एक कथा आयी है कि एक बार 'अज' शब्दके अर्थको लेकर ऋषियों और अन्योंमें विवाद हुआ। ऋषियों-का कहना था कि 'अजेन यष्टव्यम्'में 'अज'का अर्थ है अन्न। क्योंकि 'अज'का अर्थ है उत्पत्ति रहित, और अन्नका बीज अनादिकालसे चला आ रहा है, इसलिए अजका अर्थ अन्न है। दूसरे पक्षवालोंका कहना था कि 'अज'का अर्थ है 'बकरा'। दोनों प्रतिपक्षी राजा वसुके पास गये। राजाने दूसरे पक्षका समर्थन किया। परन्तु ऋषियोंने इस निर्णयको स्वीकार नहीं किया। असुरानुयायी तो इस निर्णयको चाहते ही थे; उन्होंने यज्ञमें हिंसाका प्रचार करना आरम्भ किया (अहिंसामूलक वैदिक आर्य-संस्कृतिकी शेष चर्चा 'दर्शन विमर्श' के अन्तर्गत की जायगी।)। ×

इस कहानीसे भी इस बातका पता चल जाता है कि ऋषियोंके अनुसार यज्ञमें हिंसा नहीं होनी चाहिए और यह प्राचीन कालसे कुछ लोगों द्वारा माना जाता रहा।) हम जानते हैं कि मनुको हिंसा-कर्ममें प्रवृत्त करनेवाले भी असुर थे, जिनका उल्लेख 'महाभारत'की उपर्युक्त कथामें आया है। श्रद्धा इस भोगमूलक मृगयाकी संस्कृतिका विरोध कर रही है। इसलिए उसने मनुसे पशु हिंसा न करनेके लिए विवेकपूर्ण प्रस्ताव रखा। इसपर मनुका (क्षणवादी) उत्तर सुनिए—४

"मैं यह नहीं मान सकता कि जो सुख सहज-लब्ध हैं उन्हें हम यों ही छोड़ दें। जीवनके संघर्ष द्वारा हम जो कुछ पावें, उसका भोग न करें और इस प्रकार वंचित रहें, यह तो ठीक नहीं है। श्रद्धे! तुम्हारी काली पुतलीमें मैं अपना ही चित्र देखकर धन्य होता रहूँ, मेरे मानस-मुकुरमें तेरा रूप ही प्रतिबिम्बित होता रहे (अर्थात् मैं निरन्तर तुम्हें देखता रहूँ) तुमने जो यह नया संकल्प (कर्तव्य या त्यागका व्रत) स्वीकार किया है, वह उपयुक्त नहीं है; क्योंकि यह 'लघु जीवन अमोल' है—

"श्रद्धे, यह नव संकल्प नहीं—
चलने का लघु जीवन अमोल;
मैं उसको निश्चय भोग चलूँ
जो सुख चलदल सा रहा डोल।"

जीवन छोटा है, इसलिए वह अमोल है! अतएव, इस छोटे-से जीवनमें जो थोड़ा-बहुत सुख मिल जाय, उसे भोग लेना ही ठीक है। और,

"देखा क्या तुमने कभी नहीं
स्वर्गीय सुखोंपर प्रलय-नृत्य?
फिर नाश और चिर-निद्रा है
तब इतना क्यों विश्वास सत्य।"

"क्या तुमने देखा नहीं कि देव जातिका सुख प्रलयकी लहरोंमें विनष्ट हो गया। जब सुखके विनाशके उपरान्त नाश ओर चिर-मृत्यु ही है, तो फिर भविष्यके उज्ज्वल या सुखपूर्ण होनेका इतना विश्वास क्यों है।"

"यह चिर-प्रशांत मङ्गल की क्यों
अभिलाषा इतनी रही जाग?
यह संचित क्यों हो रहा स्नेह
किस पर इतनी हो सानुराग?"

"हे श्रद्धे! तुझमें शाश्वत मंगलकी अभिलाषा क्यों जग पड़ी है? जब नाश और मृत्यु ही सत्य है और सुखका विनाश होता रहता है तब शाश्वत मंगलका विश्वास बुद्धिमानीकी बात नहीं होगी। तुम उसी चिर-मंगलकी अवतारणाके निमित्त अपने वर्तमान सुखोंको छोड़ रही हो, यह ठीक नहीं है। तुम अपने स्नेहका भोग न करके उसका संचय क्यों कर रही हो; तुम्हारे संचित स्नेहका भोक्ता कौन होगा, अर्थात् न मैं रहूँगा, न तुम रहोगी; फिर तो तुम्हारे संचित स्नेहका भोग हम न कर सकेंगे। अपने स्नेहका भोग तो हमें करना चाहिए।

"यह जीवनका वरदान, मुझे
दे दो रानी अपना दुलार;
केवल मेरी ही चिन्ता का
तव चित्त वहन कर रहे भार।"

श्रद्धारानीका दुलार मनुके लिए जीवनका वरदान था; और वे चाहते थे कि श्रद्धा केवल मनुका ध्यान किया करे। मनुके उपर्युक्त सम्पूर्ण निवेदनको पढ लेनेपर यह स्पष्ट हो जाना चाहिए कि मनु घोर निराशाजन्य भोग-वृत्तिकी चरम सीमातक पहुँच चुके थे। जीवनकी क्षण-भंगुरताकी अनुभूतिसे आशावाद और निराशावाद दोनोंकी उत्पत्ति होती है। आशावादी व्यक्ति जीवनकी क्षणिकताकी अनुभूतिके कारण विश्वमें मगलकी वर्षा, करुणाकी वर्षा, कर देना चाहता है क्योंकि वह क्षणिकताके पीछे अखण्ड शाश्वत मगल देखता है। वह सृष्टिको आलोक, आनन्द, उल्लाससे सम्पूरित करनेका सकल्प लेकर अपने व्यक्तिगत भोगकी उपेक्षा करता है। वह ऐसा कर्तव्य कर्म करना या कराना चाहता है जिसके कारण विश्व-जीवनकी क्षणिकता भी आह्लादपूर्ण बन उठती है।

परन्तु निराशावादी या तो 'खाओ पीओ मौज करो'को जीवन सिद्धान्त स्वीकार करेगा, या परलोककी साधनामें प्रवृत्त होकर इस लोक-जीवनके रससे पराङ्मुख हो उठेगा। निराशावादको ये परिकोटियाँ हैं। प्रथम कोटिका निराशावाद भोगवाद कहा जाता है; जो यह मानता है कि जो कुछ सुख लूट सको, लूट लो; जीवनका आनन्द ले लो, न जाने कब साँस बन्द हो जाय। यह 'चार्वाक' मत है; सुननेमें भी यह मत 'चारु' + वाक् (सुन्दर वाणी) प्रतीत होता है। देवोंका जीवन अपने अन्तिम रूपमें इसी कोटिका रहा। मनु इसी कोटिके निराशावादी भोगवादकी छायामें भटक रहे थे। इसीलिए उन्होंने श्रद्धासे कहा कि शाश्वत मगलकी आशा और विश्वास छोडकर वह उनके साथ जीवनके सुख पूर्ण क्षणोंका पूरा भोग करे। वे वर्तमानमें ही रमना चाहते थे, भविष्यकी चिन्ता उन्हें नहीं थी।

परन्तु श्रद्धा आशावादिनी थी। वह व्यक्तिगत भोग और (पर-चेतनाधारित) कर्तव्यके समन्वयमें आनन्द और जीवनका लक्ष्य मानती थी। उसे सृष्टिके सर्वदा मागलिक होनेका अडिग विश्वास था। उसके लिए वर्तमान और भविष्य दोनों सत्य और शिव थे। उसने केवल विनाशको नहीं, वरन् सृजनशील और विनाशक शक्तियोंके समन्वित रूपकी अनुभूति प्राप्त कर ली थी। इसलिए वह केवल भोग या निवृत्तिके मार्गपर नहीं चल सकती थी। उसने राग विरागकी समन्वित भूमि, कौटुम्बिक जीवनको चुना और कर्तव्य-साधना आरम्भ की। उसने मनुसे कहा—

"मैंने तो एक बनाया है
चल कर देखो मेरा कुटीर।"

यह कहकर मनुको वह अपने कुटीरमें ले गयी। वह कुटीर क्या था, गुफाके समीप पुआलोंकी एक छोटी-सी छाजन थी, जहाँ घनी शान्ति थी और 'कोमल लतिकाओंकी डालें मिल सघन बनातीं जहाँ कुज'। उस पुआलोंके कुटीरमें वातायन भी कटे थे, उसका प्राचीर पर्णमय एव शुभ्र बना था। हवा और प्रकाशके आवागमनकी व्यवस्था ऐसी थी कि वे क्षण भरके लिए आवें तो तुरत निकल भी जावें। उस कुटीरमें वेतसी लताका सुरुचिपूर्ण झूला भी पडा था। 'सुमनोंका कोमल सुरभि-चूर्ण' धरातल-

पर बिछा था। और, इस आयोजनामें श्रद्धाके हृदयकी अभिलाषाएँ और भावी मंगल आकांक्षाएँ थीं—

"कितनी मीठी अभिलाषाएँ
उसमें चुपके से रहीं घूम।
कितने मंगल के मधुर गान
उसके कोनोंको रहे चूम।"

मानवीय रचनाका यह प्रथम उत्कृष्ट आदर्श-प्रयत्न था। कुटुम्बकी सुरुचिपूर्ण योजनाका यह श्रीगणेश था। नवीन मानवीय संस्कृतिकी भूमिकाका यह शिलान्यास-कर्म था, जिसे 'मानव'की माँने सम्पन्न करना चाहा था। मनु देवने 'गृह-लक्ष्मी'के 'गृह-विधान'को चकित होकर देखा, परन्तु उन्हें कुछ भी अच्छा नहीं लग रहा था। वे समझ नहीं पाते थे कि आखिर यह सब क्यों किया जा रहा है, यह किसके सुखकी व्यवस्थाके लिए हो रहा है (अर्थात् यह नया जीवन-विधान अनावश्यक और व्यर्थ है)।

"मनु देख रहे थे चकित नया
यह गृह-लक्ष्मीका गृह-विधान!
पर कुछ अच्छा सा नहीं लगा
'यह क्यों? किसका सुख साभिमान?'"

मैं कह आया हूँ कि श्रद्धा ने देव-संस्कृतिसे सर्वथा भिन्न संस्कृतिकी स्थापनाके लिए यह प्राथमिक कर्म, कौटुम्बिक नवीन जीवन-व्यवस्थाका कर्म, आरम्भ किया था। मनु जिस देव-संस्कृतिकी छायामें चल रहे थे, उसमें ऐसा कोई विधान था ही नहीं। देवता इस व्यवस्थाकी कल्पना भी नहीं कर सके थे। वे अतीत और अनागतकी चिन्तासे मुक्त थे; वे एक प्रकारसे यायावर थे केवल वर्तमानको भोग लेना उनका लक्ष्य था और 'मैं स्वयं सतत आराध्य' उनका कर्म-सूत्र था। इसलिए श्रद्धाके इस विधानका रहस्य मनुकी समझके परे था। उनके अन्तर्भावको ताडकर श्रद्धाने कहा—

"यह नीड तो बन गया, परन्तु इसमें आनन्दका कलरव करनेवालोंकी भीड अभी नहीं है। तुम दूर चले जाते हो, तो मैं चुपचाप तकली चलाती हूँ और गाती हूँ कि तकलीके धागेके समान ही जीवनकी परम्परा बढती चले। तकलीके धागेसे मानवताकी नग्नता ढँक जाय और सुन्दरताका मान-स्तर बढ़े।"

ध्यान दीजिये; श्रद्धा दो बातें कह रही है। एक तो यह कि तकलीके धागेके समान ही जीवनकी परम्परा बढती चले, अर्थात् सन्तानोत्पत्ति द्वारा मानव-परम्परा अक्षुण्ण बनी रहे। आश्रमसे विदा लेनेवाले स्नातकोंको सीख देते हुए प्राचीन गुरुकुलके आचार्य उन्हें इस प्रकारकी सीख दिया करते थे। उद्देश्य यही था कि कहीं थोथे ज्ञानके प्रभावान्तर्गत होकर वे इस सृष्टि विषयक मौलिक कर्म (जनन या उत्पादन कर्म)से विरत न हो जायँ। श्रद्धाकी भी यही आकांक्षा है कि सृष्टिमें निरन्तर नवजीवनका उत्पादन होता रहे।

उसकी दूसरी आकांक्षा यह है कि उत्पादनके साथ ही-साथ सृष्टिमें 'सौन्दर्यका नया मान स्तर' भी बढ़े, नग्नता ढँक उठे, लोग शिष्ट, शालीन, मंजुल बनें। पशुतासे ऊपर उठकर मानवता सौन्दर्य-चेतनाका नव विकास करे। 'श्रद्धा' सर्गमें प्रसादजीका यह उद्धरण दिया जा चुका है कि 'संस्कृति सौन्दर्य बोधके विकसित होनेकी मौलिक चेष्टा है।' अतएव नवीन मानवीय संस्कृतिकी स्थापनाके प्रयत्नमें निरत श्रद्धाका, नवीन मानवीय सौन्दर्य-बोधके विकासका प्रयत्न स्वाभाविक या पूर्ण मनोवैज्ञानिक ही है। सुनिये उसका यह पावन गीत—

"मैं बैठी गाती हूँ तकली के प्रतिवर्तन में स्वर विभोर—
'चल री तकली धीरे धीरे प्रिय गये खेलने को अहेर।
जीवन का कोमल तन्तु बढ़े तेरी ही मंजुलता समान,
चिर-नग्न प्राण उनमें लिपटें सुंदरता का कुछ बढ़े मान।
किरनों सी तू बुन दे उज्ज्वल मेरे मधु जीवन का प्रभात,
जिसमें निर्वसना प्रकृति सरल ढँक ले प्रकाश से नवल गात।
वासना भरी उन आँखों पर आवरण डाल दे कान्तिमान,
जिसमें सौंदर्य, निखर आवे लतिका में फुल्ल कुसुम-समान।"

सरल प्रकृतिको आत्म-प्रकाशसे सम्पृक्त कर देना आनन्दवादकी प्रकृति होती है। श्रद्धा तकलीसे कते सूतके द्वारा निर्मित वस्त्रके रूपकके सहारे वास्तवमें मनुको यह बताना चाहती है कि मनुष्य वासनाके सम्मुख रचनात्मक (मनोहर) कृतियोंकी ऐसी ज्योति, गरिमा, जीवनमें भर दे जिससे एक ओर वासनाके वेगका निरोध हो, और दूसरी ओर उल्लास, प्रमोद आनन्दसे पूरित सौन्दर्य-चेतना द्वारा जीवन सम्पूरित हो उठे। उसने अपनी यह भी आकांक्षा व्यक्त कर दी कि (नर-नारीके मिलनका) उसका नव मधु प्रभात रचनात्मक कार्योंकी किरणोंसे भर जाय। तात्पर्य यह है कि भोगके उपरान्त वह अब भोगसे सम्बद्ध कर्तव्य (उत्तरदायित्व)का पालन करनेमें निजको तथा मनुको लगाना चाहती है ('काम' सर्गमें कामने 'मनोहर कृति'का जो उदाहरण दिया है उसे देखिये। श्रद्धा भी ठीक वही चाह रही है)।

आगे वह कहती है कि मेरे तकली कातनेके कारण—

"अब वह आगन्तुक गुफा बीच
पशु सा न रहे निर्वसन नग्न,
अपने अभाव की जड़ता में
वह रह न सकेगा कभी मग्न।"

"जब तुम मेरे पास न रहोगे, उस समय भी अब मेरी छोटी-सी दुनिया सूनी न रहेगी। मैं उस नये आगन्तुकको झूला झुलाऊँगी और वह अपनी मीठी बातोंसे मेरी पीड़ाको दूर कर देगा (आदि)।'

मनुसे श्रद्धाका यह कथन सहा न गया। कहाँ तो मनुकी आकांक्षा थी कि श्रद्धा केवल उन्हींका ध्यान रखे, और कहाँ श्रद्धाने उन्हें बताया कि नवागन्तुक

(शिशु)के कारण अब उनकी अनुपस्थिति अधिक न खलेगी। मनुका विकृत काम और भी भभक उठा। मनुने खीझकर श्रद्धासे कहा—

"तुम फूल उठोगी लतिका-सी
कंपित कर सुख-सौरभ-तरंग;
मैं सुरभि खोजता भटकूँगा
वन-वन बन कस्तूरी-कुरंग।"

"मैं यह ज्वाला नहीं सह सकता, मुझे मेरा ममत्व चाहिए। मैं इस पंचभूत-की रचनामें (विश्वमें) एक तत्त्व (अर्थात् स्वयं देव) बनकर रमण करूँ, यही मेरी इच्छा है—

"यह जलन नहीं सह सकता मैं
चाहिये मुझे मेरा ममत्व;
इस पंचभूत की रचना में
मैं रमण करूँ बन एक तत्त्व।"

स्पष्ट है कि मनु अपनेको एकमात्र भोक्ता और शेष विश्वको भोग्य मानते थे। उनकी दृष्टिमें किसी अन्यका न कोई महत्त्व था और न भोग अधिकार। द्वैतमें अद्वैतकी अनुभूति उनमें नहीं थी; वे भोगमें केवल अपना अधिकार मानते थे—

"यह द्वैत अरे यह द्विविधा तो
है प्रेम बाँटने का प्रकार!
भिक्षुक मैं? ना, यह कभी नहीं
मैं लौटा लूँगा निज विचार।
तुम अपने सुख में सुखी रहो
मुझको दुख पाने दो स्वतंत्र;
मन की परवशता महा दुःख
मैं यही जपूँगा महामंत्र।"

यह कहकर मनु गुफा छोड़ चले गये और श्रद्धा उन्हें रोकनेका व्यर्थ प्रयत्न करती रही।

× × ×

उपलब्धि १

(१) 'वासना' सर्गमें हम देख आये हैं कि मनुमें देव-संस्कृतिकी भोगवादी विकृतिके पराकाष्ठागत स्वरूपका एक क्षणिक आवेग ऊपर आ गया था। वे यह मान बैठे थे कि "विश्वमें जो सरल, सुन्दर हो विभूति महान्; सभी मेरी हैं, सभी करती रहें प्रतिदान।" 'कर्म' सर्गमें इसी एकान्त भोग-भावनाकी उन्मुक्त लीला प्रगट हुई; और 'ईर्ष्या' सर्गमें उसकी चरमावस्थाका स्फोट हो चला (इसलिए इस सर्गका नाम 'ईर्ष्या' सर्ग रखा गया)। उन्होंने केवल अपनेको विश्वका भोक्ता और शेष विश्वको भोग्य मान

लिया। 'चिंता' सर्गमें हम जिस 'द्वैतमूलक विकृत काम'को प्रलयका कारण बता आये हैं, वही मनुका शासन करने लगी।

ऐसा 'काम' व्यक्तिको पागल बना देता है। 'कामार्ता हि प्रकृति कृपणा.' हो हैं, उनका विवेक नष्ट हो जाता है। इस कोटिके (अहम्‌जन्य) कामसे बुद्धि विभ्रम होना गीतामें भी बताया गया है। मनुको यही विभ्रम हो गया। वे पूर्ण विकृत देव जातिकी प्रकृति, संस्कृतिकी अभिव्यक्ति करने लगे। 'आशा' सर्गमें कविने बताया (और जिसकी ओर मैंने कई स्थलोंपर संकेत भी किया है) कि 'मनुमें देव-संस्कृति फिर सजग होने लगी'। इस बिन्दुपर वह पूर्णतः खुल पड़ी।

मनु मोह (जड़ बन्धन में बुरी तरह जकड़ उठे थे, तथा (अपने देव-संस्कारके कारण) मोहके उस जड़-बन्धनमें और जकड़ उठनेके लिए अत्यधिक व्याकुल थे। वे 'वर्तमान'के सुख (केवल वर्तमानके सुख)को आँख बन्द करके भोगनेको ही अपने जीवनका लक्ष्य मान चुके थे, वे क्षणवादी भोगवादी बन उठे। उनका यह (क्षणवादी) निम्नांकित मत ध्यान देने योग्य है—

"किन्तु सकल कृतियोंकी अपनी सीमा है हम ही तो,
पूरी हो कामना हमारी, विफल प्रयास नहीं तो।"

वे केवल अपनेको केन्द्र बनाकर सारी कृतियोंको सम्पन्न करना चाहते थे। देवोंने यही किया था, और यही कारण था कि उनकी सृष्टि विकसित न हो पायी, तथा विकासके रुक जानेके कारण वह विनष्ट हो गयी।

(२) इस 'एकान्त स्वार्थ भावना'के कारण (अपने क्षणवादी जीवन-दर्शन एवं संस्कृतिके कारण) मनु यह भी सहन नहीं कर सके कि श्रद्धा अपनी भावी सन्तानको स्नेह प्रदान करे और उसमें सन्तोष, आनन्द प्राप्त करे। भावी सन्तानके प्रति मनुका यह ईर्ष्या भाव निश्चित रूपसे निन्दनीय है, और कविने उसकी काव्यात्मक भर्त्सना ही की है। श्री 'दिनकर'जीने मनुके चरित्रकी इस त्रुटिकी ओर पाठकोंका ध्यान जोरसे खींचा है, परन्तु वे कविके साथ न्याय करनेसे विरत रहे। उन्होंने काव्यकी ध्वनि और काव्य प्रयोजनको न तो स्वयं हृदयंगम करनेकी समीक्षकोचित सहृदयता बरती, और न पाठकोंमें भ्रमोत्पादन करनेमें कोई कसर ही रखी। उन्होंने मनुके इस व्यवहारका सारा दोष 'प्रसाद'के मत्थे मढ़ दिया। यही नहीं, वरन् उन्होंने मनुको 'छायावादी' प्रवृत्तियोंका प्रतिफलन करनेवाला पात्र बताकर पर्याप्त घपला भी खड़ा कर दिया।

वास्तवमें प्रसादजीकी मनुविषयक मान्यताको और सदर्भ-व्यंजनाको ठीकसे न समझनेके कारण ही 'दिनकर'जीसे यह भूल हो गयी। 'प्रसाद'ने मनुको क्या माना है, वह इन पंक्तियोंमें स्पष्ट हो जाता है—

"आज अमरता का जीवित हूँ, मैं वह भीषण जर्जर दम्भ,
आह सर्ग के प्रथम अंक का अधम पात्रमय सा विष्कम्भ।" ('चिंता' सर्ग)

स्पष्ट है कि प्रसादजीके लिए मनु देवोंका 'वह भीषण जर्जर दम्भ थे', जिसके कारण प्रलय हुआ। उन्होंने मनुको प्रथम 'मानव' नहीं, वरन् भोगवादी देव जातिके

उस प्रतिनिधिके रूपमें रखा है जिसे नवीन सृष्टि लक्ष्यकी उपलब्धिके निमित्त नूतन (मानवीय) संस्कृतिमें दीक्षित करना शेष था। यही कारण है कि मनुमें 'देव संस्कृतिको फिरसे सजग हुई' दिखाया गया और फिर उनका नया संस्कार किया गया है। इस प्रकार मनु, कविके अनुसार, एक संस्कार्य चरित्र भर थे। प्रारम्भसे ही वे भारतीय संस्कृतिके आदर्श मानवके रूपमें नहीं थे। केवल अन्तमें उनको मानवीय संस्कृतिमें नवीन स्वरूप प्राप्त हुआ। 'आत्मवाद'की साधनामें उनका विकृत काम भस्म हो गया, और उन्होंने विदेह बनकर सारस्वत प्रदेशके सभी निवासियोंको अपना अवयव माना। वे समष्टि-मानवके रूपमें निखर उठे।

गलतीसे लोग (इस स्थलपर श्री 'दिनकर'जीका नाम विशेष उल्लेखनीय है) मनुको 'कामायनी'का चरितनायक मान लेते हैं, या प्रतीकके मोहमें 'मन'का रूपक। मैंने प्रारम्भमें ही यह स्पष्ट कर दिया है कि मनुको मनका प्रतीक ही माननेसे हम वह नहीं समझ सकते जो कविने समझाना चाहा है। वे चरित नायक भी नहीं है, वे केवल एक प्रमुख पात्र हैं, ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार उनका पुत्र 'मानव' एक पात्र है। 'कामायनी' काव्यकी सांस्कृतिक (या लक्ष्य) उपलब्धिका मूल आधार श्रद्धाका व्यक्तित्व है, और उसके अन्य प्रमुख माध्यम पात्र हैं मनु, इडा और 'मानव'। न जाने क्यों ये समीक्षक 'मानव'को भूल जाते हैं। यदि यह कहा जाय कि सर्वाधिक मुख्य पात्र वह होता है जो काव्यके आरम्भसे अन्ततक रहता है, तो भी यदि हम विचार करें तो प्रकट होगा कि 'मानव'की अवतारणा यद्यपि बादमें हुई परन्तु श्रद्धाकी आकांक्षाके रूपमें तो वह 'श्रद्धा' सर्गसे ही काव्यमें प्रस्तुत हो जाता है, और अन्तिम सर्गोंमें तो निजी रूपमें उसे हम पाते ही हैं (विशेष चर्चाके लिए देखिए 'पात्र विमर्श')।

(३) तो निष्कर्ष यह रहा कि मनुकी सन्तानके प्रति ईर्ष्या उनमें देव दम्भके पुनर्स्फोटके कारण रही। देवोंमें परिवार या वात्सल्यका उदात्त भाव विकसित नहीं हो पाया था। ऐकान्तिक भोगवादी (क्षणवादी) सृष्टि या संस्कृतिमें परिवारकी पवित्र भावनाको उभरनेका अवसर ही नहीं मिल पाता। इस सर्गमें श्रद्धाकी वार्ताका आशय ठीकसे ग्रहण करनेपर यह स्पष्ट हो गया होगा कि वह मनुको 'स्वार्थ' नहीं, वरन् 'एकान्त स्वार्थ'के त्यागका परामर्श देती है। वह 'हँसो और हँसने दो'को जीवनका स्पृहणीय मार्ग बताती है। वह यह कहती है कि यह सृष्टि रचनामूलक है, हमारा कर्तव्य है कि हम उसकी सेवा करके उसे विकसित होनेमें योग दें।

श्रद्धाकी इन तथा ऐसी ही अन्य बातोंसे यह निष्कर्ष ग्रहण किया जा सकता है कि वह स्वार्थ सिद्धि (या वैयक्तिक राग भोग) और परसेवाकी समन्वितिको जीवनका श्रेय मानती है। यही कामका प्रेय श्रेय समन्वित स्वरूप है जिसकी ओर कई स्थलोंपर संकेत किया जा चुका है। 'परिवार' (या गार्हस्थ्य-जीवन) इस मार्गकी प्रस्थान भूमिका और कर्तव्य-क्षेत्र है। श्रद्धा इसी जीवन (कौटुम्बिक जीवन)की ओर जहाँ श्रेयसे अभिन्न राग अपनी आनन्द साधनामें दत्तचित्त होता है, मनुको खींच रही थी। देवताके रागमें एक नवीन (रचनात्मक श्रममयी)संस्कृतिका विधान था। संस्कृति जाति या व्यक्ति-

की आत्मा होती है, अत अपनी संस्कृतिको सहगा छोडा नहा जा सकता है। मनु भी इसीलिए भग खड़े हुए। अत मनुके श्रद्धा-त्यागका केवल सन्तानके प्रति प्रदर्शित उनकी बर्बर ईर्ष्याका कार्य न मानकर, हमें यह भी समझना चाहिए कि उसके मूलमें दो विरोधी संस्कृतियोंका द्वन्द्व था। यह वही द्वन्द्व था जो प्रलयके पूर्व ('प्रसाद'की मान्यताके अनुसार) इन्द्र, आर्योंके प्रथम सम्राट्, के सम्मुख था। उन्होंने उस युगकी आसुर जीवन मान्यता और संस्कृतिका प्रत्याख्यान करके अपनी नवीन 'आनन्दवादी' संस्कृति की स्थापना की, परन्तु उनके अनुयायी सुर भी उस संस्कृतिको ठीकसे समझ न सके। प्रलयके उपरान्त पुन इन दोनों विरोधी संस्कृतियोंका संघर्ष छिडा।

(४) मनुकी आँखमें श्रद्धा केवल नारी थी, अधिक-से-अधिक जननी। उन्हें उसका जननी रूप स्वीकार था। उसकी सन्तानको भी वे स्वीकार करनेको तैयार थे। परन्तु यह सब वे अपनी जीवन मान्यता, भोगवादी क्षणवादी (मृगयाकी) संस्कृति भूमि पर ही करते। 'कर्म' सर्ग और 'ईर्ष्या' सर्गके अध्ययनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस नवीन मार्गपर श्रद्धा चल रही थी, वह मनुको स्वीकार नहीं था। श्रद्धा जननी-स्तरसे 'माँ' स्तरपर आ चुकी थी, और अपने शिशुको अपूर्व रूपसे स्नेह प्रदान करना चाहती थी। मनुको श्रद्धाका यह नवीन मातृत्व खटक उठा, क्योंकि नारीका यह व्यक्तित्व देव जातिम अप्रकट रहा। अतएव मनुने इस नारी-रूपके प्रति विद्रोह किया और वे उसे छोडकर चले गये। उनकी ईर्ष्याका प्रमुख कारण सन्तान नहा, वरन् नारीके भीतरसे प्रथम बार व्यक्त होनेवाला वह मातृत्व था जो अपनी सन्ततियाके मगल निमित्त अपने 'स्व'का निरन्तर त्याग करते हुए विश्व मगलसे अभिन्न हो उठता है। ('दर्शन' सर्गमें मनुने श्रद्धाके माँ रूपको, सर्व मगला रूपको स्वीकार किया है, उस सर्गमें मैं पुन इस विषयकी चर्चा करूँगा।)

इस सर्गकी अन्तिम प्रमुख उपलब्धि यह है कि यहाँसे कथा दो भागोम विभक्त हो उठती है। श्रद्धा नूतन श्रेयसे अभिन्न काम मार्गपर, स्वार्थ और सेवाका (प्रवृत्ति और विरक्तिके समन्वयकी) भावनाको लेकर कर्म निरत होती है। और मनु (इस स्वस्थ मार्गको छोडकर) विकृत कामोपासनामें भटक चले। उन्होंने अपने पुराने देवमार्गपर ही कदम रखा। 'फिर नैतलवा डालपर', (इडा, स्वप्न और संघर्ष इन तीन सर्गोंमें, इन्हीं दो कथा मार्गोंका अलग-अलग विन्यास किया गया है)। यहासे देव-संस्कृति मनुके माध्यमसे अपनी पुन प्रतिष्ठाम कार्यरत हुई और श्रद्धा नवीन आनन्दवादी संस्कृतिकी स्थापनामे लगी।

× × ×

'इडा' सर्ग

पिछले सर्गमे हमने देखा कि 'मनकी परवशता महादुःखके 'महामन्त्र'का जप करते हुए मनु पुराने देव मार्गपर बढे। 'अपने प्रभुत्वकी सुख-सीमा'के निर्माणके

निमित्त वे न जाने कितने दिनोंतक भटकते रहे। जिस अहम्‌जन्य कामके संकेतपर मनु चल रहे थे उसमें सन्तोष, शान्ति और उल्लासकी प्राप्ति होती ही नहीं; वरन् उसकी सीमा अतृप्ति, अशान्ति, अवसाद, जड़ता और बुद्धि विभ्रमका ही स्पर्श करती है। अन्ततः मनु भी इसी स्थितिको प्राप्त हो गये। यह स्मरण करा देना अनावश्यक न होगा कि देव जातिकी विकृत (अपूर्ण अहन्ताजन्य) काम-भावनाके कारण प्रलय हुआ और उसके बाद मनु जिस अवसाद, जड़ता की दशामें असहाय चिन्ता-कातर हो उठे, ठीक वही अवस्था मनुकी इस सर्गके आरम्भमें प्रस्तुत है; क्योंकि जब उनका मार्ग वही पुराना था तो उनकी अन्तिम मंजिल भी वही पुरानी होगी।

अन्तमें एक और महत्त्वपूर्ण बातका उल्लेख करके मैं इस सर्गकी विवेचनामें प्रवृत्त होना ठीक मानता हूँ। वह यह है कि 'कामायनी' काव्यका विधान एकदम नाटकीय है। इसमें काल, कई घटनाओं और क्रिया-कलापोंकी अन्तर्धाराएँ व्यंजित मात्र हैं, उनका प्रत्यक्ष वर्णन नहीं है। इन व्यंजित काल और अन्तर्धाराओंको ग्रहण करते चलना काव्य बोधके लिए आवश्यक एवं अनिवार्य है। इस प्रसंगमें व्यंजित यह है कि मनुने श्रद्धाको छोड़नेके उपरान्त पर्याप्त कालतक एकान्त भोग-तृप्तिके लिए विविध प्रयत्न किये होंगे। पर उन्हें कहीं भी तृप्ति नहीं मिली। और जब कोई व्यक्ति अपने किसी स्नेही हितैषीकी सद्प्रेरणाओं—परामर्शोंको न मानकर, तथा उसका साथ छोड़कर, अपने मनचाहे कार्यमें प्रवृत्त होता है; तो असफलता मिलनेपर वह अपनी गलतीका अनुभव तो करता ही है, साथ ही वह अपने उस स्नेही-स्वजनकी बातोंका पश्चात्तापपूर्ण चिन्तन करता है। मनु इस सर्गके प्रारम्भमें ऐसा ही चिन्तन करते हैं। श्रद्धाने उन्हें 'हँसो और हँसने दो' तथा 'अपने सुखको विस्तृत कर लो सबको सुखी बनाओ' आदि जो कर्मोपदेश 'कर्म' और 'ईर्ष्या' सर्गोंमें दिये थे, मनुके मानसमें उनकी प्रतिध्वनियाँ पर्याप्त कालतक उठती रही होंगी। अन्तमें वे उनके उद्‌गारोंमें व्यक्त हो उठीं। मनु कहते हैं—

> "किस गहन गुहासे अति अधीर
> झंझा प्रवाह-सा निकला यह जीवन विक्षुब्ध महा समीर
> ले साथ सकल परमाणु पुंज नभ, अनिल, अनल, क्षिति और नीर
> भयभीत सभी को भय देता भय की उपासना में विलीन
> प्राणी कटुता को बाँट रहा जगती को करता अधिक दीन
> निर्माण और प्रतिपद विनाश में दिखलाता अपनी क्षमता
> संघर्ष कर रहा-सा सबसे, सबसे विराग सब पर ममता
> अस्तित्व चिरन्तन धनु से कब यह छूट पड़ा है विषम तीर
> किस लक्ष्य भेद को शून्य चीर।"

इन पंक्तियोंमें मनुकी प्रवृत्तिकी स्पष्ट विवेचना है। 'कर्म' सर्गमें श्रद्धाने मनुको बताया था कि 'निर्जनमें एक अकेले क्या तुम्हें प्रमोद मिलेगा', तो मनुने भी स्वीकार

किया था कि 'सत्य, अकेले सुख क्या'। परन्तु वह स्वीकृति छल पूर्ण थी, यह हम देख आये हैं। इस समय मनुको अपनी गल्तीका बोध हो गया, वे कहते हैं—

"मैंने उन शैल शृंगोंको निरखा है जो अचल हिम-खण्डोंसे रजित, उन्मुक्त और अन्योंके प्रति उपेक्षासे पूरित पर अहम् मुग्ध हैं। वे अपने जड़-गौरवके प्रतीक हैं, वसुधाकी उन्हें परवाह नहीं है (अन्योंकी उपेक्षा ही जड़ता है, मनु यही कहना चाहते हैं)। वे अपनी समाधिमें स्थिर रहते हैं, और इसीसे उन्हें सुख है। उनके कुछ स्वेद बिन्दुओंको लेकर अबोध नदियाँ बह जाती हैं। वे शृंग शोक क्रोधसे रहित, अर्थात् राग हीन जड़ बने रहते हैं—

"स्थिर मुक्ति, प्रतिष्ठा मैं वैसी चाहता नहीं इस जीवन की
मैं तो अबाध गति मरुत-सदृश, हूँ चाह रहा अपने मन की
जो चूम चला जाता अग जग प्रतिपग में कंपन की तरंग
वह ज्वलनशील गतिमय पतंग।"

"मैं उन शैल शृंगोंके समान स्थिर-मुक्ति (ऐकान्तिक विरक्ति)का जीवन नहीं चाहता, मैं वायुके समान निर्बाध गतिसे बहना चाहता हूँ (सुख भोगना चाहता हूँ)। मैं वह *'ज्वलनशील गतिमय' सूर्यके समान हूँ जो चराचर जगत्का स्पर्श किया करता* है।" इन पंक्तियोंमें जो व्यंग्य है वह आगेकी इन पंक्तियोंमें स्पष्ट रूपमें प्रस्तुत कर दिया गया है—

"अपनी ज्वालाका कर प्रसार
जब छोड़ चला आया सुन्दर प्रारंभिक जीवन निवास
वन, गुहा, कुंज, मरु अंचलमें हूँ खोज रहा अपना विकास
पागल मैं, किस पर सदय रहा? क्या मैंने ममता ली न तोड़!
किस पर उदारता से रीझा? किससे न लगा दी कड़ी होड़?
इस विजन प्रांत में बिलख रही मेरी पुकार उत्तर न मिला
लू-सा झुलसाता दौड़ रहा कब मुझसे कोई फूल खिला।
मैं स्वप्न देखता हूँ *उजड़ा कल्पना-लोक में कर निवास*
देखा मैंने कब कुसुम हास।'

ऊपर मैंने यह बताया है कि अपनी इस अवसादपूर्ण स्थितिमें मनुको अपनी गल्तीका और श्रद्धाके सदुपदेशोंकी सारताका बोध हो चला। श्रद्धाकी बात उनकी मानसमें गूँजती रही। इसीलिए (ऊपरकी पंक्तियोंमें) वे कहते हैं कि मैं ऐकान्तिक निवृत्ति, विराग, (या स्थिर-मुक्ति)के मार्गको छोड़कर वायुके समान, 'ज्वलनशील गतिमय पतंग'के समान ऐकान्तिक राग मार्गपर चल रहा हूँ। इस ऐकान्तिक राग मार्गपर चलनेका परिणाम यह हुआ कि "मैंने अपनी चेतना-ज्वाला (प्रकृत राग) के

द्वारा जीवनका सुन्दर प्रारम्भ किया (यहाँपर श्रद्धाके साथ स्थापित जीवनकी ओर लक्ष्य है)। परन्तु—

"जब मैं (ऐकान्तिक राग जलनको लेकर) अपने उस प्रारम्भिक जीवन निवास (श्रद्धाके कुटीर)को छोडकर चला आया, तबसे मैं वन, गुहा, कुज आदिमें अपनी सुख सीमाका विकास पानेका प्रयत्न कर रहा हूँ। परन्तु वास्तवमें मैं पागल रहा। कारण यह है कि मैं किसी प्राणीपर सदय न रहा (केवल अपनी स्वार्थसिद्धिमे लगा रहा), मैंने सबसे ममता तोड ली, किसीके प्रति उदारताका प्रदर्शन नहीं किया। उल्टे सबसे होड लगा दी (अर्थात् भोग भोगनेमे मैंने केवल अपनेको भोक्ता बनानेका प्रयास किया)। फल यह हुआ कि इस विजन प्रदेशमें सुखकी मेरी पुकार (भोगकी मॉग)का कोई समाधान नही मिला। मैं वास्तवमें लू के समान (स्वय दहता हुआ) समीरको जलाता (दु ख देता) चल रहा हूँ, मेरे द्वारा किसीका हृदय—फूल खिल न पाया (मुझसे किसीको आनन्द नहीं मिला)। ऐकान्तिक भोग भावनाका उजडा (आनन्द-रहित) स्वप्न मैं आजतक देखता रहा, यह मेरी कोरी कल्पना थी (वह यथार्थ आनन्द मार्ग नहीं था)। कुसुम हास (वास्तविक सुख आनन्द) मुझे (इस मार्गपर चलनेके कारण) कभी न मिल सका!"

श्री 'दिनकर'जीके समान मैं यह नही कह सकता कि यह उद्‌गार मनुके हृदयमें समय-समयपर फूटनेवाला गीतका बुलबुला है, क्योकि यह मानना तो समीक्षक के उत्तरदायित्वसे भगना होगा। जैसा कि मैंने इस प्रसगमे दो बार कहा है, मनुको श्रद्धाकी ('कर्म' सर्गमें कही गयीं) बात याद आती हैं और वे उनकी सत्यताको मान बैठे हैं। मनुके ये सब उद्‌गार उन्हींकी प्रतिध्वनियाँ हैं। उदाहरणके लिए श्रद्धा कथित ये पक्तियाँ लीजिए—

"औरों को हँसते देखो मनु हँसो और सुख पाओ
अपने सुख को विस्तृत कर लो सबको सुखी बनाओ।" (कर्म)

× × ×

"निर्जन में क्या एक अकेले तुम्हे प्रमोद मिलेगा,
नही इसी से अन्य हृदय का कोई सुमन खिलेगा।
सुख समीर पाकर, चाहे हो वह एकान्त तुम्हारा,
बढती है सीमा ससृति की बन मानवता धारा।" (कर्म)

इन पक्तियोंके अर्थके लिए देखिए 'दर्शन विमर्श'। यदि ध्यानसे इन पक्तियोंको पढकर मनुके पूर्वोद्‌धृत उद्‌गारपर विचार किया जाय तो मेरा यह कथन सत्य ज्ञात होगा कि यह उद्‌गार 'गीतका बुलबुला' नहीं, वरन् श्रद्धाके सत्परामर्शोंकी स्वीकृतिकी प्रतिध्वनि है। मनुके उपर्युक्त कथनका निष्कर्ष यह रहा कि—

ऐकान्तिक विरति और ऐकान्तिक अनुरक्ति प्रत्येक प्रकारका जीवन असामाजिक एव आनन्द शून्य होता है। दूसरे शब्दोंमे 'केवल तप' या 'केवल भोग' अहितकर

होता है। ये दोनों मार्ग कामका प्रेय श्रेय समन्वित मार्ग नहीं है। कामने और श्रद्धाने, मनुको इन दोनोंके समन्वयका परामर्श दिया था। परन्तु मनु अपने पूर्व-संस्कारके कारण केवल भोग मार्गपर चले और फल हुआ अवसाद। उन्हें अब यह प्रतीत होने लगा कि उन्होंने सही रास्ता छोड दिया। सही रास्तेको वे 'सुन्दर प्रारम्भिक जीवन निवास' (श्रद्धाके साथका जीवन, कौटुम्बिक जीवन)के त्यागके समय ही छोड आये। जीवनका आनन्द 'वन, गुहा, कुंज, मरु अंचल' आदि निर्जन प्रदेशमें ढूँढना पागलपन है। यह तो कुटुम्ब-जीवनके 'सुन्दर प्रारम्भिक निवास'में मिलता है और तदुपरान्त वह वैयक्तिक आनन्द 'मानवताकी धारा' बनकर अपना विकास करता है (श्रद्धाकी उपर्युक्त उद्धृत पंक्तियोंको देखिए)।

× × ×

इसके उपरान्त तीन पदोंमें मनु अपनी दुःखपूर्ण और निराशाच्छादित जीवन-स्थितिका उल्लेख करते हैं। ऐसी स्थितिमें पड़े प्रत्येक मनुष्यकी अनुभूतिका इन पदोंमें सामान्य प्रतिफलन हो जाता है। 'जीवन निशीथके अन्धकार' (निराशा)को लक्ष्य करके मनुने जो कुछ कहा है वह उनकी निजी अनुभूति होकर अन्योंकी भी अनुभूति बननेमें पूर्णतः समर्थ है और इसीलिए वह अत्यधिक रमणीय है। निराशाकी अनुभूति-का जो प्रस्तुतीकरण प्रसादने इन पदोंमें किया है वह विश्व-साहित्य-समीक्षकोंकी 'अना-मिका' नहीं 'कनिष्ठिका'पर आसीन होनेकी क्षमतासे परिपूरित है (काव्य प्रयोजनको समझनेके लिए इन पदोंकी व्याख्या अनिवार्य नहीं है, अतः उसे यहाँ नहीं दिया जा रहा है)। आगे मनु सूने सारस्वत नगरका स्मृत्यात्मक सटीक विवेचन करते हैं, और कविने उसका उपसंहार इस प्रकार किया है—

"वृत्रघ्नी का वह जनाकीर्ण उपकूल आज कितना सूना
देवेश इन्द्र की विजय-कथा की स्मृति देती थी दुख दूना
वह पावन सारस्वत प्रदेश दुःस्वप्न देखता पड़ा क्लांत
फैला था चारों ओर ध्वान्त।"

× × ×

यह वही स्थान था, जहाँ इन्द्र और वृत्रासुरका युद्ध हुआ था और अन्तमें असुरोंको हराकर इन्द्रने देव-राज्यकी स्थापना की थी। मनु जब यहाँ पहुँच गये तो स्वभावतः उनके हृदयमें पुरानी स्मृतियाँ जग पडीं, क्योंकि वे भी देव थे और सारस्वत प्रान्तमें उनका अतीत बँधा था। वे प्रलयोपरान्त आज पहली बार इस विध्वस्त नगरके उपकूलमें पहुँचे थे। उन्हें देवों और असुरोंके बीच होनेवाले संघर्षों और उनके जीवन-मतोंकी भिन्नताकी स्मृति हो आई। उन्होंने उन दोनोंको समीक्षा करनी आरम्भ की (जिसकी चर्चा 'चिन्ता' सर्गमें की गई है)। यहाँपर मैं उसका साराश नीचे दे रहा हूँ।

"असुरोंमें प्राणोंकी पूजा (भौतिकता)की प्रतिष्ठा थी और वे भौतिक सुख-समृद्धिको ही जीवन लक्ष्य मानते थे। दूसरी ओर देवोंमें 'अपूर्ण अहम्' था; वे मानते थे कि 'मैं स्वयं सतत आराध्य', 'किसको खोजूँ फिर शरण और'। इस प्रकार दोनोंमें

परम शक्तिके अद्वैत रूपके प्रति विश्वास-हीनता थी। दोनों द्वैत-भावनाके शिकार होनेके नाते भोगवादी हो उठे। अपने मतभेदोंके कारण उनमें युद्ध हुआ करते थे। मुझमें (मनुमें) इस समय वे देवासुर प्रवृत्तियाँ संघर्ष कर रही हैं। क्योंकि मुझमें एक ओर देवोंकी 'ममत्वमय आत्ममोह स्वातन्त्र्यमयी उच्छृंखलता' है; तो दूसरी ओर असुरोंकी 'तन रक्षामें पूजन करनेकी व्याकुलता' है, अर्थात् प्राण पूजाका भाव है। ये दोनों प्रवृत्तियाँ इस समय मुझमें (एक ही व्यक्तिमें) हैं, यही उनका परिवर्तित रूप है। इनके कारण मैं बड़ा दीन हो उठा हूँ। 'सचमुच हूँ मैं श्रद्धा-विहीन'। (इस अन्तिम वाक्यसे मनुका आशय यह है कि) देवासुरोंके समान वास्तवमें मुझे भी परम सत्ताके अद्वैत रूपके प्रति विश्वास नहीं है और इसीलिए श्रद्धा नहीं है" (यहाँपर 'श्रद्धा' शब्दका प्रयोग भावविशेषके रूपमें हुआ है)।

× × ×

इसी समय मनुकी अन्तश्चेतनापर पुनः कामकी छाया उभर आती है और उसकी वाणी मानो मनुके मानसमें ध्वनित हो उठती है। 'काम' सर्गमें 'काम'ने मनुको यह बतलाया था कि 'जड़ चेतनताकी गाँठ'की सुलझन श्रद्धा है; यदि उसे पाना चाहते हो तो उसके योग्य बनो। बहुत दिनोंतक उसीकी प्रेरणाका गलत अर्थ लगाकर मनु चल पड़े और किसी प्रकार (छल द्वारा) उन्होंने श्रद्धाका तन पाया, श्रद्धाकी अन्तरात्माको वे स्पर्श या ग्रहण न कर पाये। अब भटकनेके बाद और श्रद्धाकी सद्प्रेरणाओंकी सत्यताकी प्रतीति होनेके उपरान्त जब उन्होंने यह सोचा कि देवासुरोंकी विकृतियाँ उनमें भर उठी हैं और वे 'सचमुच श्रद्धाविहीन' हैं, तो उनकी स्मृतिमें एकाएक 'काम'का प्रकट हो उठना मनोवैज्ञानिक है। मनुके अवचेतनसे उभरकर मानो काम व्यंग करता हुआ कह उठा—

"मनु! तुम श्रद्धा को गये भूल
उस पूर्ण आत्मविश्वासमयी को उड़ा दिया था समझ तूल।"

पूर्वोक्त पंक्तिमें 'श्रद्धा' शब्दका भाव-विशेषके अर्थमें प्रयोग करनेपर एकाएक मनुके मानसमें श्रद्धा, नारीकी स्मृति हो आई और उसे पानेकी सत्प्रेरणा देनेवाले कामकी वाणी मानो सुनायी पड़ी कि 'मनु, श्रद्धाको वास्तवमें तुम भूल गये। वह तो 'पूर्ण आत्म-विश्वासमयी' है, अर्थात् परमसत्ताके अद्वैत रूपके प्रति पूर्ण विश्वास रखती है (न कि देवोंके समान अपूर्ण 'अहम्')। तुमने उसे महत्त्वहीन समझा।'

"तुमने तो समझा असत विश्व जीवन-धागे में रहा झूल
जो क्षण बीते सुख साधन में उनको ही वास्तव लिया मान
वासना तृप्ति ही स्वर्ग बनी, यह उलटी मति का व्यर्थ ज्ञान।"

'कर्म' सर्गमें मनुने जीवनकी क्षण भंगुरताका उल्लेख करते हुए सुखके क्षणोंके भोगको ही जीवनका चरम स्पृहणीय लक्ष्य घोषित किया था, और वहीं पर वासनातृप्तिको ही स्वर्ग माना था। काम मनुकी इसी 'उल्टी मति'की भर्त्सना उपर्युक्त पंक्तियोंमें करता है। आगेकी पंक्तियोंमें वह नर-नारीके सम्बन्धको लक्ष्य करके कहती है—

"तुम भूल गये पुरुषत्व मोह में कुछ सत्ता है नारी की
समरसता है सम्बन्ध बनी अधिकार और अधिकारी की।"

अर्थात्, 'मनु तुम अपने पुरुषत्वके मोहमें नारी (श्रद्धा)के महत्त्वको भूल गये। तुम यह नहीं समझ सके कि नर-नारीका सम्बन्ध समानताका होता है।' (नारीकी महत्ताकी उपेक्षा करने, नारीकी बातोंकी उपेक्षा करनेके कारण रामने भी इसी प्रकारकी बातें बालिसे कही थी—

'मूढ़ तोहि अतिसय अभिमाना। नारि सिखावन धरेसि न काना।'

मन्दोदरीकी सीख न माननेसे रावणका भी अहित हुआ! प्रायः सभी असुराधिपोंकी पटरानियाँ बड़ी ही शालीन और श्रद्धाके समान ही 'पूर्ण आत्मविश्वासमयी' रूपमें पुराण-वर्णित हैं। उन्होंने अपने पतियोंकी परम सत्ताके विरोधमें निजको सर्वशक्तिमान माननेकी भावनाका विरोध, नम्र विरोध, किया है)। इन उपर्युक्त पत्नियोंका मर्म कामकी अगली वाणीमें मिलेगा, जो मनुके इस प्रश्नके उत्तरमें निकली कि "क्या मैं भ्रान्त साधनामें ही अबतक लगा रहा? क्या तुमने श्रद्धाको पानेके लिए नहीं कहा था? (मैंने उसे) पाया तो, उसने भी मुझको दे दिया हृदय 'निज' अमृत धाम, फिर क्यों न हुआ मैं पूर्णकाम!" काम कहता है—

"मनु उसने तो कर दिया दान
वह हृदय प्रणय से पूर्ण सरल जिसमें जीवन का भरा मान
जिसमें चेतनता ही केवल निज शान्त प्रभा से ज्योतिमान
पर तुमने तो पाया सदैव उसकी सुन्दर जड़ देह—मात्र
सौंदर्य जलधि से भर लाये केवल तुम अपना गरल पात्र।
तुम अति अबोध, अपनी अपूर्णता को न स्वयं तुम समझ सके
परिणय जिसको पूरा करता उससे तुम अपने आप रुके।
'कुछ मेरा हो' यह राग भाव संकुचित पूर्णता है अजान
मानस जलनिधि का क्षुद्र यान।"

विश्लेषण करनेपर इस कथनमें तीन बातें कही गयी हैं। पहली बात यह है कि श्रद्धाने मनुको वह हृदय अर्पित कर दिया, जिसमें प्रणयसे पूर्ण सरल जीवनका मूल्य था, और जिसमें जड़ताका स्पर्श नहीं, वरन् केवल चेतनताकी शान्त प्रभा थी। परन्तु अपनी वन, गरल वासनाके कारण उस चेतन सौन्दर्य जलधिसे मनुको केवल वासनाकी तृप्ति मिली क्योंकि वे उसके हृदयको नहीं, वरन् उसकी जड़ देहको ही ग्रहण कर पाये। दूसरी बात कामने यह कही कि मनु, तुम अपनी अपूर्णताको समझ नहीं सके। तुम 'कुछ मेरा हो'के राग भावसे ही संचालित थे, और यह ऐकान्तिक राग भाव संकुचित पूर्णता (या अपूर्ण अहता) है। इसके द्वारा मानस-समुद्रको पार नहीं किया जा सकता है, अर्थात् मानसको शान्ति नहीं मिल सकती है।

तीसरी, और सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण, बात यह है कि इस अपूर्णता (अर्थात् ऐकान्तिक राग भाव,को पूर्ण करनेका काम परिणय (नर-नारीके गार्हस्थ्यजीवन)का है।

वही नर नारीको पूर्णकाम बना सकता है। परन्तु उस जीवनको मनुने स्वय छोड दिया। इस पवित्र बन्धनको छोडकर मनु सर्वथा स्वतन्त्र बननेके प्रयत्नमें रहे। इसी तथ्यको लक्ष्य करके काम आगे कहता है —

"हाँ अब तुम बनने को स्वतंत्र
सब कलुष ढाल कर औरों पर रखते हो अपना अलग तंत्र
द्वन्द्वों का उद्गम तो सदैव शाश्वत रहता वह एक मत्र
डाली में कटक सग कुसुम खिलते मिलते भी है नवीन
अपनी रुचि से तुम बिंधे हुए जिसको चाहे ले रहे बीन
तुमने तो प्राणमयी ज्वाला का प्रणय-प्रकाश न ग्रहण किया
हाँ जलन वासना को जीवन भ्रम तम में पहला स्थान दिया।"

कुछ पक्तियाँ पूर्व मनुका यह कथन हमने सुन लिया है कि देवासुरोंका वह द्वन्द ही अपने परिवर्तित रूपमें मनुको 'दीन' बना रहा है। उसीको लक्ष्य करके काम कहता है कि परिणयके पवित्र बधनको, (जो पूर्णकाम बनाता है) छोडकर अब "तुम स्वतन्त्र बनना चाहते हो और अपनी दीन दशाको देवासुरोंके पूर्व द्वन्द्वके परिवर्तित रूपका फल बताकर अपनेको इस दुष्परिणामके उत्तरदायित्वसे बचा रहे हो। द्वन्द्व तो शाश्वत रहता है, उसका उद्गम एक शाश्वत सिद्धान्त है। डालीमें काँटे और फूल दोनों एक साथ रहते हैं। अपनी रुचिमें बँधे हुए तुम अपनी इच्छासे उनमेंसे किसी एकका चुनाव कर लेते हो। प्रणयका प्रकाश और वासनाका अन्धकार ये दोनों ऐसे ही द्वन्द्व हैं। तुमने अपनी प्रवृत्ति या रुचिके कारण प्रणय प्रकाशको (जिसमें प्राणमयी ज्वाला रहती है) छोडकर वासना अन्धकारको (जिसमें जीवन भ्रम और विनाशकारी जलनका निवास रहता है) स्वीकार किया।" इसलिए अब तुम्हे और तुम्हारी सृष्टिको नियति चक्रका अपरिहार्य शाप भरा दण्ड भोगना पडेगा—

'अब विकल प्रवर्तन हो ऐसा जो नियति चक्रका बने यत्र
हो शाप भरा तव प्रजा-तत्र।"

शापके रूपमें, काम मनुके भविष्य जीवनका रूप प्रस्तुत करते हुए आगेकी कई पक्तियाम जो कुछ कहता है उसकी सम्पूर्ण चर्चा प्रस्तुत अध्ययनके लिए अनिवार्य नहीं है, इसलिए में उसके कथनके कुछ अशोंकी ही चर्चा करूँगा। अस्तु,

कामने कहा —"मनु तुम्हारी सृष्टि युद्धसे भर जाय। और, हिंसाकी ज्वालामें सारे शुद्ध, उदात्त भाव नष्ट हो जाँय। अपनी शकाओंसे व्याकुल होकर तुम अपने हितके विरुद्ध कार्य-रत रहो। अपनेको नानाविध आवरणोंसे ढँककर अपना कृत्रिम रूप दिखाते रहो। पृथ्वी तलपर तुम दम्भ स्तूपके समान बने फिरा करो। श्रद्धा इस विश्वकी रहस्य है, वह व्यापक विशुद्ध विश्वासमयी है, उसने तुम्हें अपनी सारी भाव निधियाँ (नवनिधि) दे दी, फिर भी वह तुमसे छली गयी। इसलिए अब तुम वर्तमान सुखसे वचित रहो और तुम्हारा भावी विकास भी अवरुद्ध रहे। तुम्हारा सारा प्रपच, तुम्हारा सारा जीवन, अशुद्ध बन उठे।" और,

"तुम जरा मरण में चिर अशांत
जिसको अब तक समझे थे जीवनमें परिवर्तन अनत
अमरत्व वही अब भूलेगा तुम व्याकुल उसको कहो अत
दुखमय चिर चिंतन के प्रतीक ! श्रद्धा वंचक बनकर अधीर
मानव संतति ग्रह रश्मि रज्जु से भाग्य बाँध पीटे लकीर
'कल्याण भूमि यह लोक' यही श्रद्धा रहस्य जाने न प्रजा
अतिचारी मिथ्या मान इसे परलोक वंचनासे भर जा
आशाओं में अपने निराश निज बुद्धि विभव से रहे भ्रांत
वह चलता रहे सदैव श्रान्त ।"

इससे पूर्वके पाँच पदोंमे (जिसमेंसे केवल पाँचवें पदकी गद्य-व्याख्या ऊपर उद्धृत की गयी है) कामने मनु और उनकी प्रजाके जीवनके रागमूलक क्षेत्रकी भावी यातनाओंका उल्लेख किया है। इस छठे पदमें वह यह कहना चाहता है कि जीवनकी उन यातनाओंके कारण लोग जीवनसे विरक्त हो उठेंगे और इस प्रकार आनन्दसे भी वंचित रहेंगे। अब उपर्युक्त पंक्तियोंके अर्थपर भी विचार कर लीजिए। "हे मनु, तुम लोग जरा मरणमें सर्वदा अशान्त रहो (अर्थात् उसमें शान्ति आनन्दकी प्राप्ति न कर सको)। क्योंकि जिस परिवर्तनको अबतक तुम अनन्त अमरत्व समझे थे (श्रद्धाने और कामने भी, मनुको यही उपदेश 'श्रद्धा' सर्ग और 'काम' सर्गमें दिया था, देखिए पृ० ७५), उस तथ्यको भूलकर अब तुम लोग परिवर्तनको अर्थात् जरा मरणको जीवनका अन्त समझो। और इस प्रकार चिर कालतक दुखानुभूतिसे पीडित रहो। फल यह हो कि परम सत्ताके अद्वैत मंगलमय विश्वात्म रूपकी श्रद्धाका त्याग करके मानव सन्तान ग्रहोंके साथ अपना भाग्य बाँधकर भ्रममें चलती रहे।

(अन्तिम तीन पंक्तियाँ विशेष महत्त्वकी हैं), श्रद्धाका रहस्य इस विश्वासमें है कि यह विश्व कल्याण भूमि है। जब व्यक्तिको यह अनुभूति होगी कि यह विश्व जीवन मांगलिक है तभी उसे जीवनमें श्रद्धा उत्पन्न होगी। परम सत्ता (ब्रह्म)के विश्व रूपकी यह अनुभूति ही श्रद्धा है, यही अनुभूति कामायनी श्रद्धाकी थी। काम कहता है कि "मनु, अब तुम लोगोंको यह अनुभूति न हो कि 'यह लोक कल्याण भूमि है'। और फिर फलस्वरूप, इस लोकको मिथ्या समझकर (जगत्को मिथ्या मानकर) परलोक की भावनासे अभिभूत हो चलो। परलोककी भावना आत्मवंचना ही है। इसलिए परलोक साधनामें आनन्द प्राप्तिकी आशासे निरत होनेपर निराशा ही हाथ लगेगी, फिर भी तुम अपने बुद्धि विभवसे भ्रान्त श्रान्त चलते रहो।"

काम-वाणीका निष्कर्ष

इस सम्पूर्ण प्रसंगकी विवेचनासे हम इस निष्कर्षपर पहुँचे कि—(१) कामने मनुको शाप इसलिए दिया कि मनु 'परिणय'के उस पवित्र जीवनको त्यागकर अपने ऐकान्तिक राग भावको लिए भटक पड़े, जिसमें 'वासना'की जलन नहीं, वरन् 'प्राण

'मयी ज्वालाका प्रणय-प्रकाश' रहता है, जिसमें मानवकी अपूर्णताको पूर्ण करनेकी क्षमता होती है। प्रणय स्निग्ध इस गार्हस्थ्य-भूमिको छोड़कर मनुने कामको शाप देनेके लिए विवश कर दिया। आरम्भमें मनुको नवीन सृष्टिके सञ्चालनकी प्रेरणा कामने इसलिए दी थी कि उसीके कारण (अर्थात् कामके कारण) देव-सृष्टि भोगवादी बनी रही और परम शक्तिकी इच्छाकी पूर्ति न हो सकी। प्रलयके उपरान्त कामने अपनी त्रुटि महसूस की और वह नवीन सृष्टिमें अपने निर्माणात्मक प्रगतिशील, विकासोन्मुख, (व्यापक, विश्व-रूपकी उपलब्धिकी ओर उन्मुख) स्व-रूपकी मनु द्वारा पूर्ण अभिव्यक्ति चाहने लगा। परन्तु मनुने जैसे ही वह प्रगतिशील मार्ग छोड़ा, वैसे वह पुनः मनुके सामने उपस्थित होनेके लिए विवश हुआ। अतएव जिस कारण कामका पुनर्प्रस्तुत होना अनिवार्य हो उठा, या मनुने जिस कर्मके लिए उसने क्रुद्ध शाप दिया उसे हमें विशेष रूपसे धारणामें बनाये रखना चाहिए।

क्योंकि यही काव्यकी उपलब्धिका मूलाधार है। मैं कह आया हूँ कि 'इड़ा' सर्ग इस काव्यकी मध्यावस्थाका पूर्ण विन्यास स्थल है। अतएव इसकी उपलब्धियोंपर हमें विशेष ध्यान देना होगा। तो, इस प्रसंगमें अब हम पहली बात यह नोट कर रहे हैं कि 'परिणय' (गार्हस्थ्य)-जीवनकी प्रणय-प्रकाश पूरित भूमिकासे मनुके पलायन कर जानेको कामने अपने प्रगतिशील स्वरूपमें बाधक पाकर मनुको शाप दिया।

(२) दूसरी बात यह रही कि इस मार्गको छोड़ देनेपर जीवनका राग-पक्ष संघर्षों, यातनाओंसे भर जाता है और फिर जीवनके प्रति विरक्ति भी प्रस्तुत होती है। लोग 'कल्याण भूमि यह लोक'को भूलकर परलोक-प्राप्ति-साधनामें निरत होकर आनन्द (जीवनके आनन्द)से वंचित हो जाते हैं। इस प्रकारके जीवनमें किसी भी स्थितिमें निराशा और दुःखके अतिरिक्त और कुछ नहीं मिलता।

इन तथ्योंको याद रखते हुए अब हम कथा-सूत्रको पकड़कर आगे बढ़ेंगे—

× × ×

मनु-इड़ा-प्रसंग

कामके शापसे मनु अतिशय चिन्तित हो उठे। पास ही श्यामल घाटीमें सरस्वती नदी बह रही थी। वातावरण मनोरम था, प्रभातका समय था। एक बाला मनुके सामने आ उपस्थित हुई। उसके नयनाभिराम रूपको देखकर मनुका 'सोया जीवनका तम विराग' (अर्थात् मनुकी विरक्ति निराशा दूर हो गयी)। 'बिखरी अलकें ज्यों तर्क-जाल' वाले पदमें कविने उस बालाका अत्यन्त आह्लादपूर्ण चित्र प्रस्तुत किया है जिसकी चर्चा मैं इस समय स्थगित रख रहा हूँ। मनु चौंककर कह उठे—"अरे कौन आलोक-मयी स्मित चेतनता आई यह हेमवती छाया।" उस बालाने कहा कि 'मैं हूँ इड़ा, कहो तुम कौन यहाँपर रहे डोल।' उत्तरमें मनुने कहा—'मनु मेरा नाम सुनो बाले! मैं विश्व पथिक सह रहा क्लेश।" इड़ाने मनुका स्वागत किया और बताया कि यह जो सारस्वत नगर तुम्हारे सामने प्रलय विध्वस्त पड़ा है उसके पुनर्निर्माणकी समस्या मेरे

सामने हैं। मैं सहयोगीकी आशामें पड़ी हूँ। इसपर मनुने कहा—"हे देवि, मैं तुम्हारे सहयोगके लिए तत्पर हूँ। मुझे बताओ कि जीवनका मूल्य (लक्ष्य) क्या है ! मेरे भयका भविष्य क्या है, अर्थात् भयसे मुक्ति पानेका उपाय क्या है ?" इस प्रकार मनुने उस देवीसे अपना गन्तव्य और कर्तव्य पूछा—

"मैं तो आया हूँ देवि बता दो जीवन का क्या सहज मोल
भयके भविष्यका द्वार खोल।"

आगेके दो पदोंमें कविने मनुके प्रश्नके शेष अंशको प्रस्तुत किया है जिसका गद्यानुवाद इस प्रकार है—

"*इस विश्व कुहरमें जिसने इन्द्रजाल (माया)के द्वारा ग्रह, तारा, विद्युत्* आदिका प्रपंच रचकर फैलाया है, वह महाकाल सागरकी भीषणतम लहरोंके समान खेल रहा है। तो क्या उस निष्ठुरने पृथ्वीके क्षुद्र प्राणियोंको भयभीत करनेके लिए *इस कठोर सृष्टिकी रचना की है जिसमें केवल विनाश की जीत होती है ! यदि यही* वास्तविकता है तो मूर्ख मनुष्य (प्राणी)ने आजतक इसे सृष्टि (रचना) नामसे क्यों *पुकारा, यह तो नाशमयी है। इस नाशमयी रचनाका जो कोई अधिपति हो, वह* प्रतीत होता है कि उसतक प्राणीके दुःखकी पुकार न पहुँची, अर्थात् उसने प्राणीपर कृपा नहीं प्रदर्शित की। यहाँ तो सुखको निरन्तर विषादकी परिधि घेरे हुए है ! हे देवी, प्राणीके सुखपर किसने इस विषाद पटको आवृत कर दिया है ?"

"उस शनिके नील लोककी छायाके समान यह गगन-व्याप्त शोक ऊपर-नीचे फैला है, अर्थात् चारों ओर विषाद और शोकका ही साम्राज्य है, और यह उस महाकालकी छाया है। इसके परे सुना जाता है कि कोई प्रकाशका लोक है। यदि ऐसी *कोई प्रकाश सत्ता है तो क्या वह अपनी एक किरण प्रदान करके मुझे इस शोक दुःखकी* छायासे मुक्त होनेकी सहायता प्रदान कर सकती है, क्या वह इस प्रकार नियति-जालसे मेरी मुक्तिका उपाय प्रस्तुत कर सकती है ?"

इसके उत्तरमें इडाका कथन है—

"कोइ भी हो वह क्या बोले, पागल बन नर निर्भर न करे
अपनी दुर्बलता बल सम्हाल गन्तव्य मार्ग पर पैर धरे,
मत कर पसार निज परों चल, चलने को जिस को रहे झोंक
उसको कब कोई सके रोक।"

× × ×

"हाँ तुम ही हो अपने सहाय ?
जो बुद्धि कहे उसको न मान कर फिर किसकी नर शरण जाय
जितने विचार संस्कार रहे उनका न दूसरा है उपाय
यह प्रकृति परम रमणीय अखिल ऐश्वर्य भरी शोधक विहीन
तुम उसका पटल खोलने में परिकर कसकर बन कर्म लीन

सबका नियमन-शासन करते बस बढ़ा चलो अपनी क्षमता
तुम ही इसके निर्णायक हो, हो कहीं विषमता या समता
तुम जड़ता को चैतन्य करो विज्ञान सहज साधन उपाय
यश अखिल लोक में रहे छाय।"

इन पंक्तियोंपर विचार करनेके पूर्व मैं यह निवेदन कर देना ठीक समझ रहा हूँ यह सारस्वत नगर प्रलयके पूर्व देव-संस्कृतिका केन्द्र था। जैसा कि कहा जा चुका है, यहींपर इन्द्रने असुरोंको हराकर 'आत्मवाद'की प्रतिष्ठा की थी। 'रहस्यवाद' नामक निबन्धमें प्रसादजीने लिखा है कि "प्रारम्भिक वैदिक कालमें प्रकृति-पूजा या बहुदेव-उपासनाके युगमें ही, जब 'एक सद्विप्र बहुधा वदन्ति'के अनुसार एकेश्वरवाद विकसित हो रहा था, तभी आत्मवादकी प्रतिष्ठा भी पल्लवित हुई। इन दोनों धाराओंके दो प्रतीक थे। एकेश्वरवादके वरुण और आत्मवादके इन्द्र प्रतिनिधि माने गये। वरुण न्यायपति राजा और विवेक पक्षके आदर्श थे। महावीर इन्द्र आत्मवाद और आनन्दके प्रचारक थे। वरुणको देवताओंके अधिपति पदसे हटना पड़ा, इन्द्रके आत्मवादकी प्रेरणाने आर्योंमें आनन्दवादकी विचारधारा उत्पन्न की। फिर तो इन्द्र ही देवराज-पदपर प्रतिष्ठित हुए। × × × बाहरी याज्ञिक क्रिया-कलापोंके रहते हुए भी वैदिक आर्योंके हृदयमें आत्मवाद और एकेश्वरवादकी दोनों दार्शनिक विचारधाराएँ अपनी उपयोगितामें संघर्ष करने लगीं। सप्तसिंधुके प्रबुद्ध तरुण आर्योंने इस आत्मवादी धाराका अधिक स्वागत किया, क्योंकि वे स्वत्वके उपासक थे। और वरुण यद्यपि आर्योंकी उपासनामें गौण रूपसे सम्मिलित थे, तथापि उनकी प्रतिष्ठा असुरके रूपमें असीरिया आदि अन्य देशोंमें हुई।" ४

इस उद्धरणसे यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रसादजीके अनुसार, प्रलय-पूर्व देव-सृष्टिमें वरुणके एकेश्वरवादी और इन्द्रके आत्मवादी सिद्धान्तोंका संघर्ष था। और इन्द्रके आत्मवादकी अन्तमें विजय हुई। परन्तु वरुणके एकेश्वरवादका देव-सृष्टिमें अस्तित्व रहा, अन्यथा प्रलयके उपरान्त आर्योंमें पुनः इन दो धाराओंका संघर्ष न उठा होता। यहींपर अब यह भी निष्कर्ष निकलता है कि यदि इन्द्रके आत्मवादकी पूर्ण प्रतिष्ठा देव-सृष्टिमें सम्पन्न हो गयी होती तो, प्रसादजीकी मान्यताके अनुसार, प्रलय न हुआ होता। क्योंकि उस दशामें सृष्टि शक्ति देवोंका विनाश क्यों किये होती, और पुनः आत्मवादकी पूर्ण प्रतिष्ठाके लिए नवीन मानवीय सृष्टिकी आवश्यकता ही क्यों पड़ी होती।

(मैं यह पुनः स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि हमारे काव्य अध्ययनके लिए यह पैरवी करना आवश्यक नहीं है कि प्रसादजीकी उपर्युक्त विवेचना सही है या गलत। क्योंकि हमें तो केवल यह देखना है कि कविको कहना क्या है, और उसने क्या देना चाहा है)। अब यदि मेरा उपर्युक्त निष्कर्ष ठीक है तो मुझे यह कहना है कि प्रसाद-जीके अनुसार, देव सृष्टिमें वास्तवमें इन्द्रके आत्मवादकी पूर्ण प्रतिष्ठा न हो सकी। यद्यपि इन्द्र देवराजके पदपर प्रतिष्ठित हो उठे थे; फिर भी 'आत्मवाद'का विकास अवरुद्ध ही

रहा। कारण यही रहा कि वह समय एकेश्वरवादी मतसे भी प्रभावित था और प्रभाव एकाएक समाप्त नहीं हो पाता (सत्य, अहिंसाके प्रतिष्ठापक गाधीके सिद्धान्तोंको उनके अनुयायी कांग्रेसी यहाँतक विकसित या पूर्ण प्रतिष्ठित कर सके ?)। श्रद्धामें 'आत्मवादी' सिद्धान्तकी पूर्ण अनुभूति थी, पर मनुको (तथा उन्हींके समान अन्य देवोंको) उसकी पूर्ण अनुभूति न थी।

अपनी इस 'अपूर्ण अहता' या अपूर्ण आत्मवादके कारण देव जाति भोगवादी हो गयी। देवोंने अपनेको ही भोक्ता एव शक्तिमान मान लिया। इडा इसी देव-जातिको बुद्धि प्रदान करनेवाली या चेतना प्रदान करनेवाली थी। इस समय मनु उसीके सम्पर्कमें पुनः आ पड़े; और उसने उन्हें उसी मार्गपर चलनेकी प्रेरणा प्रदान की, जिसपर उसने *प्रलय-पूर्व देवोंको चलाया था। पुनः श्रद्धा द्वारा आरम्भ किये गये पूर्ण आत्मवादको,* देवोंके अपूर्ण आत्मवादके द्वारा, विकसित होनेसे रोकनेका प्रसंग उत्पन्न हुआ। अपनी इस बातको स्पष्ट करनेके लिए अब मैं इडाकी उपर्युक्त प्रेरणा और मनु द्वारा देव-जीवनकी सैद्धान्तिक त्रुटियोंकी विवेचना दोनोपर विचार करना चाहता हूँ। पहले देव-जीवनकी सैद्धान्तिक त्रुटियोंकी विवेचना विषयक निम्नांकित पंक्तियों देख लीजिए—

"उस ओर आत्म-विश्वास निरत सुर वर्ग कह रहा था पुकार—
मैं स्वयं सतत आराध्य आत्म-मंगल उपासना में विभोर।
उल्लासशील मैं शक्तिकेन्द्र, किसकी खोजूं फिर शरण और
आनंद उच्छलित शक्ति-स्रोत-जीवन विकास वैचित्र्य भरा।
अपना नव नव निर्माण किये रखता यह विश्व सदैव हरा।"

× × ×

इडाका कथन उद्धृत किया ही जा चुका है। दोनोंको साथ-साथ पढनेपर प्रत्येक पाठकको यह ज्ञात हो जायगा कि मनुके अनुसार देवोंका जो 'अपूर्ण आत्मवाद (अहता)' का सिद्धान्त था उसीका प्रतिपादन इडाकी पूर्वोद्धृत उक्ति भी कर रही है। वह मनुसे कहती है, "मनु, तुम्हे पागल बनकर किसी भी अन्य शक्ति (वह चाहे जो हो) पर *निर्भर नहीं रहना चाहिए; अपनी दुर्बलता (असफलता)से बल प्राप्त* करते अभीष्ट मार्गपर बढते चलो। तुम किसी बाह्य सत्ताके सम्मुख हाथ न फैलाओ (सहायताकी याचना न करो), अपने बलपर चलो। जिसमें चलनेकी लगन होती है, उसे कोई रोक नहीं सकता है।" "तुम स्वय अपने सहायक हो; बुद्धिके अनुसार काम न करके मनुष्य अन्य किसकी शरणमें जाय (और क्यों जाय ?)।···आदि।"

इस प्रकार, इडा मनुको उस वैज्ञानिक मानववादी *मार्गपर ले चली, जिसपर* चलकर देव जातिने प्रकृतिको अपने वशमें करनेका प्रयत्न किया था, *जिसकी ओर लक्ष्य करके मनुने काव्यके आरम्भ ही में कहा था—*

"सब कुछ थे स्वायत्त, विश्व के बल वैभव आनंद अपार;
उद्वेलित लहरों-सा होता, उस समृद्धि का सुख-संचार।

कीर्ति, दीप्ति शोभा थी नचती अरुण किरण-सी चारों ओर;
सप्त सिंधु के तरल कणों में, द्रुम दल में, आनंद विभोर।
शक्ति रही हाँ शक्ति, प्रकृति थी पदतल में विनम्र विश्रांत;
कंपती धरणी उन चरणों से होकर प्रतिदिन ही आक्रान्त।"

('चिंता' सर्ग)

मनु इडाके पथ प्रदर्शनमें चल पड़े। उनकी निराशा-तमिस्रा कट गयी। यह सर्ग यहींपर समाप्त हो जाता है।

× × ×

प्रमुख उपलब्धि

(१) कामने मनुको इसलिए शाप दिया कि उन्होंने उसके प्रगतिशील स्वरूपकी अभिव्यक्तिका मार्ग छोड़ दिया। कामको पूर्ण बनानेका कार्य 'परिणय' (गार्हस्थ्य जीवन)का होता है, मनु उससे भग निकले। श्रद्धाने उन्हें इस आनन्दवादी, आत्मवादी, मार्गकी ओर प्रेरित किया, सहयोग दिया, प्रणय-प्रकाश दिया; परन्तु वे अपनी विकृत देव रुचिके कारण उसे त्याग चले।

(२) इस स्वस्थ मार्गको छोड़ देनेके कारण कामने उन्हें शाप दिया कि उनका सकुचित राग भावका जीवन संघर्षों दुःखों से भर जाय, और शुद्ध भावोंका उनकी सृष्टिमें अभाव हो जाय। फिर ऊबकर लोग जीवनसे विरक्त हो उठें, 'परलोक वंचनासे मर जायँ' और वहाँ भी उन्हें आनन्द न मिले।

(३) अन्तिम उपलब्धि यह है कि इडाकी सहायतासे मनु पुनः उस प्रलय-पूर्व देव-संस्कृति (अपूर्ण अहंता वाली संस्कृति)की स्थापनामें प्रवृत्त हो उठे, जिसके मनुमें फिरसे उदय होनेकी बात कविने 'आशा' सर्गमें (पृष्ठ ६१ और ६७) कही है, और जिसकी ओर मैंने कई स्थलोंपर पाठकों का ध्यान आकृष्ट किया है।

(४) इस सर्गमें काव्यके कार्यकी मध्यावस्थाके उत्तर-पक्षका आरम्भ विन्यस्त है, यह पहले संकेत किया जा चुका है। अतएव यहींपर उसके विरोधी तत्त्वका प्रारम्भ होता है। 'ईर्ष्या' सर्ग कार्यकी मध्यावस्थाका पूर्व-पक्ष था, उसमें श्रद्धा द्वारा 'आत्मवादी' मार्ग (जिसका प्रारम्भिक विकास 'परिणय'से होता है)की स्थापनाका अनुष्ठान दिखाया गया। मनुने इस नवीन (नवीन इसलिए कि मनुके देव-जीवन द्वारा उसकी पूर्ण अनुभूति प्राप्त न की जा सकी थी) मार्गका विरोध किया। अब 'इडा' सर्गमें मनु द्वारा 'पूर्ण आत्मवादी सिद्धान्तके स्थानपर उसके विरोधी अहम्मूलक विज्ञान मार्गकी स्थापनाका आग्रह दिखाया गया है। इस विज्ञान मार्गपर मनुका पथ प्रदर्शन करने-वाली इडा—बालिका है; अतएव कविने इस सर्गका नाम 'इडा' रखा।

'स्वप्न' सर्ग

(इस सर्गमें कविने प्रारम्भमें श्रद्धा नारीकी विरहानुभूतिकी अत्यन्त मर्यादित अभिव्यक्ति की है) इसकी चर्चा मैं इस विमर्शके अवसरपर करूँगा। इस स्थलपर श्रद्धा और उसके पुत्र मानवकी कुछ चर्चा करके हम आगे बढेंगे (मनुको गये इतना समय बीत गया है कि 'मानव' न केवल उत्पन्न हो गया है वरन् वह अब दिन दिन भर वनमें दूर दूरतक चौकडियाँ भरने लगा है। श्रद्धा एक दिन विरह-व्यथासे अभिभूत है) कि—

"'माँ'—फिर एक किलक दूरागत गूँज उठी कुटिया सूनी
माँ उठ दौडी भरे हृदय में लेकर उत्कण्ठा दूनी।"

(श्रद्धा ने पूछा—'नटखट, तू अबतक कहाँ घूमता रहा। अपने पिताके प्रतिनिधि, तूने भी मुझे पर्याप्त सुख दुख दिया। तू दिन भर घूमता रहता है, और मैं इस डरसे तुझे रोकती नहीं कि कहीं तू भी न रूठ जा)।" इसपर 'मानव' ने कहा—

"मैं रूठूँ माँ और मना तू, कितनी अच्छी बात कही,
ले मैं सोता हूँ अब जाकर, बोलूँगा मैं आज नहीं,
पके फलोंसे पेट भरा है नींद नहीं खुलने वाली"

अन्तिम पंक्तिमें ध्वनि यह है कि ('मानव'का पोषण पशु मासके स्थानपर फलों अन्नोंके द्वारा हो रहा था। मासके लिए पशु हिंसा न की जाय, इसके लिए श्रद्धाने मनुसे अनुरोध किया था जिसे वे न मान सके। अब उसी सात्विक आहारके द्वारा श्रद्धा अपने पुत्रका सवर्धन करने लगी है, 'मानव'का शैशव श्रद्धाके नवीन संस्कार, आत्मवादी संस्कारकी छायामें विकसित होने लगा)।

× × ×

(रात्रिमें श्रद्धाने स्वप्नमें देखा कि वह एक ऐसे लोकमें पहुँच गयी है जो एक अत्यन्त ऐश्वर्यशाली नगर है। वह सब प्रकारकी वैज्ञानिक उन्नतिसे परिपूर्ण हो उठा है (पूरा विवरण मूल ग्रंथमें देखिए)। उस नगरमें प्रविष्ट होकर श्रद्धा ने जब उसके उन्मुक्त वैभव सौन्दर्यको देखा तो उसे महान् आश्चर्य हुआ। परन्तु इससे भी अधिक आश्चर्य उसे तब हुआ जब उसने मनुको सामने कुछ दूरीपर बैठे हुए देखा, मनुके सामने एक अपूर्व सुन्दरी बाला बैठी दीख पडी। वह बाला 'वैश्वानरकी ज्वाला सी' मंच वेदिका पर आसीन थी, और 'सौमनस्य बिखराती' थी। उसमें जड़ताका लेश भी नहीं था) ध्यानसे श्रद्धा उन दोनोंका संलाप सुनने लगी—

मनु पूछते है—"और अभी कुछ करनेको है शेष यहाँ?' उत्तरमें उस बाला (इडा)ने कहा कि 'सफल इतनेमें अभी कर्म सविशेष कहाँ? क्या सब साधन स्ववश हो चुके?" मनु अपने प्रश्नके उत्तरमें किए गये इडाके इस प्रश्नका अभिप्राय कुछका कुछ समझ गये? प्रश्नका उत्तर प्रश्नमें देनेपर ऐसे विभ्रमका हो जाना

स्वाभाविक ही होता है ? मनुने कहा—"नहीं, अभी मैं रिक्त रहा। देश बसाया पर उजड़ा है सूना मानस देश यहाँ।" फिर उन्होंने इडासे उस मानस रिक्तताको भरनेका मधुर आग्रह किया। इडाने उन्हें समझाया कि वे प्रजापति हैं और यह उनकी प्रजा है, परन्तु मनुने कहा कि 'नहीं तुम मेरी रानी हो।' मनुका भोगी देवत्व हुंकार कर उठा और उसने इडाको अपने राग व्याकुल आलिंगनमें कस लिया।

इतनेमें पृथ्वी काँप उठी। मनुमें भी पाप-सन्देह भर गया। अन्तरिक्षमें रुद्रका कोप हुंकार छा गया। आत्मजा प्रजापर मनुका यह बलात्कार रुद्र न सह सके। प्रजा भी विद्रोहमें खड़ी हो गयी। मनुने द्वार बन्द कर लिया और वे अपने शयन-कक्षमें चले गये। यह सब स्वप्नमें देखकर श्रद्धा काँप उठी।

संक्षेपमें 'स्वप्न' सर्गकी यही कथा-वस्तु है।

उपलब्धि

इस सर्गमें हमने यह देखा कि मनुने इडाकी सहायतासे सारस्वत नगरकी ध्वस्त संस्कृतिकी पुनर्स्थापनाका पूरा वैज्ञानिक प्रयत्न किया और वे अपने इस प्रयत्नमें सफल भी रहे। एक बार पुनः प्रलयके पूर्वकी 'अपूर्ण आत्मवादी' संस्कृति पल्लवित हो उठी। कहा जा चुका है कि इसी संस्कृतिके कारण देव-जातिमें भोगकी उच्छृंखलता पराकाष्ठाको पहुँची थी, मनुके चरित्रमें इस समय उसीकी पुनराभिव्यक्ति प्रस्तुत हो चली। इडाके उस प्रदेशकी जनता इसके विद्रोहमें खड़ी हो उठी।

'संघर्ष' सर्ग

मनु प्रजाकी विद्रोह भावनासे विक्षुब्ध थे। अपनी जिस ऐकान्तिक भोग भावनाके कारण उन्होंने श्रद्धाका त्याग किया, उसीके कारण वे इस समय इडा और देव प्रजासे असन्तुष्ट, विरक्त, हो उठे। वे अपने ऊपर किसी प्रकारका नियमन माननेको तैयार न थे। वैज्ञानिक बुद्धिवाद (जिसकी प्रेरणा उन्हें इडासे पहले ही मिली थी)की यह चरम परिणति थी। उनका यह निश्चय दृढ़ हो चला —

"मैं चिर बन्धन हीन मृत्यु सीमा उल्लंघन—
करता सतत चलूँगा, यह मेरा है दृढ़ मत
महानाश की सृष्टि बीच जो क्षण हो अपना
चेतनता की तुष्टि वही है फिर सब सपना।"

कहा जा चुका है कि सृष्टिमें केवल महानाश देखनेवाले या तो जीवनसे ही पलायन कर जाते हैं और किसी बाह्य त्राणकारी सत्ता (एकेश्वरवाद)की कल्पना करके 'परलोक रचना'से अपनेको आवृत कर लेते हैं, अथवा विज्ञान बुद्धिकी

'स्वप्न' सर्ग

(इस सर्गमें कविने प्रारम्भमें श्रद्धा नारीका विरहानुभूतिकी अनन्त मर्यादित अभिव्यक्ति की है।) इसकी चर्चा मैं इस विमर्शके अवसरपर करूँगा। इस स्थलपर श्रद्धा और उसके पुत्र मानवकी कुछ चर्चा करके हम आगे बढ़ेंगे (मनुको गये इतना समय बीत गया है कि 'मानव' न केवल उत्पन्न हो गया है वरन् वह अब दिन दिन भर वनमें दूर-दूरतक चौकड़ियाँ भरने लगा है। श्रद्धा एक दिन विरह व्यथासे अभिभूत है)कि—

"'माँ'—फिर एक किलक दूरागत गूँज उठी कुटिया सूनी
माँ उठ दौड़ी भरे हृदय में लेकर उत्कण्ठा दूनी।"

(श्रद्धा ने पूछा—'नटखट, तू अबतक कहाँ घूमता रहा। अपने पिताके प्रतिनिधि, तूने भी मुझे पर्याप्त सुख दुःख दिया। तू दिन भर घूमता रहता है, और मैं इस डरसे तुझे टोकती नहीं कि कहीं तू भी न रूठ जा)।" इसपर 'मानव' ने कहा—

"मैं रूठूँ माँ और मना तू, कितनी अच्छी बात कही,
ले मैं सोता हूँ अब जाकर, बोलूँगा मैं आज नहीं,
पके फलोंसे पेट भरा है नींद नहीं खुलने वाली"

अन्तिम पंक्तिमें ध्वनि यह है कि('मानव'का पोषण पशु मांसके स्थानपर फलों अन्नोंके द्वारा हो रहा था। मांसके लिए पशु-हिंसा न की जाय, इसके लिए श्रद्धाने मनुसे अनुरोध किया था जिसे वे न मान सके। अब उसी सात्विक आहारके द्वारा श्रद्धा अपने पुत्रका संवर्धन करने लगी है, 'मानव'का शैशव श्रद्धाके नवीन संस्कार, आत्मवादी संस्कारकी छायामें विकसित होने लगा)।

× × ×

(रात्रिमें श्रद्धाने स्वप्नमें देखा कि वह एक ऐसे लोकमें पहुँच गयी है जो एक अत्यन्त ऐश्वर्यशाली नगर है। वह सब प्रकारकी वैज्ञानिक उन्नतिसे परिपूर्ण हो उठा है (पूरा विवरण मूल ग्रंथमें देखिए)। उस नगरमें प्रविष्ट होकर श्रद्धा ने जब उसके उन्मुक्त वैभव-सौन्दर्यको देखा तो उसे महान् आश्चर्य हुआ। परन्तु इससे भी अधिक आश्चर्य उसे तब हुआ जब उसने मनुको सामने कुछ दूरीपर बैठे हुए देखा, मनुके सामने एक अपूर्व सुन्दरी बाला बैठी दीख पड़ी। वह बाला 'वैश्वानरकी ज्वाला सी' मंच वेदिका पर आसीन थी, और 'सौमनस्य बिखराती' थी। उसमें जड़ताका लेश भी नहीं था) ध्यानसे श्रद्धा उन दोनोंका संलाप सुनने लगी—

मनु पूछते हैं—"और अभी कुछ करनेको है शेष यहाँ ?" उत्तरमें उस बाला (इडा)ने कहा कि 'सफल इतनेमें अभी कर्म सविशेष कहाँ ? क्या सब साधन स्ववश हो चुके ?" मनु अपने प्रश्नके उत्तरमें किए गये इडाके इस प्रश्नका अभिप्राय कुछका कुछ समझ गये ? प्रश्नका उत्तर प्रश्नमें देनेपर ऐसे विभ्रमका हो जाना

उन्मीलन, स्पन्दन और विलयन होता है)। देशका अन्त कालमें और कालका लय उस अखण्ड चेतनमें होता है। इसलिए मनु, तुम भी द्वयता भूलकर उसके अखण्ड, समरस, लयका अनुसरण करो। ताल-तालपर चलो, लय न छूटे। इस विश्व-नृत्यमें तुम अपनी द्वैत भावनाका विवादी स्वर न छेड़ो—

"देश कल्पना काल जलधि में होती लय है
काल खोजता महाचेतना में निज क्षय है
वह अनन्त नचता है उन्मद गति में
तुम भी नाचो अपनी द्वयतामें विस्मृति में।"

× × ×

"ताल ताल पर चलो नहीं लय छूटे जिसमें
तुम न विवादी स्वर छेड़ो अनजाने उसमें।"

'कामायनी'के दर्शनकी व्याख्याके अवसरपर मैं इन पंक्तियोंमें निहित अभिप्रायकी विवेचना करूँगा। यहाँ पर केवल इतना समझ लेना आवश्यक है कि इड़ाके अनुसार, द्वयताको भूलकर, अद्वैत-अनुभूति उपलब्ध कर लेना ही परम पुरुषार्थ है, मोक्ष है। इसी लक्ष्यकी ओर वह मनुको प्रेरित कर रही है। काम और श्रद्धाने भी अद्वैतकी भावनाको ही श्रेयस्कर बताते हुए मनुको परामर्श दिया था कि वे अपनी व्यक्ति चेतनाको (जो द्वयताको उत्पन्न करती है) समष्टि-चेतनाके साथ एक कर दें। श्रद्धाकी यह उक्ति इस स्थलपर उद्धरणीय है—

"औरोंको हँसते देखो मनु, हँसो और सुख पाओ
अपने सुखको विस्तृत कर लो सबको सुखी बनाओ।"

अतएव यह मानना भ्रमपूर्ण होगा कि इड़ाके कारण (इड़ाके साहचर्यके कारण) मनु इस दयनीय स्थितिको प्राप्त हुए। यदि मनु इड़ाकी बात मान गये होते तो उनका कल्याण ही हुआ होता, क्योंकि उसने भी उसी गन्तव्यकी ओर मनुको प्रेरित करना चाहा जिस ओर काम श्रद्धाने उन्हें चलनेको कहा था। यदि मेरा यह निष्कर्ष ठीक है तो मेरा यह निवेदन भी ठीक होगा कि प्रसादजीने इड़ाको अत्यन्त उदात्त भूमिकापर खड़ा किया है न कि उसकी विगर्हणा की है। इड़ामें कुछ अभाव था, परन्तु यह अभाव उसके लक्ष्यके औदात्य या माङ्गल्यका नहीं था, वरन् साधनकी उपयुक्तताका था ('पात्र निदर्श'में मैं इसपर विचार करूँगा)।

इड़ाके उत्तरमें मनुने कहा—"तुम तो कहती हो विश्व एक लयमें बँधा है, मैं उसमें लीन हो चलूँ। किन्तु उसमें कौन-सा सुख है? × × × तुमने ही तो मुझे प्रकृतिके साथ संघर्ष करना सिखाया।" इसपर इड़ाने कहा—"मनु, मैंने तुम्हारा जो उपकार किया है, उसे न भूलो। प्रकृतिके साथ संघर्ष सिखाकर मैंने तुम्हें इस विकसी विभूतिका स्वामी बनाया। हाँ, इस समय मेरा अपराध यही है कि मैं 'हाँ में हाँ' नहीं मिला रही हूँ। मनु, अभी भी समय है, सावधान हो जाओ।"

1 Space

सहायता ईश्वर, आँख बन्द करके सुख-साधन जुटाने और उनका उपभोग करनेमें रम चले थे। मनु इसी नैराश्य बुद्धिवादकी छायामें चल रहे थे। उन्होंने प्रलय पूर्व देवोंके समान ही बुद्धिके द्वारा प्रकृतिपर विजय प्राप्त करके भोगास्वादनके विभिन्न उपकरण जुटानेका अथक प्रयास किया था। वे चेतनाकी तुष्टि भोगमें ही मानने लगे

इडाने मनुको समझाया कि निर्बाध भोग, अनियन्त्रित जीवन, अमांगलिक हो है। उसने मनुको स्पष्ट चेतावनी दी कि ऐकान्तिक अधिकार असम्भव है—

"मनु सब शासन स्वत्व तुम्हारा सतत निबाहें
तुष्टि, चेतनाका क्षण अपना अन्य न चाहें
आह, प्रजापति यह न हुआ है कभी न होगा
निर्वासित अधिकार आज तक किसने भोगा।"

प्रत्येक प्राणीको अपनी तुष्टिका सहज अधिकार है। अतएव किसीको यह सोचना चाहिए कि केवल वही भोक्ता है, अधिकारी है। केवल अपने स्वार्थकी भावना द्वेषकी जननी होती है, इसलिए उसे पग-पगपर ठोकर खानी पड़ती है—

"व्यक्ति चेतना इसीलिए परतन्त्र बनी-सी
राग पूर्ण, पर-द्वेष-पंक में सतत सनी-सी
नियत मार्गमें पद-पद पर है ठोकर खाती
अपने लक्ष्य समीप श्रान्त हो चलती जाती।"

तात्पर्य यह है कि व्यक्ति-चेतना[1] अर्थात् स्वार्थ भावना लक्ष्यकी प्राप्तिमें बाधक होती है। ('स्वप्न' सर्गमें इसी स्वार्थ भावना या व्यक्ति-चेतनाके निराकरणकी आवश्यकताकी ओर इडाने मनुको आकृष्ट करनेके लिए कहा था कि 'सफल इतनेमें अभी कर्म सविशेष कहाँ" पर मनु उसे समझ न सके)। इसलिए इडा आगे कहती है कि जिससे अन्य लोगोंको सुख मिले, आश्रय मिले, वही जीवनका सदुपयोग है, वही बुद्धिकी साधना है और उसीमें व्यक्तिको भी वास्तविक सुख एवं मंगल प्राप्त होता है। इसलिए मनु, तुम अपनी व्यक्ति-चेतनाका विस्तार करके राष्ट्रकी कायामें प्राणके समान रम जाओ (अर्थात् समष्टि-चेतनाको उपलब्ध करो)—

"यह जीवन उपयोग, यही है बुद्धि साधना
अपना जिसमें श्रेय यही सुख की आराधना
लोक सुखी हो आश्रय ले यदि उस छाया में
प्राण सदृश तो रमो राष्ट्रकी इस काया में।"

आगे इडा मनुको समझाने लगी कि "सारे विश्वका अस्तित्व केवल महाचेतनामें है, वही मूल सत् है। विश्वका सृजन काल और देशका आधार लेकर होता है अवश्य, परन्तु उनका (देश और कालका) भी आधार वही महाचेतना है। वह अनन्त चेतन ही विश्व-नृत्य करता है (अर्थात् उसीके कारण और उसीमें विश्वका

1. Individual consciousness

स्थलपर नारी इडाके हृदयकी मार्मिक अभिव्यक्ति कई पदोंमें की है। किन्तु उन सबकी व्याख्या करना यहाँपर अनावश्यक है। अतएव इनमे केवल कुछ उद्‌गारों की व्याख्या करके हम आगे बढ़ेंगे—

> "उसने स्नेह किया था मुझसे, हाँ अनन्य वह रहा नहीं
> सहज लब्ध थी वह अनन्यता पडी रह सके जहाँ कहीं।
> बाधाओं का अतिक्रमण कर जो अबाध हो दौड चले
> वही स्नेह अपराध हो उठा जो सब सीमा तोड चले।"

मनुके कृत्यके कारणकी विवेचनामें इडा कहती है कि "उसने मुझसे स्नेह किया था परन्तु, उसके स्नेहमें अनन्यता नहीं थी, क्योंकि यदि उसमें अनन्यता होती तो वह मेरी बातोंपर ध्यान देकर मेरी इच्छाका आदर किये होता। मनुने जिस अनन्यताका प्रदर्शन किया, वह स्नेहकी वास्तविक अनन्यता नहीं, वरन् सहज लब्ध, सहज प्रवृत्तिमूलक थी जो कभी भी किसीके प्रति हो सकती थी (तात्पर्य यह है कि मनुकी इडाके प्रति प्रदर्शित स्नेह-अनन्यता केवल आवेगजन्य थी)। ऐसा स्नेह बाधाओंका अतिक्रमण करता हुआ निर्बाध गतिसे अपनी तुष्टिके निमित्त प्रवाहित होता है, और वही स्नेह अपराध हो जाता है। मनुके विषयमें भी यही हुआ।"

कहा जा चुका है कि इडामें जडताका लेश नहीं था, वह चेतनाकी प्रतिमूर्ति थी। वह भावोंके अभावमें वह नहीं सकती थी। उसने समझ लिया था कि मनु केवल कामान्ध होकर उससे स्नेह याचना कर रहे हैं, वास्तवमें वे निर्बाध भोग भावनासे अभिभूत हैं। उपर्युक्त पंक्तियोंमें उसने स्नेहका नहीं, व्यापक कामका नहीं, वरन् निर्बाध भोग भावनासे दूषित स्नेह या कामकी भर्त्सना की है। यहाँ भी काम और श्रद्धाके मतोंके साथ इडाके मतकी अभिन्नता स्थापित हो जाती है। यदि सूक्ष्मताके साथ विचार किया जाय तो यह पता चलेगा कि इडाके अनुसार मनुकी असफलताका कारण उनकी विकृत काम भावना, संकुचित राग भावना (या अपूर्ण अहंता) ही थी।

यह बात नहीं थी कि उसमें हृदय-पक्षका अभाव था, या कविने उसको हृदय शून्य दिखाया है। नारी होनेके नाते ऐसा (प्रसादजीकी नारी-भावनाके अनुसार) होना असम्भव था। अपने हृदयके कारण ही वह मनुके उस कुकृत्यको देख लेनेपर भी उनके प्रति सहानुभूति रखती थी। मनुके उपकारोंके प्रति कृतज्ञता भावनाको व्यक्त करती हुई वह आगे कहती है—

> "किन्तु वही मेरा अपराधी जिसका वह उपकारी था
> प्रकट उसी से दोष हुआ है जो सबको गुणकारी था
> अरे सर्ग अकुर के दोनों पल्लव हैं ये भले बुरे
> एक दूसरे की सीमा हैं, क्यों न युगल को प्यार करें।"

"जो मेरा उपकारी था वही आज अपनी भूलसे अपराधी बना है। कभी यही मनु सारस्वत नगरके लिए गुणकारी था, और आज उसीसे महान् दोष हुआ है। इससे यह ज्ञात होता है कि सृष्टिमें अच्छाई और बुराई दोनों अविच्छिन्न हैं। अतएव

मनुने इडाकी चेतावनीका ध्यान न करके उसे पुन आलिंगनमे भर लिया, और प्रजाका विद्रोह भयकर हो उठा। उस भयकर सघर्षमे रक्तकी धारा बह उठी। अन्तमें महाशक्तिने मनुको घायल कर दिया। मनुके विकृत कामका यह अनिवार्य परिणाम था। मनुके इस पतनका कारण इडा नहीं थी, यह कहा जा चुका है। सर्ग रत मनुको बडी दीनताके साथ उसने यह कहकर रोकना भी चाहा था—

"क्यों इतना आतक ठहर जाओ गर्वीले
जीने दे सबको फिर तू भी सुख से जी ले।"

प्रमुख उपलब्धि

मनुने जिस विनष्ट, 'अपूर्ण अहता' वाली, (प्रलय पूर्वकी) देव सस्कृतिको फिरसे प्रतिष्ठित करनेका अनुष्ठान 'इडा' सर्गके अन्तमें किया था, और जिसका पल्लवन उन्होंने बादमें किया, उसके उसी भीषण फलको उन्होंने उपलब्ध किया जो प्रलयके रूपमे देव-जातिको मिल चुका था। प्रलयके उपरान्त मनुमे 'सजग हुई फिरसे सुर सस्कृति' अपनी चरम विकृतिका प्रदर्शन करती हुई, एक बार पुन अवसाद, विनाशकी भूमिका पर व्यर्थ हो गयी। देव एक बार पुन अपने प्रयत्नमें असफल हो गया।

यह बताया जा चुका है कि 'कामायनी'में देवोकी 'अपूर्ण अहता' वाली सस्कृतिके स्थानपर नवीन पूर्ण आत्मवादी सस्कृतिकी (जिसे वैदिक प्रबुद्ध आर्य तरुणोंने स्वीकार किया) स्थापना ही 'कार्य' है। काव्यके प्रारम्भसे ही मनुमे पुरानी देव सस्कृतिका उभार और श्रद्धामें नवीन सस्कृतिकी स्थापनाका आग्रह कविने निरन्तर दिखाया है। 'ईर्ष्या' सर्गमे वह चरमावस्था प्रस्तुत हुई, जहाँ अपने अपने अस्तित्वकी रक्षाके निमित्त इन दोनोंका खुला सघर्ष हुआ। श्रद्धा और मनु दो विरुद्ध सस्कृतियोंकी स्थापनाके प्रयत्नमे, एक दूसरेसे अलग हो गये।

'इडा', 'स्वप्न' और 'सघर्ष' सर्गोंमें देव-सस्कृतिकी स्थापनाके अनुष्ठान, पल्लवन विकास और अन्तमे उसके असफल होनेकी कहानी है। उसके असफल होनेपर दूसरी सस्कृति (श्रद्धाकी अभीष्ट सस्कृति)की स्थापनाकी सम्भावना बढ जाती है। अतएव इस सर्गका अत *'कामायनी' काव्यके 'कार्य की प्राप्त्याशाका उद्गम-स्थल है।* आगेके तीन सर्गोंमें इस प्राप्त्याशाके क्रमिक विकास, 'नियताप्ति'का दर्शन होता है तथा अतमें 'आनन्द' सर्गमे 'फलागम'का उपलब्धि होती है। यह सब हम आगे देखेंगे।

'निर्वेद' सर्ग

मूर्च्छित मनुके पास इडा बैठी है। उसके मानसमे मनुके प्रति घृणा और ममताके भाव जाग्रत हो उठे। इसी स्थितिमे कई दिन बीत गये। रात्रिको इस

ंगल है, इसमें सुख-दुःख, हर्ष-शोक सबका अविरल खेल होता रहता है।) कविने चार दोंमें श्रद्धाके जगत्‌विषयक आनन्दवादी दृष्टिकोणकी सुन्दर अभिव्यक्ति की है, जिसकी चर्चा मैं 'दर्शन-विमर्श'में करूँगा।

श्रद्धाकी यह बात सुनकर कि 'मेरा निवास (विश्व) अति मधुर कान्ति, यह एक नीड है सुखद शान्ति', इडाने पूछा कि—

'अम्बे फिर क्यों इतना विराग, मुझपर न हुई क्यों सानुराग?'

श्रद्धाने उत्तर दिया—

"तुमसे कैसी विरक्ति, तुम जीवन की अन्धानुरक्ति।
मुझसे बिछुड़े को आलम्बन देकर, तुमने रक्खा जीवन।
तुम आशामयि चिर आकर्षण, तुम मादकता की अवनत घन
मनु के मस्तक की चिर अतृप्ति, तुम उत्तेजित चंचला शक्ति।"

"इडा, तुमसे विरक्त होनेका प्रश्न ही नहीं उठता है। क्योंकि तुममें जीवनके प्रति अपार ममता है, तुम जीवनका मंगल चाहती हो; फिर मैं तुमसे विरक्त कैसे हो सकती हूँ। तुमने मुझसे बिछुड़े मनुको अवलम्ब देकर उन्हें जीवन दिया (अर्थात् उन्हें जीवनमें प्रवृत्त रखा)। तुम आशापूर्ण हो, लोगोंको आशा देती रहती हो। तुममें शाश्वत आकर्षण है, अर्थात् तुम प्राणीकी निराशा, असफलताजन्य विषादको दूर करके उसे जीवन-मार्गपर बढ़नेकी प्रेरणा देती हो, और प्राणी तुम्हारी प्रेरणापर चलता भी है। तुम मादकताकी भरी बदली हो, अर्थात् तुम्हारी छाया (प्रभाव)में व्यक्ति निरन्तर मंगल-सुखकी आशा सँजोये चलता है। तुमने मनुके मस्तकमें नित्य प्रगति करनेकी, जीवन-लक्ष्यको पानेकी, अतृप्ति भर दी। तुममें बिजलीके समान अपार गतिशील शक्ति है।"

[ध्यान देनेकी बात है कि श्रद्धाने इन पंक्तियोंमें इडा (जो एक बुद्धि-प्रधान नारी थी, या मानो निराश्लिस चेतनाकी प्रतिमूर्ति थी)के गुणोंकी मुक्त-कण्ठसे प्रशंसा की है। बुद्धि जीवनकी प्रगति और उसके मंगलके लिए अनिवार्य चेतना उपलब्धि है; उसे ठुकराया नहीं जा सकता है। जो लोग इस काव्यके अनुपयुक्त अनुशीलनके कारण यह कहते हैं कि प्रसादने इडाको ऊपर नहीं उठाया है, उन्हें पुनर्विचार करना चाहिए।]

आगे श्रद्धा कहती है—"मेरे ऊपर तुमने जो उपकार किया है, उसके बदलेमें मैं तुम्हें क्या दे सकती हूँ? मेरे पास तो केवल हृदय है, दो मधुर बोल हैं। मेरा तो यही जीवन है कि हँसती हूँ और रो लेती हूँ, पाती हूँ और रो देती हूँ (अर्थात् मेरे लिए यह जीवन हास-रुदन, लाभ-हानिके अनिवार्य द्वन्द्वसे भरा है)। इस संसारमें मेरा कुछ नहीं है; एकसे पाती हूँ और दूसरेको दे देती हूँ। मैं दुःखको सुख मान लेती हूँ (मेरे लिए सुख-दुःख दोनों एक हैं)। मैं मधुर स्नेहसे पूर्ण हूँ; और मानो विस्मृतिकी प्रतिमा-सी चल रही हूँ।"

"मैं क्या दे सकती तुम्हें मोल, यह हृदय! अरे दो मधुर बोल
मैं हँसती हूँ रो लेती हूँ, मैं पाती हूँ खो देती हूँ

हम दोनोंको प्यार करना चाहिए (अर्थात् दोनोंको एक भावसे स्वीकार करके मनुके प्रति भी हमें द्वेष नहा करना चाहिए)।"

इसके उपरान्त, इडाका बुद्धि-पक्ष ऊपर आता है और वह सोचती है कि मैं तो मनुको दण्ड देनेके लिए बैठी थी पर यह कैसी पहेली है कि मैं उससे सहानुभूति कर चली—

"इसे दण्ड देने मैं बैठी, या करती रखवाली मैं
यह कैसी विकट पहेली कितनी उलझनवाली मैं।"

और अन्तमें इडाके हृदय और मस्तिष्क दोनोंकी सामञ्जस्यपूर्ण स्थिति उत्पन्न होती है, वह यह तय कर लेती है कि मैं जो कुछ कर रही हूँ, उसका कोई सुंदर परिणाम ही होगा—

"एक कल्पना है मीठी यह इससे कुछ सुन्दर होगा।"

इसी आशाके साथ वह मनुकी देखरेख करने लगी। मनुको ढूँढती हुई श्रद्धा भी वहाँ पहुँच जाती है, और उसके मधुर स्पर्शसे मनु स्वस्थ हो जाते हैं। उन्होंने श्रद्धासे आग्रह किया कि वे उन्हें उस नगरसे दूर कहीं ले चले। श्रद्धा उन्हें कुछ दिन तक यहींपर विश्राम करनेको कहती है। फिर श्रद्धाके प्रति किये गये अपने निर्मम व्यवहारके लिए मनु आत्म भर्त्सना करते हैं (यह सब पात्र विमर्शमें देखिये)। परन्तु मनुकी ग्लानि, लज्जा और निराशा, प्रतिहिंसा इतनी तीव्र और घनी है कि वे रातमें सबको छोडकर भग जाते हैं।

इस सर्गमें मनुके भीतरसे पश्चात्तापकी जो आँधी उठती हुई दिखायी गयी है और उन्होंने आत्म ग्लानिकी जो अभिव्यक्ति करते हुए अपनी भर्त्सना की है उन सबकी चर्चा हम 'पात्र विमर्श'में करेंगे। यहाँपर केवल इतना और संकेत कर देना ठीक होगा कि इस सर्गके कथा विन्यासके द्वारा अन्तिम उपलब्धि यह प्राप्त होती है कि मनु एक ओर तो श्रद्धाको प्रात कालकी ज्योतिमें अपना मुँह दिखानेसे भयभीत थे और दूसरी ओर उन्होंने यह समझ लिया था कि श्रद्धाके रहते वे सारस्वत नगर निवासियोंसे किसी प्रकारकी प्रतिहिंसा न ले पायगे, जिसके कारण उन्हें शान्ति न मिलेगी। इसलिए उन्होंने उस स्थलसे दूर भग जाना ही ठीक समझा।

'दर्शन' सर्ग

मनुके चले जानेसे श्रद्धा पुन विरह-दग्ध हो उठी। एक बार अमावस्याकी रात्रि में श्रद्धा नगरके बाहर किसी बहुत दूर स्थलपर चली गयी। 'मानव' और इडा दोनों उसे खोजते खोजते वहाँ पहुँच गये। मानवने उसके मौन चिन्तन, उदासी और इतनी दूर अँधेरी रातमें आनेका कारण जानना चाहा तथा उससे नगरमें चलनेको कहा। इसपर श्रद्धाने बताया कि उसे कोई दुःख नहीं है, क्योंकि यह संसार परिवर्तनमय निर

मगल है, इसमे सुख-दुःख, हर्ष शोक सबका अविरल खेल होता रहता है)। कविने चार पदोंमें श्रद्धाके जगत्‌विषयक आनन्दवादी दृष्टिकोणकी सुन्दर अभिव्यक्ति की है, जिसकी चर्चा मैं 'दर्शन-विमर्श'में करूँगा।

श्रद्धाकी यह बात सुनकर कि 'मेरा निवास (विश्व) अति मधुर कान्ति, यह एक नीड है सुखद शान्ति', इडाने पूछा कि—

'अम्बे फिर क्यों इतना विराग, मुझपर न हुई क्यों सानुराग ?'

श्रद्धाने उत्तर दिया—

"तुमसे कैसी विरक्ति, तुम जीवन की अन्धानुरक्ति।
मुझसे बिछुड़े को आलम्बन देकर, तुमने रक्खा जीवन।
तुम आशामयि चिर आकर्षण, तुम मादकता की अवनत घन
मनु के मस्तक की चिर अतृप्ति, तुम उत्तेजित चंचला शक्ति।"

"इडा, तुमसे विरक्त होनेका प्रश्न ही नहीं उठता है। क्योंकि तुममें जीवनके प्रति अपार ममता है, तुम जीवनका मगल चाहती हो; फिर मैं तुमसे विरक्त कैसे हो सकती हूँ। तुमने मुझसे बिछुड़े मनुको अवलम्ब देकर उन्हें जीवन दिया (अर्थात् उन्हें जीवनमें प्रवृत्त रखा)। तुम आशापूर्ण हो, लोगोंको आशा देती रहती हो। तुममें शाश्वत आकर्षण है, अर्थात् तुम प्राणीकी निराशा, असफलताजन्य विषादको दूर करके उसे जीवन-मार्गपर बढ़नेकी प्रेरणा देती हो, और प्राणी तुम्हारी प्रेरणापर चलता भी है। तुम मादकताकी भरी बदली हो, अर्थात् तुम्हारी छाया (प्रभाव)में व्यक्ति निरन्तर मगल-सुखकी आशा सँजोये चलता है। तुमने मनुके मस्तकमें नित्य प्रगति करनेकी, जीवन-लक्ष्यको पानेकी, अतृप्ति भर दी। तुममें बिजलीके समान अपार गतिशील शक्ति है।"

[ध्यान देनेकी बात है कि श्रद्धाने इन पंक्तियोंमें इडा (जो एक बुद्धि प्रधान नारी थी, या मानो निष्कलिप्त चेतनाकी प्रतिमूर्ति थी)के गुणोंकी मुक्त कण्ठसे प्रशंसा की है। बुद्धि जीवनकी प्रगति और उसके मगलके लिए अनिवार्य चेतना-उपलब्धि है, उसे ठुकराया नहीं जा सकता है। जो लोग इस काव्यके अनुपयुक्त अनुशीलनके कारण यह कहते हैं कि प्रसादने इडाको ऊपर नहीं उठाया है, उन्हें पुनर्विचार करना चाहिए।]

आगे श्रद्धा कहती है—"मेरे ऊपर तुमने जो उपकार किया है, उसके बदलेमें मैं तुम्हें क्या दे सकती हूँ! मेरे पास तो केवल हृदय है, दो मधुर बोल हैं। मेरा तो यही जीवन है कि हँसती हूँ और रो लेती हूँ, पाती हूँ और खो देती हूँ (अर्थात् मेरे लिए यह जीवन हास-रुदन, लाभ हानिके अनिवार्य द्वन्द्वसे भरा है)। इस ससारमें मेरा कुछ नहीं है; एकसे पाती हूँ और दूसरेको दे देती हूँ। मैं दुःखको सुख मान लेती हूँ (मेरे लिए सुख दुःख दोनो एक हैं)। मैं मधुर स्नेहसे पूर्ण हूँ; और मानो विस्मृतिकी प्रतिमा-सी चल रही हूँ।"—

"मैं क्या दे सकती तुम्हें मोल, यह हृदय! अरे दो मधुर बोल
मैं हँसती हूँ रो लेती हूँ, मैं पाती हूँ खो देती हूँ

इसमें ले उसको देती हूँ, मैं दुख को सुख कर लेती हूँ।
अनुराग भरी हूँ मधुर घोल, चिर विस्मृति-सी रही डोल।"

इन पंक्तियोंमें वैदिक आनन्दवादी, जीवन-मुक्त विदेह मार्गके उस आचरणका उल्लेख है, जिसकी प्रशंसा भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें की है। यही 'समत्व', अनासक्त योग मार्ग (कर्तव्य-मार्ग) है। श्रद्धा उस दशाको अनुभूत कर सकी थी जहाँ स्थित होकर आनन्दवादी विदेहने कहा था कि 'प्रदीप्ताया मिथिलाया न मे दह्यति किञ्चन्' 'दर्शन विमर्श'में हम इसकी पुनः चर्चा करेंगे।

अन्तमें श्रद्धा कहती है—"तुम्हारा प्रभापूर्ण मुख देखकर मनु अपनी चेतना खो बैठे, और उन्होंने (जडताके उभारके कारण) तुम्हारे प्रति अपराध किया। परन्तु उनके अपराधको तुम अवश्य क्षमा कर दोगी, मैं नारी होनेके नाते अधिकारपूर्वक यह बात कह सकती हूँ। क्योंकि मुझे मालूम है कि नारीमें माया ममताका बल होता है, वह 'शक्तिमयी छाया शीतल' होती है अर्थात् शीतल छायाके समान वह थके, उत्तप्त एवं दीन प्राणीको किसी भेद-भावके बिना सुख प्रदान करनेवाली शक्तिसे परिपूर्ण होती है। अतएव उसके अतिरिक्त अन्य कौन प्राणी निश्छल, विशुद्ध, क्षमा प्रदान कर सकता है।"

उत्तरमें इड़ा कहती है—"अब मैं भी कुछ कहूँगी। यहाँ अपराधी कौन नहीं है। सभी लोग जीवनमें सुख दुःख दोनोंको भोगते-रहते हैं, परन्तु वे केवल सुखके लिए लालायित रहते हैं और दुःखको नहीं चाहते। वे केवल सुख पानेके प्रयत्नमें, अपनी सुख-सीमाके विस्तारकी अधिकार भावनाके कारण, वर्षाकालीन झरनेके समान मर्यादा तोड चलते हैं। फिर उन्हें कौन रोके? क्योंकि ये व्यक्ति अन्य सभीको अपना शत्रु मानते हैं (जब सभी लोग केवल निजी स्वार्थ भावनासे, या केवल सुख भोगनेकी कामनासे, अभिभूत हो उठते हैं तो प्रत्येक व्यक्ति औरोंको द्वेष-भावनासे ही देखेगा)।"

"हमारे प्रदेशमें फूट बढ रही है, कृत्रिम सीमाएँ टूट रही हैं। श्रमके विचारसे जो कृत्रिम विभाग हमने बनाये थे उन्हें इन लोगोंने 'वर्ग' मानकर परस्पर भेदकी सृष्टि कर ली। इन्हें अपने बलका गर्व है, ये नानाविधि नियमोंकी सृष्टि और आपदाओं संघर्षोंकी वृद्धि करते चल रहे हैं। सब लोग लालसा-मत्त हैं। और, मेरा साहस छूट गया है।"

"कभी मैं इस प्रदेशका कल्याण करनेवाली समझी जाती थी, पर आज अब नतिका कारण बन उठी हूँ। क्योंकि श्रम-सुविधाके लिए मेरे द्वारा निर्धारित विभाजन अब विषम हो गये हैं। नित्य नियम टूटते और बनते चल रहे हैं, इस कारण जीवनके विविध क्षेत्रोंमें आपत्ति-वज्रकी वर्षा हो रही है—

"यह ज्वाला इतनी है समिद्ध, आहुति बस चाह रही समृद्ध।"

तो क्या मैं अबतक भ्रममें थी? क्या प्राणीका जीवन यही है कि वह चुपचाप विनाश शक्तिके द्वारा दमित और विनष्ट ही होता रहे (यही प्रश्न 'इडा' सर्गमें मनुने इड़ासे किया था)—

"संघर्ष कर्म का मिथ्या बल, ये शक्ति चिह्न, ये यज्ञ विफल;
भय की उपासना ! प्रणति भ्रांत ! अनुशासन की छाया अशान्त !"

तात्पर्य यह है कि क्या कर्म-संघर्ष, कर्मके द्वारा जीवन-सुखकी उपलब्धिका प्रयत्न, मिथ्या है। शक्ति-प्रतीक या शक्ति प्रदान करनेवाले ये यज्ञ व्यर्थ हैं ? क्या भयसे किसी बाह्य शक्तिकी उपासना और उसके अनुशासनमें चलना ही प्राणीके भाग्य में बदा है ?

अन्तमें इडा कहती है कि—"हे देवि, मेरी दूसरी गलती यह है कि मेरे कारण ही आज तुम्हारे पति तुमसे दूर चले गये। मैं आज अपनेको नितान्त अकिंचन पा रही हूँ, यहाँतक कि मैं अपनी नजरमें भी अच्छी नहीं लग रही हूँ। मैं आज अपने ही स्वरको सुन नहीं पा रही हूँ (अर्थात् मेरी चेतना अब इस विषम स्थितिमें किंकर्तव्य-विमूढ़-सी हो उठी है)। अतएव, हे देवि ! मुझसे विरक्त न होकर, मुझे क्षमा करके तुम अपना राग दो ताकि मेरी शिथिलित-सी चेतना पुनः जग उठे"—

"दो क्षमा, न दो अपना विराग, सोई चेतनता उठे जाग।"

इडाके इस ग्लानिपूर्ण आत्म निवेदनके उत्तरमें श्रद्धा कहती है—

"सिर चढ़ी रही ! पाया न हृदय, तू विकल कर रही है अभिनय,
अपनापन चेतन का सुखमय, खो गया, नहीं आलोक उदय;
सब अपने पथ पर चले श्रान्त, प्रत्येक विभाजन बना भ्रान्त।"

इन पंक्तियोंमें श्रद्धाने इडाकी कार्य-प्रणालीके उस मौलिक दोषकी ओर संकेत किया है, जिसके कारण उसके द्वारा निर्धारित श्रम विभाग भ्रान्त होकर 'वर्ग'के रूपमें परिणत हो गये और सारे नागरिक अपने-अपने मार्गपर व्याकुल, प्रमत्त, दौड़ने लगे। वह दोष यह है कि इडाने केवल लोगोंके 'सर'को स्पर्श किया न कि उनके 'हृदय' को भी। उसने सारस्वत-सभ्यताकी वृद्धि—उन्नति तो की, किन्तु उसमें हृदयकी स्थापना करके उसका संस्कार वह न कर सकी। उसने लोगोंमें बौद्धिक जागृति करके उन्हें दु:खके परिहार निमित्त साधन जुटानेकी प्रेरणा दी, लोग सुख साधनोंके संग्रहके लिए अधिकार-सीमाको तोड़ चले। उसने लोगोंके हृदयको स्पन्दित, उदार, नहीं बनाया। उसने जीवनको हृदयसे स्निग्ध नहीं किया।

फल यह हुआ कि लोगोंको सुख देनेका उसका प्रयत्न अभिनय मात्र बन कर रह गया, वह वास्तविक न हो सका। इडाके इस बौद्धिक प्रयत्नके कारण और हृदय पक्षको उभरनेका अवसर न देनेके कारण, 'चेतनका सुखमय अपनापन (स्वत्व)', अर्थात् आत्मवादका भाव खो गया। और इसीलिए आलोक नहीं, वरन् तम छा गया। तमाभिभूत होनेसे, आत्मवादके आलोकके लुप्त हो जानेसे, सब लोग अपने मार्गपर श्रान्त, भ्रमित, चल रहे थे। उन्होंने श्रम विभाजनको अपने द्वैत भावके कारण 'वर्ग' मान लिया, और फिर कलहका साम्राज्य व्याप्त होना अनिवार्य था।

×

[विशेष—'सिर चढी रही, पाया न हृदय'का यह अर्थ नहीं है कि इडाके पास केवल 'सिर' था, 'हृदय' नहीं। प्राय विद्वानोंको इसी अर्थका भान इसमे होता है, और ऐसा इसीलिए होता है कि वे लोग श्रद्धा और इडाको 'प्रतीक'के अतिरिक्त ऐतिहासिक पात्रके रूपमे देखते ही नहीं। हमने 'निर्वेद' सर्गमें इडाके हृदयकी उच्चाशयताकी झाँकी ली है (पात्र विमर्शमें हम उसे विस्तारपूर्वक देखेंगे), और कुछ पंक्तियाँ पूर्व श्रद्धाने भी इडामें 'नारीके माया ममता बल' और 'शक्तिमयी शीतल छाया'की ओर संकेत किया है। इसलिए हमें उपर्युक्त वाक्यका अर्थ प्रसग और काव्यार्थके अनुकूल करना चाहिए।]

× × ×

आगे श्रद्धा जीवनके स्वरूपका विवेचन करती है—

"जीवन धारा सुन्दर प्रवाह, सत, सतत, प्रकाश सुखद अथाह
ओ तर्कमयी तू गिने लहर, प्रतिबिम्बित तारा पकड, ठहर
तू रुक रुक देखे आठ पहर, वह जडता की स्थिति भूल न कर
सुख-दुख का मधुमय धूप छाँह, तू ने छोडी यह सरल राह।"

"जीवनकी धारा एक सुन्दर प्रवाह है, वह सत है, शाश्वत है, ज्योतित है और अपार आनन्दप्रद है। इसके प्रवाहमें सुख दुखकी अवस्थिति भी उसी प्रकार सत और चित् है। परन्तु तू तर्कके द्वारा दु खकी लहरोंको गिनकर, उनको न स्वीकार कर, उनमें प्रतिबिम्बित तारा सुखोंको ही पकडना चाहती है। यह गतिकी नही, स्थिरता (जडता)की दशा है। चेतनता (गति)की स्थिति तो यह है कि हम सुख दु खसे पूर्ण जीवन प्रवाहको एकरस होकर ग्रहण करें। सुख दु ख मधुर धूप-छाँहके समान है, एक का महत्त्व दूसरेपर है। केवल एक, अपूर्ण और निस्सार (आनन्द रहित) है। इडे, तूने यह सुख दु खका आनन्द मार्ग छोड दिया।" ['श्रद्धा' सर्गमें श्रद्धाने मनुको भी यही तथ्य समझाया था। हम 'दर्शन विमर्श'के अवसरपर पुन इसपर विचार करेंगे।]

"चेतनता का भौतिक विभाग कर, जग को बाँट दिया विराग।
चिति का स्वरूप यह नित्य जगत, वह रूप बदलता है शत शत,
कण विरह मिलनमय नृत्य निरत, उल्लास पूर्ण आनद सतत,
तल्लीन पूर्ण है एक राग, झकृत है केवल 'जाग जाग।'

"हे इड, तू ने भौतिक उन्नतिके लिए जो श्रम विभाग निर्धारित किये, उसके कारण चेतना भी भौतिक आधारपर विभक्त हो गयी, अर्थात् लोग एक समान्तर चेतनाकी अनुभूति खो बैठे। अतएव सबमे एक ही चेतनाका दर्शन न करनेके कारण लोगोंको एक दूसरेके प्रति राग नहीं, वरन् विराग ही मिला। परन्तु वास्तविकता यह है कि यह जगत् चेतनका ही स्वरूप है और शाश्वत है। यह निरन्तर परिवर्तित होता रहता है, परिवर्तन सृष्टिका शाश्वत मगल सिद्धान्त है (मनुको भी श्रद्धाने यही बताया था)। प्रत्येक कण विरह मिलनके नृत्यमें गतिशील है, यह नित्य उल्लासपूर्ण

एव शाश्वत आनन्द है। इसमे चेतनका एक राग ही व्याप्त है; प्रबुद्धता ही विश्वकी अभिलाषा है।"

वैदिक कालमे पहले वर्ण व्यवस्था गुण और कर्मपर आधारित थी; गुण और कर्मके बदल जानेपर व्यक्तिका वर्ग या वर्ण भी भिन्न हो जाता था। परन्तु कुछ काल बाद वर्ग नियम कठोर हो गये, और पहले जो कृत्रिम श्रम विभाजन निमित्त वर्ग-व्यवस्था थी, वह द्वेष एव भेद भावसे दूषित हो गई। फिर भी आर्यावर्तके तरुण आर्योंने, अपने आत्मवादी दर्शनके कारण, इस कुप्रवृत्तिका प्रत्याख्यान करके, गुण-कर्मपर आधारित वर्ग भावको ही स्वीकार किया। प्रस्तुत सदर्भमें इडाने अपने प्रदेशमें व्याप्त अस्वस्थ वर्ग भावनाके भयकर फलकी ओर सकेत किया है, और श्रद्धाने उसका त्रुटिकी ओर सकेत करके गुण कर्म-आधारित वर्ग भावनाको ठीक एव श्रेयस्कर बताया। इडाका समाज भोगमूलक था, और उसकी वर्ग भावना भी भोगमूलक थी। श्रद्धाने आत्मवादी आधारपर समाजको स्थापित करना चाहा।

× × ×

यहाँतक तो श्रद्धाने इडाके प्रश्नोंके उत्तर दिये। इडाने प्रश्न किया था कि क्या प्राणीका भविष्य यही है कि वह सहार शक्ति द्वारा दमित विनष्ट होता रहे, क्या उसके लिए भयकी उपासना, सहार-शक्तिकी प्रणति तथा उसके अनुशासनमें मौन रूपसे चलनेके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है? क्या अपने कर्मसे, सुख-साधनके निमित्त किये गये यत्नोंसे, प्राणीका कल्याण नहीं हो सकता? तो क्या मनुष्य केवल असहाय, दास है? इसके उत्तरमे श्रद्धाने अपने 'आत्मवादी' मतको प्रस्तुत कर दिया। अब वह आगे कहती है—

"मैं लोक अग्निमें तप नितान्त, आहुति प्रसन्न देती प्रशान्त" अर्थात् मैं सुख-दुःखसे भरे जीवनमें प्रसन्न और शान्त मनसे कार्य करती चलती हूँ (इसमें तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा'की ध्वनि है जिसकी चर्चा 'दर्शन विमर्श'में की जायगी)। परन्तु,

"तू क्षमा न कर कुछ चाह रही, जलती छाती की दाह रही,
तो ले ले जो निधि पास रही, मुझको बस अपनी राह रही।"

"तू क्षमा न करके प्रतिकार स्वरूप मुझसे कुछ चाह रही है (कुछ पक्तियाँ पूर्व इडाने श्रद्धासे कहा था कि हे देवी! तू मुझे अपना विराग नहा राग प्रदान करो, जिससे मेरी सोई चेतनता जग उठे। इडाकी इसी चाहकी ओर श्रद्धाका लक्ष्य है)। तुम्हारे हृदयमें इच्छाकी जलन है, तो मेरे पास जो निधि (मानव) है उसे तुम ले लो। और मुझे अपने व्यक्तिगत कर्तव्य मार्गपर छोड दो—

"तुम दोनों देखो राष्ट्र नीति, शासक बन फैलाओ न भीति,
मैं अपने मनु को खोज चली, सरिता मरु नग या कुज गली,
वह भोला इतना नहीं छली! मिल जायगा, हूँ प्रेम-पली।

"तुम दोनों (इडा और मानव) राष्ट्रके उत्थानका कर्म करो; इस बातका ध्यान रखना कि शासक बनकर तुम लोग भयका साम्राज्य न फैलाना अर्थात् प्रजाको भय

भीत न करना, वरन् उसे सुखी बनाना। मैं अपने प्रियतमको खोजने जा रही हूँ। उसे सरिता, मरु, नग, कुंज, गली आदिमें कहीं न-कहीं ढूँढ ही लूँगी। वह भोला है, इतना छली नहीं है कि वह मुझे न मिले। वह मुझे अवश्य मिलेगा, क्योंकि मैं प्रेम पत्नी हूँ (जा पर जाकर सत्य सनेहू, सो तेहि मिलइ न कछु सन्देहू)।

[श्रद्धाने मनुको भोला कहा, इसपर किसीको आपत्ति नहीं होनी चाहिए; श्रद्धा यह समझ गई थी कि मनु वास्तवमें अपने पुराने संस्कारसे पीडित और सचालित होकर कुकृत्य कर रहे थे, अन्यथा वे बुरे न थे। 'निर्वेद' सर्गमें उसने मनुकी आत्म ग्लानि, उनके भीतर उठती आँधीको देख लिया था।] आगे श्रद्धा कहती है—

'तब देखूँ कैसी चली रीति, मानव तेरी हो सुयश गीति।'

इसपर 'मानव' ने कहा—'हे माँ, मुझसे ममता न तोडना। मैं तेरी इस आज्ञाका पालन करूँगा, तेरा स्नेह मुझे शक्ति देगा। मैं इस पावन कर्तव्यका तेरी आज्ञाके अनुसार पालन करता रहूँगा; मैं किसी भी रूपमें यह प्रण न छोड़ूँगा। मेरा जीवन इस पवित्र कार्यको सम्पन्न करके वरदान बने। यदि मुझे तुम इस समय छोड रही हो, तो यह आशीर्वाद दो कि फिर मुझे तुम्हारी गोदमें बैठनेका सौभाग्य मिले।"

['मानव'के इस प्रणका अत्यधिक महत्व है, 'पात्र विमर्श'में हम इसकी चर्चा करेंगे।]

श्रद्धा ने कहा—

"हे सौम्य! इडा का शुचि दुलार, हर लेगा तेरा व्यथा-भार,
यह तर्कमयी तू श्रद्धामय, तू मननशील कर कर्म अभय,
इसका तू सब संताप निचय, हर ले हो मानव भाग्य उदय।"

इस कथनकी स्पष्ट ध्वनि है कि श्रद्धामय, आत्मवादी अनुभूतिसे पूर्ण, होनेके कारण 'मानव' इडाकी इच्छाको पूर्ण करके उसके सब सन्तापको नष्ट करनेमें समर्थ है। इडाकी इच्छा थी कि प्राणियोंको, सारस्वत निवासियोंको, भयसे मुक्ति मिले तथा उनकी विषम स्थिति दूर हो एव उन्हें सुख प्राप्त हो। 'मानव' श्रद्धाके गुणोंका प्रतिनिधि होकर इस कार्यको सम्पन्न करेगा। साथ ही-साथ इडाका पवित्र स्नेह, साहचर्य, 'मानव'के लिए सहायक होगा और फिर 'मानव' जातिके भाग्य, सौभाग्यका उदय होगा।

अन्तम श्रद्धाका कहना है—

'सब की समरसता का कर प्रचार, मेरे सुत, सुन मा की पुकार।'

श्रद्धाके विश्वासपूर्ण मधुर वचनको सुनकर इडाने कहा कि 'हे देवी, तुम्हारे ये वचन मुझे कभी न भूलेंगे, मैं 'मानव'के कर्तव्य-पालनमें अपना पूरा सहयोग दूँगी। हे देवी! तुम्हारा यह स्नेह दिव्य श्रेयका अविरल स्रोत है, यह हमारे लिए आकर्षक घनके समान निरन्तर जीवन-जल प्रदान करेगा, और सारे दुख दूर हो जायँगे।

"अति मधुर वचन विश्वास-मूल, मुझको न कभी ये जाय भूल,
हे देवि तुम्हारा स्नेह प्रबल, बन दिव्य श्रेय-उद्गम अविरल,
आकर्षण घन-सा वितरे जल, निर्वासित हो संताप सकल।"

यह कहकर इडाने 'मानव'का हाथ पकड लिया। तीनो व्यक्ति क्षण भर विस्मृत हो उठे। वे एक हृदय हो उठे। अन्तमे, इडा और मानव पुरकी ओर चल पडे और श्रद्धा मनुको ढूँढने चल पडी।

× × ×

यह स्थल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। यहासे 'कामायनी' काव्यके 'कार्य'की 'नियताप्ति' अवस्था प्रारम्भ होती है। यहींसे यह निश्चित सा लगने लगता है कि अब आत्मवादी, आनन्दवादी, सस्कृतिकी स्थापना होगी। वृत्रघ्नी इन्द्रने 'सरस्वती'के किनारे इसी प्रदेशमें असुरोंको हराकर अपनी आत्मवादी सस्कृतिकी स्थापना प्रलयके पूर्व की थी यह कहा जा चुका है। इन्द्रकी उस विचार धाराम आमोद प्रमोदकी भावनाका समावेश था। प्रसादजीने लिखा है कि "वैदिक साहित्यमें आत्मवादके प्रचारक इन्द्रकी जैसी चर्चा है, उर्वशी आदि अप्सराओंका जो प्रसग है वह उनके आनन्दके अनुकूल ही है।" परन्तु अपने सकुचित राग भावके कारण, देवोंको इन्द्रके उस आत्मवादका पूर्ण बोध न हो सका। आगे चलकर वे केवल विलासितामें रह गये, उनम आत्मवाद विकसित न हो सका। प्रसादजीके अनुसार, यही कारण था कि विश्व शक्तिने देवोंका प्रलय विनाश कर दिया। और देवोकी अपूर्ण आत्मवादी सारस्वत सस्कृति विध्वस्त हो गयी।

प्रलयके उपरान्त मनु इडाकी सहायतासे पुन उसकी स्थापनामें प्रवृत्त हुए। पर वे अपने पुराने भोग मूलक सस्कारोंके कारण इस कार्यमें असफल रहे, रुद्रके कोपने पुन देव सस्कृतिको स्थापित न होने दिया। और देवत्व पुन हार गया। इस सर्गमें देव (मनु)के स्थानपर 'मानव'को नियोजित किया गया है। देवोंके आश्रयसे इडा जो काम न कर सकी, उसे उसने 'मानव'के सहारे पूर्ण करनेका व्रत लिया। सृष्टिके इस पुनरुन्मेष युगमें 'मानव' उस आनन्दपूर्ण सस्कृतिकी स्थापनामे लगा जिसे, प्रसादजीके अनुसार, वैदिक प्रबुद्ध तरुण आर्य सबने सोत्साह स्वीकार किया, जिसका दार्शनिक विवेचन पल्लवन वैदिक साहित्यम मिलता है।

इस स्थलपर दूसरी विचारणीय बात यह है कि श्रद्धाने 'मानव'को इस पवित्र कार्यमें जो नियोजित किया, वह इस विश्वासके साथ कि 'मानव' उस कार्यको कर लेगा क्योंकि उसमें 'आत्मवाद'की पूर्ण अनुभूति थी। वह श्रद्धाका पुरुष सस्करण था। श्रद्धाने इतने दिनोंतक उसे अपनी अभीष्ट सस्कृतिमें पूर्ण दीक्षित कर दिया था। अन्यथा, जिस प्रदेशकी रानी इडाका साहस छूट गया हो और जहाँ मनुके समान बलिष्ठ व्यक्ति असफल हो गया, वहाँ वह अपने एकमात्र पुत्रको छोडती कैसे! उसे अपने द्वारा किये गये 'मानव'के सस्कार और उसकी शक्तिपर पूर्ण विश्वास था। इसीलिए इडाने उसके वचनको 'विश्वास मूल' कहा था, जिसका उल्लेख हो चुका है। इडा और मानवको राष्ट्र कर्ममें इस विश्वासके साथ नियोजित करके श्रद्धाने यह भी कहा कि तुम लोग प्रजाके सुखके लिए काम करो, फिर मैं देखूँगी कि क्या दशा होती है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि श्रद्धा रगमचसे एकदम

भीत न करना, वरन् उसे सुखी बनाना। मैं अपने प्रियतमको खोजने जा रही हूँ। उसे सरिता, मरु, नग, कुंज, गली आदिमें कहीं-न-कहीं ढूँढ़ ही लूँगी। वह भोला है, इतना छली नहीं है कि वह मुझे न मिले। वह मुझे अवश्य मिलेगा, क्योंकि मैं प्रेम-पत्नी हूँ (जा पर जाकर सत्य सनेहू, सो तेहि मिलइ न कछु सन्देहू)।

[श्रद्धाने मनुको भोला कहा, इसपर किसीको आपत्ति नहीं होनी चाहिए; श्रद्धा यह समझ गई थी कि मनु वास्तवमें अपने पुराने संस्कारसे पीड़ित और संचालित होकर कुकृत्य कर रहे थे, अन्यथा वे बुरे न थे। 'निर्वेद' सर्गमें उसने मनुकी आत्म-ग्लानि, उनके भीतर उठती आँधीको देख लिया था।] आगे श्रद्धा कहती है—

'तब देखूँ कैसी चली रीति, मानव तेरी हो सुयश गीति।'

इसपर 'मानव' ने कहा—'हे माँ, मुझसे ममता न तोड़ना। मैं तेरी इस आज्ञाका पालन करूँगा; तेरा स्नेह मुझे शक्ति देगा। मैं इस पावन कर्तव्यका तेरी आज्ञाके अनुसार पालन करता रहूँगा; मैं किसी भी रूपमें यह प्रण न छोड़ूँगा। मेरा जीवन इस पवित्र कार्यको सम्पन्न करके वरदान बने। यदि मुझे तुम इस समय छोड़ रही हो, तो यह आशीर्वाद दो कि फिर मुझे तुम्हारी गोदमें बैठनेका सौभाग्य मिले।'

['मानव'के इस प्रणका अत्यधिक महत्व है; 'पात्र-विमर्श'में हम इसकी चर्चा करेंगे।]

इस प्रकार मनुने श्रद्धाके द्वारा इडाके पास 'मानव'के छोड़े जाने पर खेद प्रकट किया और उसे श्रद्धाकी गलती बतायी। इन पंक्तियोंसे यह भी स्पष्ट है कि मनु इडा तथा सारस्वत निवासियोंके प्रति अत्यधिक क्रुद्ध थे, उनमें उन सबके प्रति पर्याप्त घृणा थी। इसके उत्तर में श्रद्धा कहती है—

"प्रिय! अब तक हो इतने सशंक, देकर कुछ कोई नहीं रंक,
यह विनिमय है या परिवर्तन, बन रहा तुम्हारा ऋण अब धन,
अपराध तुम्हारा वह बन्धन लो बना मुक्ति, अब छोड़ स्वजन
निर्वासित तुम, क्यों लगे डंक? दो लो प्रसन्न, यह स्पष्ट अंक।"

"हे प्रिय, तुम अबतक इतने सशंक हो? (इस कथनमें 'अबतक' की ध्वनि महत्त्वपूर्ण है। यह सोचना गलत न होगा कि 'अबतक' कहकर श्रद्धाने मनुको इस तथ्यकी ओर संकेत करना चाहा है कि अपनी विश्वासहीनता, भेद-बुद्धि, 'सब-कुछ अपनेमें भर' लेनेकी भावनाके कारण ही उन्हें रुद्र-कोप सहना पड़ा, फिर भी वे उस दुर्गुणसे मुक्त न हो सके। एक दूसरा आशय यह भी हो सकता है कि जब तुमने सब लोगोंको छोड दिया और विराग धारण कर लिया तो फिर तुम्हें इन सब बातोंसे क्या प्रयोजन।) देनेसे कोई रंक नहीं होता। 'स्व'का त्याग एक प्रकारसे स्वका 'सर्व'में विस्तार होता है। 'देना' एक प्रकारका विनिमय या परिवर्तन है। हमने 'मानव'को सारस्वत प्रदेशके लाभके निमित्त अपनेसे दूर किया है, वह वास्तवमें हमारे लिए अचल सम्पत्तिमें परिणत होगा (क्योंकि उसके द्वारा हमारा यश बढ़ेगा)।

तुमने इडाके प्रति जो अपराध किया था वह तुम्हारे लिए बन्धन था। मनुष्य एक अपराधके बाद दूसरा अपराध करता चलता है, और निरन्तर अपराधोंकी शृंखला निर्मित करता चलता है। परन्तु आज उसीके कारण अनायास तुम 'मुक्त' बन उठे हो, तुम स्वजनोंकी ममतासे (राग मोहसे) कट गये हो। फिर तुम्हें उनके बारेमें शोक करनेकी क्या आवश्यकता है? अब तुम प्रसन्न होकर 'देना लेना' सीखो, अर्थात् प्रत्येक स्थितिमें, सुख दुःख, लाभ हानि, योग क्षेम, सभी दशाओंमें प्रसन्न रहना सीखो।

इससे इतना स्पष्ट हो जाता है कि श्रद्धाने इडाके ऊपर किये गये मनुके बलात्कारको उनका अपराध माना है, अतएव मुक्तिबोधजीका यह कहना गलत हो जाता है कि श्रद्धाने मनुके अपराधकी ओर उनका ध्यान नहीं खींचा। परन्तु यहींपर अन्य दो प्रश्न उठते हैं। एक तो यह है कि क्या श्रद्धाने मनुके अपराधको मुक्तिका कारण बताकर अपराधको प्रोत्साहन दिया? दूसरे यह कि क्या सबसे कटकर, निर्वासित, रहनेका समर्थन करके श्रद्धाने मनुको पलायन करनेकी प्रेरणा दी?

दोनों प्रश्नोंका उत्तर है 'नहीं'। गरुडने भुसुण्डिसे कहा था कि मेरा राम विषयक मोह मेरे लिए वरदान ही रहा क्योंकि उसीके कारण मैं आपके पास आया और कथा-रस पाया। तो, इसका आशय यह नहीं लिया जा सकता कि गरुडने 'मोह'को बढ़ावा दिया। गुरु अपमानके कारण कागभुसुण्डिको काग शरीर मिला और उसी शरीरसे उन्हें राम भक्ति प्राप्त हुई, तो इसका यह अर्थ नहीं कि गुरु-अपमान राम

गायब होने नहीं जा रही है। 'मानव'ने भी यह वरदान माँगा था कि 'मुझे फिर तुम्हारी गोदमें बैठनेका सौभाग्य मिले', इससे भी यही प्रकट होता है कि श्रद्धा सदाके लिए हट नहीं रही थी। हाँ, कुछ समयके लिए उसका व्यक्तिगत कर्म, पत्नी-कर्म (अन्यत्र जानेके लिए, मनुको ढूँढकर उनकी समस्याका निराकरण करनेके लिए) उसके सामने था। अतएव यह मानना नितान्त भ्रम होगा कि श्रद्धाने जीवन-सवर्षसे पलायन किया।

अब तीसरी बातकी ओर सकेत आवश्यक है।

इस स्थलसे पुन कथा दो धाराओंमें प्रवाहित होती है।

श्रद्धाका मनुको खोजना, उन्हे पाना तथा उनकी समस्याका निराकरण करना एक धारा है, और इडाकी सहायतासे 'मानव'का राष्ट्र-कर्म, श्रद्धाके बताये मार्गपर, सम्पन्न करना दूसरी धारा है। काव्यमें कविने पहली धाराको प्रत्यक्ष रखा है और दूसरीको परोक्ष, इसका कारण है इस काव्यके विधानकी माँग (देखिए—'रस विमर्श')। ऐसा करना अनिवार्य था। अन्तिम सर्गमें दोनों धाराएँ मिल जाती है, और वहीं फलागम प्रस्तुत होता है। अब हम 'दर्शन' सर्गके शेष अशपर विचार करेंगे।

× × × ×

घूमते घूमते श्रद्धा सरस्वतीके किनारे एक स्थलपर पहुँची। वहाँपर उसे तममें कुछ सनसनका स्वर सुनायी पडा। पासकी लतावृत गुहामें उसे ज्ञात हुआ कि कोई जीवित प्राणी साँस ले रहा है। वह प्राणी मनु थे। मनुने भी सामने देखा—'वह मातृ मूर्ति थी विश्व मित्र'। दोनोने एक दूसरेको पहचाना॥ जैसा कि हम कह आये है, अपने नाटकीय वधान और नाटकीय विधानके कारण हमें 'कामायनी' काव्यके कई सवादों, दृश्यों एव घटनाओंकी ओर परोक्ष सकेत ही प्राप्त होता है, उसे प्राप्त करनेके लिए हम अर्थात् उसे पूरी तरह समझनेके लिए, अपनी कल्पनासे काम लेना होगा। इस समय यही स्थिति है। मनु श्रद्धाने एक दूसरेको पहचाना, दोनोंने एक दूसरेके विषयमे पूछ ताछ अवश्य की होगी। इतने दिनोंतक दोनोंपर क्या बीती, इसका ज्ञान प्रत्येकने प्राप्त किया होगा। 'मानव' कहाँ है और क्या? मनुने ये प्रश्न किए होंगे और श्रद्धाने उसके उत्तर विस्तारपूर्वक दिये होंगे। परन्तु कविने इन बातोंका उल्लेख न करके सीधे यह कहा—

> "बोले रमणी तुम नहीं आह! जिसके मनमें हो भरी चाह,
> 'तुमने अपना सब कुछ खो कर, वचिते! जिसे पाया रोकर,
> मैं भगा प्राण जिनसे लेकर, उसको भी, उन सबको देकर,
> निर्दय मन क्या न उठा कराह? अद्भुत है तब मन का प्रवाह!'
> ये श्वापद से हिंसक अधीर, कोमल शावक वह बाल वीर,
> सुनता था वह वाणी शीतल, कितना दुलार कितना निर्मल?
> कैसा कठोर है तव हृत्तल? वह इडा कर गयी फिर भी छल,
> तुम बन रही हो अभी धीर, छुट गया हाथ से आह तीर।"

"इस देव, द्वन्द्व का यह प्रतीक मानव कर ले सब भूल ठीक,
यह विष जो फैला महा विषम, निज कर्मोन्नति से करते सम,
सब मुक्त बनें, काटेंगे भ्रम, उनका रहस्य हो शुभ संयम,
गिर जायेगा जो है अलीक, चलकर मिटती है पड़ी लीक।"

ध्यानसे इन पंक्तियोंपर विचार करनेपर कविपर लगाया जानेवाला पलायनका दोष दूर हो जाता है। पहली पंक्तिमें ही श्रद्धाने स्पष्ट 'मानव'को देव द्वन्द्व (अर्थात् मनु श्रद्धा)का प्रतीक (प्रतिनिधि) कहकर आगे यह बता दिया कि वह देव भूलको ठीक कर लेगा। कैसे? देव संस्कृतिके कारण जो विषमताका विष फैला है उसे वह आत्मवादी कर्मोन्नतिसे समतामें बदल देगा। सभी लोग मुक्त, भ्रम रहित होंगे। उनकी सफलताका रहस्य उनका मांगलिक संयम होगा। देवोंमें संयमका अभाव था, मानव संयमका पालन करेगा और सफल होगा। जो अलीक है, मिथ्या है, वह नष्ट हो जायगा ('नासतो विद्यते भावो'की यहाँपर ध्वनि है)। परन्तु एक बार जो मार्ग बन जाता है वह भिन्न प्रकारसे चलनेपर ही मिटता है। देव लीकको मानव अपने नवीन कर्म-मार्गसे मिटा देगा। अभी भी क्या यह बताना शेष है कि कविने जीवनके संघर्षों से पलायन कर जानेका समर्थन नहीं किया?

× × ×

इस भूमिकापर आनन्दवादके महादेव नटेश (शंकर)के विश्व-नृत्यका मनुको मानस-दर्शन होता है ('दर्शन विमर्श'में हम इसे देखेंगे)। मनुने 'नर्तित नटेश'को देखकर श्रद्धासे वहीं, उनके चरणोंके पास ले चलनेको कहा। श्रद्धा उन्हें ले चली। और, यह सर्ग यहीं समाप्त हो जाता है।

× × ×

मैं कह आया हूँ कि 'कामायनी'का गठन नाटकीय है। एक बिम्बके उपरान्त दूसरा बिम्ब, या एक घटनाके बाद दूसरी घटना, कहीं-कहीं इस भिन्नताके साथ प्रस्तुत है कि साधारण पाठकको संगति-स्थापना कार्य भारी पड़ता है। सन्दर्भ बदल जाता है, पर कवि उसका स्पष्ट संकेत नहीं देता केवल कुछ स्थल छोड़कर वह आगेकी घटना, भाव, विचार या बिम्ब प्रस्तुत करने लगता है। उस अन्तर्हित सन्दर्भ, एवं काल व्यवधानको कल्पनाके सहारे पाठकको ग्रहण करना पड़ता है। ऊपर जो उद्धरण दिया गया है उसके बाद कुछ स्थान छोड़कर पुस्तकमें नटराज शंकरके विश्व-नृत्यका अत्यन्त मनोरम, काव्यात्मक दर्शन प्रस्तुत किया गया है। इससे यह आशय नहीं ग्रहण करना चाहिए कि वस्तुतः मनुके सामने खड़े होकर शंकर नृत्य करने लगे। मेरे विचारसे यह नाटकीय आयोजना श्रद्धा द्वारा मनुको समझायी गयी आनन्दवादी वैदिक श्रद्धा भावना (जिसकी चर्चा मैं 'दर्शन विमर्श'में करूँगा)को मूर्त करनेके लिए की गई है। साधारण प्रतिभाका कवि, या केवल वर्णनात्मक प्रबन्धका कर्ता, यहाँपर श्रद्धा द्वारा मनुको उस वैदिक दर्शनकी संवादात्मक या प्रवचनात्मक व्याख्या प्रस्तुत करता। इसीलिए ऊपर मैंने लिखा है कि मनुको 'आनन्द'के नृत्यका मानस-दर्शन हुआ।

'आनन्द' सर्गमें इड़ाने एक जिज्ञासु बालकसे कहा है—

"सुनती हूँ एक तपस्वी था यहाँ एक दिन आया,
वह जगती की ज्वाला से अति विकल रहा झुलसाया।
उसकी वह जलन भयानक फैली गिरि अंचल में फिर,
दावाग्नि प्रखर-लपटों ने कर दिया सघन वन अस्थिर।
थी अर्द्धांगिनी उसी की जो उसे खोजती आई,
यह दशा देख, करुणा की वर्षा दृग में भर लाई।
वरदान बने फिर उसके आँसू, करते जग-मंगल
सब ताप शांत होकर, वन हो गया हरित सुख शीतल।"

यहाँ भी आशय यही है कि श्रद्धाने मनुकी ज्वाला अपनी आनन्दवादी स्निग्ध प्रकृतिसे दूर की। उसने अपनी आत्मवादी अनुभूतिसे मनुको शीतलता प्रदान की, और यह अनुमेय है कि उसने उस अनुभूतिके रहस्यको, उसकी प्रकृतिको, ठीकसे समझानेके लिए बहुत कुछ कहा होगा। अपने प्रथम मिलनके अवसरपर उसने ('श्रद्धा' सर्गमें) कितना उत्तेजित एवं लम्बा प्रवचन, या परामर्श दिया था, यह हम जानते हैं। यहाँ भी (अर्थात् इस मिलन समय भी) उसने मनुको अपना पूरा आत्म चिन्तन समझाया होगा। उसे ही कविने नटेशके विश्व-नृत्यके द्वारा निष्पादित किया है।

जैसा कि हम 'दर्शन विमर्श'में इस नृत्यकी चर्चाके अवसरपर देखेंगे, नटेश ही महाशक्ति हैं। अव्यक्त और व्यक्त (शिव-शक्ति) उसके दो पक्ष हैं। उसकी व्यक्त शक्ति, चित्शक्ति निरन्तर स्फुरित रहकर संहार-सृजनमय विश्वकी अभिव्यक्ति करती है। एक साथ ही वह रुद्र और शिव दोनों है। एक ओर उसमें गति, क्रियाकी चहल पहल कोलाहल है तो दूसरी ओर वह निस्तरंग महोदधि समरस भी है।

श्रद्धाकी देन व्याख्या सुनकर (काव्यके अनुसार नटेश-नृत्य देखकर) मनुने श्रद्धासे जो यह कहा कि 'मुझे उनके चरणोंतक ले चल', उसका अर्थ यह है कि वे उस देवरूपको, आनन्दरूप आत्मको, अनुभूति उपलब्ध करनेका साधन पूछते हैं। अबतक श्रद्धाने साध्य (निस्तरंगपर साथ ही नित्य-निरंतर सक्रिय) परम सत्ताका स्वरूप मनुको बताया था। जब उसको पानेके लिए मनुमें व्यग्रता उत्पन्न हुई तो वे वास्तवमें उस आत्मानुभूतिको ग्रहण करनेकी पात्रता पा चले। पात्रको ही साधन ज्ञान कराना चाहिए। अतएव आगे इसी 'साधन'को लेकर 'रहस्य' सर्ग प्रस्तुत होता है। और, यह विधान आवश्यक भी था। अतएव कथा यहाँ ही समाप्त नहीं हो सकती थी।

'रहस्य' सर्ग

पिछले सर्गमें मैं कह आया हूँ कि श्रद्धाने मनुको परम सत्ता शिवके स्वरूपका ज्ञान तो करा दिया, पर उसकी साधनाका बोध कराना आवश्यक था। मनुको स्व

भावत ऐसी प्रकृति नहीं मिली थी जो केवल प्रवचनसे आत्मवादको आयत्त कर ले। उनकी मूल देव-संस्कृतिको हम देख आए हैं। मनुने श्रद्धासे उस शिव रूपकी अनुभूति को प्राप्त करनेका साधन पूछा, और श्रद्धाने उनका मार्ग-दर्शन किया। ऋषिका होनेके कारण, वह यह काम कर सकती थी। ✓

ध्यान-योगका महत्त्व वैदिक युगसे ही था। ब्रह्मको जाननेके लिए तपकी प्रतिष्ठा ऋग्वेदमें भी थी। जाबालोपनिषदमें शतरुद्रीयके जपका अधिक गुण गाया गया है। *मैत्रेयीको आत्मविद्या सिखाते समय याज्ञवल्क्यने, बृहदारण्यकोपनिषद् (४।५।६)में* कहा है— ✓

'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य श्रोतव्यो, मन्तव्यो, निदिध्यासितव्य मैत्रेयि'' अर्थात् आत्मको देखना चाहिए, उसके बारेमें (गुरुसे) सुनना चाहिए, उसका मनन करना चाहिए और उसका ध्यान करना चाहिए। ध्यान योगका महत्त्व सभी दार्शनिकोंने स्वीकार किया है। मन और शरीरका संयम तत्त्व ज्ञानके लिए आवश्यक सहायक माना गया है। शरीरकी शुद्धि यम, नियम और आसनके द्वारा तथा मनकी शुद्धि प्राणायाम, प्रत्याहार और धारणा (एकाग्रता)के द्वारा होती है। धारणासे चित्तवृत्तिका निरोध होता है। इसके बाद 'ध्यान', लक्ष्यका अविचल चिंतन होता है और फिर 'समाधि' की दशा उत्पन्न होती है जहाँ अद्वैतकी पूर्ण चिदानन्द सत्ता अवस्थित होती है। पतञ्जलिके योग सूत्रका यह अष्टाङ्ग योग है। परन्तु इसकी परम्परा बहुत पुरानी है। तन्त्र साधना वैदिक है, वहाँ योगके भी सभी प्रमुख तत्त्व मिल जाते हैं। संयम, योग, साधनाके बिना सत्यकी प्राप्ति असम्भव है। ✓

अत श्रद्धा मनुको इसी योग साधनामें प्रवृत्त करती है। बड़े कौशलके साथ कविने इस सर्गके आरम्भमें मनु श्रद्धाके आनन्द आरोहणका द्विधा बिम्ब प्रस्तुत किया है। एक ओर वह हिमालयकी चढ़ाईका वस्तुपरक वर्णन करता है, और दूसरी ओर अंत साधनाको प्रस्तुत करता है। पहले वस्तुपरक वर्णन लीजिये—

> "नीचे जलधर दौड़ रहे थे, सुदर सुरधनु माला पहने
> कुजर कलभ सदृश इठलाते, चमकाते चपला के गहने।" आदि

अंत साधना का संकेत लीजिये—

> "दिशा विकम्पित, पल असीम है, यह अनंत-सा कुछ ऊपर है
> अनुभव करते हो, बोलो क्या पदतल में सचमुच भूधर है?"
>
> × × × ×
>
> "श्रांत पक्ष, कर नेत्र बद बस विहग युगल से आज हम रहें
> शून्य, पवन बन पख हमारे हमको दें आधार, जम रहें।"
>
> × × ×
>
> "निराधार उस महादेश म उदित सचेतनता नवीन—सी।"—आदि
>
> × × ×

आनन्द, आत्मके निकट दिशा कालका साथ छूट जाता है, सारे भौतिक आधार छूट जाते हैं। यहाँ विशुद्ध चेतनाका उदय होता है। इसी ऊँचाईतक मनु श्रद्धा पहुँचे हैं, कि उन्हें तीन लोकोंका अलग अलग अस्तित्व दिखाई पड़ा, मानो ये तीनों 'त्रिभुवनके प्रतिनिधि थे'। मनुने श्रद्धासे पूछा कि 'कौन नये ग्रह ये हैं?' उत्तरमें श्रद्धाने इन तीन लोकों के रूपकी विवेचना की। चूँकि इस विवेचनाको समझनेमें, मेरे मतानुसार, 'कामायनी'के अध्येताओंको पर्याप्त भ्रम हो चुका है, अतः मैं इस स्थलपर पाठकोंसे अपेक्षाकृत अधिक जागरूक रहनेकी प्रार्थना करूँगा। प्रत्येक कामायनी अध्येता यह जानता है कि श्रद्धाने इन तीन लोकोंको इच्छा, कर्म और ज्ञानके तीन लोक बताया है; और उसकी मुस्कानसे इन तीनोंमें एकता स्थापित होती है जो कि आनन्दकी उपलब्धिके लिए आवश्यक है। परन्तु 'इच्छा', 'कर्म' और 'ज्ञान' शब्दोंका प्रयोग किन अर्थोंमें कविने यहाँपर किया है, हमें जबतक इसका सम्यक् बोध न होगा तबतक हमें इस 'रहस्य' सर्गके रहस्यका न पता चलेगा और न काव्यका पूर्ण बोध हो पायेगा। क्योंकि जैसा कहा जा चुका है, यह अंश कथाके 'कार्य'की 'नियताप्ति' अवस्थाका उत्तर अंश है, इसीकी परिणति फलागममें होगी। 'योग सिद्धि फल-समय जिमि जतिहि अविद्या नास'के समान इस स्थलपर यदि हमारे अध्ययनमें तनिक भी भटकाव आया तो 'कार्य' (काव्य प्रयोजन)को हम न पा सकेंगे। इस निवेदनके साथ अब मैं इच्छालोक, कर्मलोक और ज्ञानलोककी विवेचनामें प्रवृत्त हो रहा हूँ।

इच्छा लोक

"यह देखो, उषाके समान सुंदर यह जो रागारुण लोक दिखाया देता है, जो भावमयी प्रतिमाका मन्दिर सा लगता है, वह इच्छा लोक है।" यहाँ,

"शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गंध की पारदर्शिनी सुघड़ पुतलियाँ,
चारों ओर नृत्य करतीं ज्यों रूपवती रंगीन तितलियाँ।"

× × ×

"यह जीवन की मध्य भूमि है रस धारा से सिंचित होती,
मधुर लालसा की लहरों से यह प्रवाहिका स्पंदित होती।"

× × ×

"घूम रही है यहाँ चतुर्दिक चल चित्रों सी संसृति छाया,
जिस आलोक बिन्दु को घेरे, वह बैठी मुस्क्याती माया।
भाव चक्र यह चला रही है इच्छा की रथ - नाभि घूमती,
नव रस भरी अराएँ अविरल चक्रवाल को चकित चूमती।"

"इस लोकमें शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गंधकी सुंदर पुतलियाँ नृत्य कर रही हैं, अर्थात् इसके प्राणी इन्द्रियोंके माध्यमसे जीवनका भोग करनेमें प्रवृत्त हैं। इस प्रकारके जीवनमें अपूर्व रमणीयता और मस्ती रहती है।' यह जीवनकी मध्य भूमि है (अर्थात यह 'कर्म' लोक और 'ज्ञान लोक'के बीचकी भूमि है)। यहाँ निरन्तर रस धारा बहती

है। मधुर लालसाओंकी लहर इसमें उठा करती है। यहाँ चल चित्रोंकी-सी मनोहारिता छायी हुई है। इस आलोक बिंदु (इच्छालोक)की चारों ओरसे माया घेरे हुए है। यही माया भाव चक्र चला रही है जिसमें इच्छाकी रथ-नाभि है, नवरसकी अराएँ हैं। भाव के इस माया-चालित चक्र में चक्कर खाते हुए प्राणी रागमें स्पन्दित चल रहे हैं।

"यहाँ मनोमय विश्व कर रहा रागारुण चेतन उपासना
माया राज्य ! यही परिपाटी, पाश बिछा कर जीव फँसाना।"

× × ×

"भाव भूमिका इसी लोक की जननी है सब पुण्य पाप की
ढलते सब, स्वभाव प्रतिकृति बन, गल ज्वाला से मधुर ताप की।"

वेदान्तके अनुसार, आत्मा पाँच कोषासे आवृत है अन्नमय कोष, प्राणमय कोष, मनोमय कोष, विज्ञानमय कोष और आनन्दमय कोष। अन्नसे बनी त्वचासे लेकर वीर्यतकका सघटन अन्नमय कोष है, पाँच प्राणा (प्राण, अपान, उदान, समान और व्यान)से निर्मित समुदाय प्राणमय कोष कहलाता है। मन और इन्द्रियाँ मनोमय कोष हैं, और बुद्धि एव अहकार विज्ञानमय कोष, तथा इनके परे आनन्दमय कोष है। योगी इन स्तरोंको पार करके आत्मरूपका साक्षात्कार करते हैं। गीतामें शरीरसे परे इन्द्रियोंको, इन्द्रियोंके परे मनको और मनसे परे बुद्धिको बताकर आत्माको इन सबसे परे कहा गया है। प्रसादजीने 'मनोमय'का प्रयोग शरीर, इन्द्रिय और मनके सभी व्यापारोंके लिए किया है। उपर्युक्त पंक्तियामें उनका कहना है कि—

"इस इच्छा-लोकमें मन रागकी उपासना करता है, वह राग भोगमें बेसुध रहता है। यह मायाका राज्य है, यहाँ जीवको मोहकर उसे फँसाया जाता है।" अंतिम दो पंक्तियामें कविका कहना है कि "इसी लोककी भाव भूमि पुण्य पापकी जननी है, अर्थात् इच्छा आसक्ति (रागासक्ति)की जननी होती है, और आसक्तिसे ही पाप पुण्य उत्पन्न होते हैं। रागोपासनाकी इस अग्निमें प्राणियोंकी प्रकृति बनती है, और उसी प्रकृतिके अनुसार वे कार्य करते हैं।" यह नितान्त मनोवैज्ञानिक तथ्य है। मनुष्यके भाव उसकी प्रकृति बनाते हैं, और फिर जैसा स्वभाव होता है उसके अनुसार वह कार्य करता है।

परन्तु इस लोकमें लोगोंको पग पगपर बुद्धि निर्मित नियमों, विधि निषेधोंकी ठोकर लगती है। नियमोंकी उलझन इस भाव लोककी समस्या है। इसके कारण इस लोकमें प्राणियोंकी आशा पूरी नहीं होती। अतएव वसन्त और पतझर दोनोंका इसे स्पर्श होता रहता है। यहाँ अमृत और हलाहल दोनों है, सुख दुःख दोनों अविच्छिन्न हैं,—

"नियम मयी उलझन लतिका का भाव-विटपि से आ कर मिलना
जीवन-वन की बनी समस्या, आशा नभ कुसुमों का खिलना।
चिर वसंत का यह उद्गम है, पतझर होता एक ओर है
अमृत हलाहल यहाँ मिले हैं, सुख-दुख बँधते एक डोर हैं।"

× × ×

यहाँ श्रद्धाके मुखसे इच्छा लोकका जो वर्णन किया है, उसके कुछ अंशोंको हमने देख लिया। इससे हमें यह स्पष्ट हो गया कि इच्छा लोक ऐंद्रिय रसास्वादनका लोक है, चेतनकी भाव सत्ताकी यह प्रथम भूमि है, यह 'अशनाया पिपासे', भूख प्यासका लोक है। 'काम' सर्गमें कामने मनुसे सृष्टिके प्रारम्भिक कालके जिस देवासुर जीवनका वर्णन किया है वह यही जीवन है। इस जीवनमें ही वस्तुकी उपलब्धि हो सकती है, यहीं सुख, आनन्द पाया जा सकता है। यहींपर पाप पुण्यकी सृष्टि होती है। इसकी समस्या यह है कि इसकी अभिलाषाएँ पूरी नहीं हो पातीं क्योंकि पग पगपर नियमोंकी बाधा इसके सामने पड़ा करती है। फिर भी यह जीवनकी मध्य भूमि और मूलधारा है।✓(केवल इतना संकेत लेकर हम आगे बढ़ेंगे और अन्य दो लोकोंका स्वरूप देखकर पुनः सबपर एक साथ विचार करेंगे)।

कर्मलोक

"मनु, यह श्यामल लोक कर्म लोक है, यह धुँधला है और अन्धकार-सा है, यहाँपर—

"सबके पीछे लगी हुई है कोई व्याकुल नई एषणा।
श्रममय कोलाहल, पीड़नमय विकल, प्रवर्तन महायन्त्र का
क्षण भर भी विश्राम नहीं है, प्राण दास है क्रिया तन्त्र का।
भाव-राज्य के सकल मानसिक सुख यों दुःख में बदल रहे हैं"

इच्छाकी तृप्तिके लिए मनुष्य कर्ममें प्रवृत्त होता है। परन्तु कुछ सीमाके उपरान्त मनुष्य अपनी नित नवीन एषणा (कामना)को सन्तुष्ट करनेके लिए 'कर्म', 'कर्म', की रटमें निजको अशान्त बना देता है। उसे कभी भी तृप्ति नहीं मिल पाती। 'और', 'और' उसके जीवनका लक्ष्य हो उठता है। उसे क्षणभरको भी विश्राम नहीं मिलता, वरन् वह महायन्त्रके समान काम करता रहता है। फल यह होता है कि जिस जीवन माँगके कारण वह कर्म करता है वह उपेक्षित हो उठती है, जिस सुखकी वह कल्पना करके कर्ममें अपनेको नियोजित करता है वह तो उसे मिलता नहीं, उलटे हाथ लगता है दुःख।✓

"नियति चलाती कर्म चक्र यह तृष्णा जनित ममत्व वासना,
पाणिपाद मय पंच-भूत की, यहाँ हो रही है उपासना।
यहाँ सतत संघर्ष, विफलता कोलाहल का यहाँ राज है,
अंधकार में दौड़ लग रही, मतवाला यह सब समाज है।"

"नियतिने प्रत्येकके पीछे कोई न कोई एषणा लगा दी है, सबमें 'तृष्णा जनित ममत्व वासना' उसने भर दी है। और वह सभीको इस वासनाकी तृप्तिके लिए 'कर्म' में नियोजित करती है। यहाँ वास्तवमें शरीरकी (पाणिपादमय पंचभूतकी) पूजा हो रही है, यहाँ भौतिक सन्तुष्टिका प्रयत्न होता है। इसीलिए यहाँ नित्य एक दूसरेसे संघर्ष होता है, विफलता और कोलाहल है। सब लोग एषणा अन्ध होकर चल रहे हैं।"

"यही लालसा यहाँ सुयश की अपराधों की स्वीकृति बनती
अंध प्रेरणा से परिचालित कर्ता में करते निज गिनती।"

"यहाँ सुयशकी वही लालसा रहती है जिसके कारण मनुष्य अपराध भी करता है। इसके प्राणी अन्ध शक्तिसे परिचालित होकर काम करते हैं, वास्तवमें ये स्वतन्त्र नेता, प्रबुद्ध, कर्म-कर्ता नहीं हैं ('काम' सर्गमें कामने मनुको इसीलिए स्वतन्त्र-कर्ता बननेकी प्रेरणा दी थी।); ये केवल अन्ध-शक्ति (एषणा)के अनुशासनमें चलते हैं। फिर भी ये अपनेको वास्तविक प्रबुद्ध कर्ता मानते हैं। यह भोग-साधन जुटानेवाली बुद्धि और उसके कोलाहलपूर्ण कर्मका लोक है।"

इसी प्रकार श्रद्धाने यह भी बताया कि यह कर्मलोक 'आकांक्षाकी तीव्र पिपासा'-से पूरित है; यहाँ 'ममताकी निर्मम गति' है। यहाँके प्राणी 'हिंसा गर्वोन्नत' हैं; 'यहाँ शासनादेश घोषणा विजयोंकी हुंकार सुनाती' "(आदि)।

ज्ञान-लोक

मनुने पूछा—यह उज्ज्वललोक क्या है, यह तो मानो 'पुञ्जीभूत रजत है'। उत्तरमें श्रद्धाके कथनके कुछ अंश नीचे उद्धृत कर दिये जाते हैं—

"प्रियतम ! यह तो ज्ञान-क्षेत्र है, सुख-दुःख से है उदासीनता।"

× × ×

"अस्ति-नास्ति का भेद, निरंकुश करते ये अणु तर्क युक्ति से
ये निस्संग, किन्तु कर लेते कुछ संबन्ध-विधान मुक्ति से।"

× × ×

"माँग रहे हैं जीवन का रस बैठ यहाँ पर अजर-अमर से।"

× × ×

"यहाँ अछूत रहा जीवन-रस छूओ मत संचित होने दो;
बस इतना ही भाग तुम्हारा, तृषा ! मृषा, वंचित होने दो।
सामंजस्य चले करने ये किंतु विषमता फैलाते हैं;
मूल स्वत्व कुछ और बताते इच्छाओं को झुठलाते हैं।"—(आदि)

इन उपर्युक्त पंक्तियोंसे स्पष्ट है कि 'ज्ञानलोक' कविके अनुसार केवल 'निवृत्ति'-का लोक है; अपूर्ण ज्ञानका लोक है। यहाँ 'अजर-अमर'से जीवन-रस माँगा जा रहा है। लोक-जीवनका रस इसके लिए गर्हित है। यहाँ भोग नहीं, केवल संयमको महत्त्व दिया जाता है। इसके प्राणी तृषा (जीवनकी प्रकृत माँग)को मिथ्या मानकर उससे बचते हैं। जगत् इनके लिए मिथ्या है। ये लोग वास्तवमें सामंजस्य करने चले किन्तु इनके द्वारा पर्याप्त विषमताकी सृष्टि हुई है। क्योंकि इनके अनुसार 'मूल स्वत्व' इस विश्वसे परे है; और इस प्रकार इन्होंने विश्व और विश्वकी कारण-सत्ता दोनोंमें द्वैत स्थापित कर दिया।

सर्गोंमें यही श्रद्धा द्वारा तीन लोकोंके स्वरूपकी विवेचना है। इच्छा-लोकके विषयमें मनुका कहना रहा कि 'यह लोक सुन्दर है'; 'कर्म लोक'को उन्होंने अत्यन्त 'भीषण' कहा। ज्ञान-लोकके विषयमें उन्हें कुछ कहनेका अवसर ही न मिला। क्योंकि श्रद्धा आगे बोलती ही रही और यह बताने लगी कि "ये तीनों लोक अलग-अलग अस्तित्व बनाकर चल रहे हैं; इसलिए जीवनमें आनन्द नहीं मिलता, मनकी इच्छा पूरी नहीं होती"—

"ज्ञान दूर कुछ, क्रिया भिन्न है इच्छा क्यों पूरी हो मन की,
एक दूसरे से न मिल सके यह विडम्बना है जीवन की।"

इसके बाद कई पंक्तियोंमें कविने यह बताया कि श्रद्धाकी स्मितिने 'महाज्योति रेखा-सी बनकर' उन लोकोंको एकमें अनुस्यूत कर दिया; फिर तो—

"स्वप्न, स्वाप, जागरण भस्म हो इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे
दिव्य अनाहत पर निनाद में श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।"

इच्छा, क्रिया और ज्ञानकी समन्वयात्मक भूमिकापर पहुँच जानेपर 'स्वप्न, सुषुप्ति और जागरण अर्थात् "चेतनाकी तीन दशाएँ भस्म हो गया और उसकी अन्तिम दशा, तुरीय दशा, उपस्थित हुई जहाँ दिव्य अनाहतपर निनाद (स्वर)में श्रद्धापूर्ण मनु तन्मय हो उठे।" समाधिकी यही चरम उपलब्धि है। साधना पथकी यह सर्वोच्च उपलब्धि मानी जाती है। यहाँ निर्विकार, समरसता, महोदधिकल्प निस्तरंगताकी ही अवस्थिति रहती है।

[इन तथा अन्य ऐसे ही संकेतोंके कारण लोग 'कामायनी'में प्रतिपादित 'आनन्द'को शैवागमका ही आनन्द मानकर उसे अन्तर्मुखी (या साधनागत आनन्द) कह उठते हैं (देखिए–'दर्शन विमर्श'), परन्तु बात यह है कि वास्तवमें 'कामायनी'का 'आनन्द' 'इच्छा, क्रिया, और ज्ञान'के जिस समन्वयपर उपलब्ध किया गया है, वह वही समन्वय नहीं है जिस अर्थमें शैवागममें वह माना जाता है। प्रसादजीने इच्छा, कर्म और ज्ञानका प्रयोग विशिष्ट अर्थोंमें किया है, उन्होंने शब्दावली तो शैवागमसे 'त्रिपुर'की अवश्य ली, परन्तु उसकी परिभाषा और व्याख्या उन्होंने निजी प्रस्तुत की। अतएव 'कामायनी'का 'आनन्द' जिस 'इच्छा, कर्म और ज्ञान'के समन्वयपर उपलब्ध हुआ है, यदि हम उसे ठीकसे समझ लें तो हम इस भ्रमसे बच जायेंगे कि 'कामायनी'का 'आनन्द' साधनागत, शैवागमका ही 'आनन्द' है। तभी हम यह समझेंगे कि वह आनन्द 'लोक-जीवन'की आत्मवादी रसानुभूतिके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। वह अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी दोनो एक साथ ही है।]

दोनों आनन्दकी भूमिकापर आसीन हो गये। यहीं सर्ग समाप्त हो जाता है। पर कथा यहाँ नहीं समाप्त हो सकती थी, क्योंकि 'दर्शन' सर्गमें कथा की जो धारा मानव इडाको लेकर अन्तर्प्रवाहित रही उसे प्रत्यक्ष करके दोनोंका संगम दिखाना 'फलागम' के लिए शेष है। अन्तिम सर्ग यही 'संगम'-समारोह लेकर प्रस्तुत होगा।

× × ×

अब हम इच्छा, कर्म और ज्ञानके सामजस्यपर विचार करनेकी स्थितिमें हैं। कविके शब्दोंमें हमने इन लोकोंकी विशेषताओंका बोध प्राप्त कर लिया। अब हम यह देखेंगे कि इच्छा, कर्म और ज्ञानके सामञ्जस्यका स्पष्ट अभिप्राय क्या है? ऊपरकी विवेचनाके हमने यह समझ लिया कि कविने इन तीन लोकोंमें 'इच्छा लोक'को 'जीवन की मध्यभूमि' कहा है, जिसका तात्पर्य यह है कि इसकी स्थिति दो अतियोंके बीच है। वे दो अतियाँ हैं—'कर्म-लोक' और 'ज्ञान लोक' की। 'कर्मलोक' ऊपरकी विवेचनाके अनुसार, स्पष्टतः अन्ध-प्रवृत्ति द्वारा सकाम कर्ममें नियोजित प्राणियोंका लोक है; उसमें 'पचभूत'की ही उपासना होती है। यह लोक भोगके लिए साधन जुटानेमें व्यस्त है, यहाँ एषणाकी तृप्तिके लिए लोग कर्म करनेमें व्याकुल हैं और परस्पर सघर्ष रत हैं। 'ज्ञान-लोक'को 'निवृत्ति'का लोक बताया ही जा चुका है। इच्छा-लोककी विवेचनाके अवसरपर मैंने यह सकेत दे दिया है कि यह लोक प्रकृतिकी माँगका लोक है।

जीवनकी इन प्रकृत माँगों और उसके सम्पूर्ण भावोंकी सन्तृप्ति ही जीवनकी समस्या है। किन्तु स्वत इनमें अपनी समस्याको हल करनेकी शक्ति नहीं होती। केवल प्रकृति चालित, भाव-चालित या भूख प्यासका जीवन, अपनी आकाक्षाओंको सतृप्त नहीं कर सकता है। पद पदपर उसे बौद्धिक नियमो, सामाजिक नियमोंमें बँधकर कराहना पड़ता है। दूसरी ओर केवल राग प्रेरित साधन-कर्म जीवनको कुरूप कर देता है, और केवल निरसिका जीवन उसे शुष्क एव जीवन-रससे ही वचित कर देता है। प्रवृत्ति और निवृत्तिके, राग विरागके दोनों किनारोंका निरन्तर स्पर्श करती हुई जब प्रकृत माँग (या भाव)की धारा बहती है तभी जीवनका वास्तविक आनन्द मिलता है। ऊपर मैंने यह बताया है कि इच्छा लोकका जो वर्णन कविने श्रद्धा द्वारा कराया है, वह वही जीवन है जो प्रलयके पूर्व सृष्टिके प्रथम उन्मेष युगमें देवोंका था जिसकी ओर 'काम'ने मनुका ध्यान खींचा था। वह कामना प्रारम्भिक, मौलिक और अनिवार्य रूप है। परन्तु वह 'काम'का प्रगतिशील श्रेय रूप नहीं है।

देव संस्कृतिमें इस प्रारम्भिक काम रूप (इन्द्रिय भोगके जीवन)का सम्पर्क उस 'कर्म'से कराया गया जो निरन्तर एषणा, तृष्णाकी बढती ज्वालासे दग्ध था। सभी यज्ञानुष्ठान इसी सकाम 'कर्म', सुख साधन जुटानेके प्रयत्नके लिए होते रहे। फल यह हुआ कि 'काम' मागलिक न हो सका, वह भोगवादी ही बन उठा। उसीकी प्रेरणा देव-जीवनका सचालन करने लगी। प्रलयके बाद उसने स्वय मनुको भोग और सयमके सामन्वय द्वारा अपनी प्रगतिका मार्ग प्रशस्त करनेकी प्रेरणा दी थी। यही बात यहाँ भी कही गयी है।

> "ज्ञान दूर कुछ क्रिया भिन्न है इच्छा क्यों पूरी हो मन की।
> एक दूसरे से न मिल सके, यह विडम्बना है जीवन की।"

तात्पर्य यह है कि जबतक मनकी इच्छा (इन्द्रिय भोगवाले काम)का सम्पर्क ज्ञान (विराग) और 'कर्म' (रागाश्रित कर्म) दोनोसे नहीं होता, तबतक उसे पूर्णता नहीं मिल सकती।

अन्तमें अपनी बातको समेटकर मैं यह कहना चाहता हूँ कि इच्छा, कर्म और ज्ञानके समन्वयका स्पष्ट आशय 'राग विराग समन्वित (सक्रिय) काम'से है। प्रेय श्रेय समन्वित (रचनात्मक) कामसे है। यही गीतामें प्रदर्शित विदेह-मार्ग है। कविने कुल्द मनोहर (रचनात्मक) 'कर्म'की नहीं, वरन् केवल एषणामूलक, अन्ध शक्ति द्वारा सचालित, या भोगवादी कर्मकी की है। उसका यह निम्नांकित पद उद्धृत किया जा चुका है कि—"अन्ध प्रेरणासे परिचालित कर्ता भ करते निज गिनती"। तात्पर्य यही है कि इस लोकके प्राणी प्रबुद्ध कर्ता नहीं हैं। ऐसा कर्म लोक मनु स्वय सारस्वत नगरमें बसा आये थे और उसका कुफल भोग आये थे। इसीलिए उन्होंने उसे भीषण कहा।

ऐसे कर्मकी सदासे निन्दा हुई है, और सदा होगी। इस आशयको ठीकसे न ग्रहण करनेके कारण श्री 'दिनकर'जीने 'पत, प्रसाद और गुप्त' नामक पुस्तिकामें प्रसादजीपर यह आक्षेप लगाया है कि उन्होंने 'कर्म'की निन्दा की है और वैराग्यको श्रेष्ठ एव काम्य ठहराया है। वहींपर इस समीक्षकने विदेह मार्ग और तिलकके कर्म-योग सिद्धान्तकी प्रशसा की है, जो ठीक ही है। परन्तु जैसा कि मैंने ऊपर बताया है इच्छा, कर्म और ज्ञानके सामजस्यसे प्रसादजीका तात्पर्य विदेहोंके कर्म सिद्धान्तसे ही है, वह अनासक्त कर्मकी ही स्थापना है।

अब यह देख लें कि श्रद्धाकी 'मुस्क्यान'से इन तीनोंका सामजस्य कैसे हो गया। एक तो यह काव्यका चमत्कार विधान है जो रसकी निष्पत्तिके लिए आवश्यक था और दूसरे श्रद्धाको ऋग्वेदमें ऋषिका कहा गया है। इस स्थलपर पहुँचकर उसका ऋषिकात्व पूर्णताको प्राप्त हो गया था, अतएव उसे आत्मका, विश्व नर्तकका, प्रत्यग दर्शन सुगम रहा। इच्छा, कर्म और ज्ञानके सामजस्य (अर्थात् राग विराग समन्वित मूल काम)की विदह भूमिकापर वह पहुँच चुकी थी। एक ऋषिकाके द्वारा आत्मानुभूति या परमसत्ताकी अनुभूति प्राप्त करनेके लिए उपयुक्त पात्रताको प्राप्त हुए मनुने उसके 'साधन'को जानकर उस अनुभूतिको आयत्त कर लिया, यह भी स्पष्ट है।

× × ×

श्री नगेन्द्रजी लिखते हैं कि "त्रिलोकमें प्राचीन त्रिपुरदाहके रूपकसे प्रेरणा ग्रहण की गई है और इसका प्रतीकार्थ अत्यन्त व्यक्त है। तीन लोक—भाव लोक, कर्म लोक तथा ज्ञान-लोक चेतनाकी तीन अगीभूत प्रवृत्तियों—भाव-वृत्ति, कर्म-वृत्ति और ज्ञान वृत्तिके प्रतीक हैं। मानव चेतनाके इतिहासमें जब जब इन तीनोंमें असाम जस्य हुआ है, जीवन विकास अवरुद्ध हो गया है—ससारमें अराजकता और अशान्ति फैल गई है। आजके भौतिक जीवनका सबसे बडा अभिशाप यह है कि हमारे धर्म और सस्कृतिकी दिशा एक है, राजनीतिकी दूसरी और विज्ञानकी तीसरी—क्रमशः भाव, क्रिया और ज्ञानके ये प्रतिरूप एक दूसरेसे असम्बद्ध हैं। इसका परिणाम है वर्तमान अशान्ति।"

स्पष्ट हो जाना चाहिये कि श्री नगेन्द्रजीने इच्छा, कर्म और ज्ञानको क्रमशः धर्म-सस्कृति, राजनीति और विज्ञानके अर्थोंमें लेकर अपनी विवेचना प्रस्तुत की है।

परन्तु हमने देखा कि प्रसादजीने इन तीनों शब्दोंका अर्थ इस रूपमें लिया ही नहीं है। कवि इच्छा' लोककी विशेषतामें कहता है कि—'यहाँ मनोमय विश्व कर रहा रागारुण चेतन उपासना'; कवि उसे 'माया राज्य' कहता है; और समीक्षक उसे 'धर्म-संस्कृति'-का लोक मान रहा है। इसी प्रकार 'ज्ञान-लोक'के विषयमें कवि कहता है कि इस लोकके प्राणी "माँग रहे हैं जीवनका रस बैठ यहाँपर अजर-अमरसे"; और समीक्षक कहता है कि 'ज्ञान' का अर्थ है विज्ञान'। इसका कारण यह है कि समीक्षकने यह जाननेका प्रयत्न नहीं किया कि कवि क्या कह रहा है; उसने केवल अन्तिम सूत्र पकड़ा कि इच्छा, कर्म और ज्ञानके समन्वयसे आनन्द मिलता है; बस वह इस सूत्रकी निजी व्याख्यामें प्रवृत्त हो उठा।

इसी स्थलपर श्री नगेन्द्रजीने यह भी लिखा है कि—"आचार्य शुक्लने दो तात्त्विक असंगतियोंकी ओर संकेत किया है। एक तो यह कि जब इड़ाकी प्रेरणासे ही मनु कर्म-विस्तार करते हैं अर्थात् जब बुद्धि ही कर्म व्यापारका कारण है, तो ज्ञान-लोक-से पृथक् कर्म-लोकका अस्तित्व किस प्रकार हो सकता है। दूसरे रति और कामकी दुहिता तथा मानव-करुणा, सहानुभूति आदिकी समानार्थी होनेके कारण श्रद्धाकी स्थिति शुद्ध भावकी स्थिति है, उसका अस्तित्व एकान्त भावात्मक है। ऐसी परिस्थितिमें उसकी स्थिति भाव-लोकसे ही नहीं, वरन् भाव, कर्म, ज्ञान तीनोंसे परे कैसे हो सकती है!" श्री नगेन्द्रजीने पहली आपत्तिको तो यह कहकर काट दिया कि दर्शन तथा मनोविज्ञानमें इच्छा, ज्ञान और क्रियाका भेद तो सर्वथा स्वीकृत है ही। आचार्य शुक्लजीकी दूसरी आपत्ति उन्हें अधिक गम्भीर लगी; परन्तु उन्होंने यह बताकर उसका समाधान कर दिया कि 'वह (अर्थात् श्रद्धा) वास्तवमें जीवनकी प्रेरणाकी प्रतीक है', जब कि 'भाव-लोक कोरी भावुकताका प्रतीक है।'

कदाचित् यह कहनेकी आवश्यकता अब नहीं रह गयी यह सारी समीक्षा हवामें हो रही है, कामायनी ग्रन्थसे आँख हटा करके। कविको सुननेको कोई तैयार नहीं है; न आचार्य शुक्लजी और न श्री नगेन्द्रजी। अभी कुछ पंक्तियोंके पूर्व यह दिखाया गया है कि श्री नगेन्द्रजी मानते हैं कि 'इच्छा' लोक या भाव लोकका अभिप्राय है धर्म-संस्कृतिका लोक; और अब वे ही उपर्युक्त पंक्तिमें कहते हैं कि "भाव-लोक कोरी भावुकताका प्रतीक है"। अब क्या कहा जाय ! प्रसादका मन्तव्य मैंने पूर्व विवेचनामें स्पष्ट करनेका प्रयास किया है; और यहाँ हिन्दीके दो समीक्षा स्तम्भ 'प्रतीक' भूमिपर ही खड़े रहकर भिन्न भिन्न मत प्रस्तुत कर रहे हैं। पाठक स्वयं निर्णय करें। 'आमुख' में निवेदित कविके प्रस्तावका अनादर करनेसे, और कामायनीकी कथाको प्रतीकार्थमें ही ग्रहण करनेके कारण यह सम्भव रहा, अन्यथा इन समीक्षकोंकी मनीषाको भटक कैसी !

निक् दर्शनमें चेतन शक्तिके पाँच पर्यायों[२] का उल्लेख है; वे हैं चित्, आनन्द

१. Science. २. Modes.

इच्छा, ज्ञान और क्रिया। यहाँ इच्छासे अभिप्राय शिवकी उस परमेच्छा शक्तिसे है, जिसके कारण वे विश्व रूपमें अपनी अभिव्यक्ति करते हैं, ज्ञान उनकी वह बोध शक्ति है जिसके द्वारा वे सम्पूर्ण व्यक्त या व्यक्त किये जाने योग्य पदार्थोंके आपसी समवाय सम्बन्धों तथा उनके साथ अपने समवाय सम्बन्धको जानते हैं, और रूप ग्रहण करनेकी शक्ति क्रिया शक्ति है। तन्त्रसारमें इन्हीं तीनोंको मुख्य माना गया है। इनके समन्वयमें ही 'आनन्द' है। कामायनीकारने अपने ढंगसे इस सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है।

ऊपरकी विवेचनासे स्पष्ट हो जाता है कि कविने जिसे 'ज्ञान' लोक कहा है, वह वस्तुतः इस ज्ञानसे रहित है, वह केवल निवृत्तिमूलक, खण्ड ज्ञानका लोक है। उस 'ज्ञान लोक'के निवासी इस लोकसे (और शरीरसे) परे अपना लक्ष्य मानकर साधना करते हैं, वे वास्तवमें समस्त व्यक्त पदार्थोंके आपसी समवाय सम्बन्धों तथा उनके साथ आत्माके समवाय सम्बन्धको नहीं आयत्त कर पाते, अर्थात् उन्हें अद्वैतकी अनुभूति नहीं होती जो कि वास्तवमें (आत्मवादी) ज्ञानका अर्थ है। दूसरी ओर वह सकाम कर्म-लोक है जहाँ इस विशुद्ध अद्वैत ज्ञानके अभावमें अपनी इच्छाको मूर्त रूप देनेकी वास्तविक क्रिया (या क्रियात्मक बुद्धि) लोगोंको नहीं मिलती, उन्हें मिथ्या बुद्धि प्राप्त होती है। और, वे उसके द्वारा मिथ्या क्रिया (संघर्षोत्पादक क्रिया) करते हैं। अतः उनका कर्म लोक निरन्तर कोलाहलपूर्ण होता है। विशुद्ध ज्ञान और क्रियाके अभावमें इच्छाका, अपनी उपयुक्त निकासी न पाकर, भटकते रहना स्वाभाविक है। इसीलिए सुन्दर होकर भी यह 'इच्छा-लोक' मायामें भ्रमित है। आत्मवादी अनुभूतिसे संयुक्त होनेपर इन तीनोंकी त्रुटियाँ दूर हो जाती हैं, और आनन्द प्राप्त होता है। मिथ्या ज्ञानके विराग और मिथ्या कर्म-बुद्धिके रागको आत्मवादी अनुभूतिकी ज्वाला मिलते ही, शुद्ध ज्ञान और शुद्ध कर्म-बुद्धिका उदय होता है, तथा राग विरागकी भूमिपर इच्छाकी आनन्दात्मक तृप्ति होती है। यही प्रसादजीने स्पष्ट करना चाहा है।

(इच्छा, कर्म और ज्ञानके समन्वयका अभिप्राय हम एक अन्य प्रकारसे भी समझ सकते हैं। इसी सर्गमें कविने इच्छा लोकको अरुण, कर्म-लोकको श्यामल और ज्ञान-लोकको उज्ज्वल कहा है। श्वेताश्वतर उपनिषद्‌में अनादि प्रकृतिको 'लोहित-शुक्लकृष्णाम्' अर्थात् लाल, श्वेत और श्यामल रंगवाली कहा गया है। ये तीन रंग क्रमशः रज, सत्व और तम गुणके हैं। अस्तु, इच्छा लोक रजोगुण प्रधान, ज्ञान-लोक सत्वगुण प्रधान और कर्म-लोक तमगुण प्रधान ठहरा।) कविने तीनों लोकोंका जो वर्णन किया है उसे ध्यानसे पढ़नेपर प्रत्येक निष्पक्ष जिज्ञासु इस बातको स्वीकार करेगा।

(ये तीनों गुण प्रकृतिके धर्म नहीं, वरन् स्वयं प्रकृति हैं, और परस्पर अविच्छिन्न हैं। जिस प्रकार बत्ती, तेल और अग्निके सहयोगसे प्रकाश उत्पन्न होता है, उसी प्रकार इन तीनोंके सहयोग (सामरस्य)से आत्म ज्वालाकी अभिव्यक्ति होती है। यही गुणातीतकी अवस्था है। चूँकि इन परस्पर अविच्छिन्न गुणोंसे सृष्टि उत्पन्न है अतः इन सबका या इनमेंसे किसी एकका त्याग करना असम्भव है, परन्तु इन तीनोंको

एक रूपमें स्थापित कर देना परम पुरुषार्थ है। वैदिक आत्मवाद (या सर्वान्तरवाद) ही वह रूप है।

तात्पर्य यह हुआ कि सर्वान्तरवादकी अनुभूति-भूमिपर जीवनका समग्र रूपसे भोग करना इच्छा, कर्म और ज्ञानका समन्वय करना है। दूसरे शब्दोंमें इसे ही अनासक्त कर्मयोग, विदेहमार्ग, या प्रेय-श्रेय-समन्वित काम-मार्ग कहा जाता है।

'आनन्द' सर्ग

'रहस्य' सर्गमें उस परम अनुभूतिको पानेकी ध्यान-योग साधना प्रस्तुत की गई है, जिसका निरूपण श्रद्धाने 'दर्शन' सर्गके अन्तमें मनुसे किया और जिसे सुनकर, मनन कर मनुने नटराजके विश्व-नृत्यका मानस बिम्ब प्राप्त कर लिया। पिछले सर्गोंकी चर्चामें मैंने यह भी स्पष्ट कर दिया कि ध्यान-योगकी साधना सभी वैदिक और अवैदिक दर्शनों मतोंमें अनिवार्य मानी गई है। इसे केवल हठ-योग नहीं मानना चाहिये। हठ योग तो उस सामान्य ध्यान-योग-साधनाकी एक वृत्ति है। इसलिए यह नहीं समझना चाहिये कि मनुने हठयोग किया। जिस ऐतिहासिक परिवेशमें यह घटना अंकित है, उसमें हठयोगका आविर्भाव था ही नहीं। 'प्रसाद'जी की ही शब्दावलीका प्रयोग करके यदि हम कहें तो वस्तुतः मनु, श्रद्धाके मार्ग-दर्शनमें, इस साधना द्वारा, 'आत्माकी उस मननशील असाधारण अवस्था'को उपलब्ध करनेमें सफल हुए जो 'श्रेय सत्यको उसके मूल चारुत्वमें सहसा प्रकट लेती है।'

परन्तु तरुण आर्य जातिके आमोद-प्रमोद-उल्लासपूर्ण जिस आनन्दवादी जीवन की स्थापना कामायनीमें, विरल इतिहास-तथ्योंके आधारपर, की गई है, उसके लिए इतना ही आवश्यक नहीं है। केवल आत्माकी उस असाधारण अवस्थाकी अनुभूतिको प्राप्त करना आवश्यक नहीं है; यह तो प्रथम अनिवार्यता है। इसके उपरान्त उल्लास-पूर्ण कर्मका क्षेत्र आरम्भ होता है। आनन्दवादी निष्ठाका रूप ग्रहणके लिए प्रयत्न करना अभी शेष है।

'आनन्द' सर्ग इसी प्रयत्नका काव्यात्मक संकेत (एवं बिम्ब) लेकर आगे आता है। यह अन्तिम सर्ग 'फलागम' लेकर प्रस्तुत है। कहा जा चुका है कि वैदिक युगके तरुण आर्य-संघकी, आनन्द, उल्लास और प्रमोदसे परिपूर्ण, आत्मवादी संस्कृति (जो 'काम' की व्यापक भावनासे निर्मित थी) के स्वरूपकी स्थापना ही 'कामायनी' काव्यका 'कार्य' है। वह स्थापना इस सर्गमें पूर्ण होती है। सर्गके आरम्भ ही में सारस्वत समाजका नेतृत्व करते हुए तरुण 'मानव'की आनन्द-यात्राका समारोह अंकित किया है। इच्छा, कर्म और ज्ञान (अर्थात् राग विराग समन्वित काम)के समन्वय द्वारा श्रद्धाने मनुको जिस आनन्द-भूमिपर अवस्थित किया, वहींतक उसी मार्गका कर्म भूमिमें अनुसरण करता हुआ 'मानव' अपने सम्पूर्ण समाजको लेकर

पहुँचनेमें समर्थ रहा। मानव द्वारा निर्मित समाज-जीवन और उसे अनुप्राणित करने वाली संस्कृतिकी झाँकी इन पंक्तियोंमें लीजिए—

"उल्लास रहा युवकों का, शिशुगण का मृदु कल कल
महिला मंगल गानों से मुखरित था वह यात्री-दल।"

'दर्शन' सर्गमें इडाने अपने प्रदेशकी भीषण स्थितिका वर्णन किया है, और स्पष्ट रूपसे यह स्वीकार किया है कि 'मेरा साहस छूट गया है', क्योंकि सभी लोग लालसा का मत्त-घूँट पीकर मर्यादा तोड चले हैं। ऐसे विकृत समाजको मानवने उल्लास-प्रमोदके मंगलसे परिपूर्ण बना दिया, यह उसकी कर्म निष्ठाका प्रतीक है, श्रद्धाके संस्कारोंका परिणाम रहा। धर्मके प्रतिनिधि 'वृषभ'को पूर्ण उन्मुक्त, संकीर्णतासे मुक्त, कर दिया गया; और मनुष्योंका जीवन घट, जो इसके पूर्व रिक्त हो उठा था, अब आनन्दके अमृतसे भर गया—

"सारस्वत नगर निवासी हम आये यात्रा करने
यह व्यर्थ रिक्त जीवन-घट पीयूष सलिल से भरने।
इस वृषभ धर्म प्रतिनिधि को उत्सर्ग करेंगे जाकर
चिर-मुक्त रहे यह निर्भय स्वच्छंद सदा सुख पाकर।"

सारस्वत समाज देव-युग्म (मनु श्रद्धा)के पास पहुँच गया। वे दोनो ऐसे प्रतीत होते थे मानो पुरातन पुरुष (ब्रह्म) अपनी प्रकृति (शक्ति)के साथ चिर सम्बन्धमें दिखायी दे रहा हो, मानो वह आनन्द-समुद्र (ब्रह्म) अपनी शक्तिके साथ तरंगायित था—

"चिर-मिलित प्रकृति से पुलकित, वह चेतन पुरुष पुरातन
निज शक्ति तरंगायित था वह आनंद-अंबु निधि शोभन।"

'मानव' श्रद्धाकी गोदमें बैठ गया। इडाने पुलकित होकर कहा—

"भगवति, समझी मैं! सचमुच कुछ भी न समझ थी मुझको
सबको ही भुला रही थी अभ्यास यही था मुझको।
हम एक कुटुम्ब बनाकर यात्रा करने हैं आये
सुन कर यह दिव्य तपोवन जिसमें सब अघ छुट जाये।"

मैं कह आया हूँ कि 'काम' नर-नारीके यौन आकर्षणमें आरम्भ होकर अपनी पूर्णताके लिए 'परिणय'-(गार्हस्थ्य)की भूमिकापर कर्म रत होता है। यही कौटुम्बिक जीवन कामकी पूर्णताकी प्रथम कर्म भूमि और प्रगति-क्षेत्र है। श्रद्धाने इसी योजनाकी ओर मनुको खींचना चाहा था; और 'इडा' सर्गमें कामने मनुको इस भूमिकासे बढ़ जानेके अपराधके लिए शाप दिया था। परिवार, सम्प्रदाय, राष्ट्र और विश्व-कुटुम्बकी भावनाओंमें 'काम' अपनी पूर्णता उपलब्ध करता है। उपर्युक्त तीसरी पंक्तिमें इडाने अपने सारे समाजको एक कुटुम्ब कहा है। सबको अपना कुटुम्बी मानना आत्म-विकासकी पराकाष्ठा है। मानव और इडाने अपने समाजके लोगोंको इसी एक

कुटुम्बकी भावनासे भर दिया था, सारा भेदका विष दूर हो गया। यह आत्मवादी-आनन्दवादी सरस्वतिका रूप है। मनुने इडासे इसी विश्व कुटुम्बकी भावनाको श्रेयस्कर और सत्य बताया —

"बोले 'देखो कि यहाँ पर कोई भी नहीं पराया
हम अन्य न और कुटुम्बी हम केवल एक हमीं है
तुम सब मेरे अवयव हो जिसमें कुछ नहीं कमी है' ।"

अद्वैतकी अनुभूतिका यहाँ पर निदर्शन है। अद्वैतकी इस उदात्त अनुभूतिके अभावमें एक कुटुम्बकी भावना अपूर्ण रह जाती है। जिस प्रकार शरीरके विभिन्न अवयवोंकी सघटना ही पूर्ण इकाई बनती है उसी प्रकार सभी प्राणियोंके समुदायको इकाई और पूर्ण मानना अद्वैतकी उच्च भूमिका है। सम्पूर्ण मानव-समुदायको अपना शरीर और प्रत्येकको अपना अवयव कहकर मनुने अपनी विराट् समष्टिताका भी परिचय दे दिया। शरीर और अवयवकी पूर्णता एव एकत्राम क्रियाशीलताका अन्तर्भाव होता ही है। व्यष्टि मनु समष्टि-मनु हो उठा, और उसकी क्रियाशीलता भी उसी मात्रामें सीमितसे असीमित हो उठी। वास्तवमें यह दशा सर्वाधिक क्रियाकी दशा होती है।

[इसके साथ ही मनु जो कुछ कहते हैं वह सब 'आनन्दवाद'की विवेचनामें हम आगे देखेंगे। अतएव उसकी चर्चा यहाँ पर स्थगित रखी जा रही है।]

कथा यहाँ पहुँच कर समाप्त हो जाती है, जहाँ जड-चेतन सब एकाकार हो उठे —

"समरस थे जड या चेतन सुन्दर साकार बना था
चेतनता एक विलसती आनद अखण्ड घना था।"

× × ×

यथासभव सक्षिप्तताके साथ हमने 'कामायनी'की कथा-वस्तुका अध्ययन कर लिया। अब विषयकी स्पष्टताके लिए अपने इस अध्ययनकी सारी उपलब्धियोंको समेट कर सक्षेपमें काव्यके प्रयोजन या लक्ष्यकी चर्चा कर देना आवश्यक लग रहा है। आगेकी पक्तियोंमें इसी आवश्यकताकी पूर्तिका प्रयत्न किया जायगा।

'कामायनी'की उपलब्धि

'आमुख'में प्रसादजीने लिखा है कि "जल प्लावन भारतीय इतिहासमें एक ऐसी ही प्राचीन घटना है जिसने मनुको देवोसे विलक्षण, मानवोंकी एक भिन्न सस्कृति प्रतिष्ठित करनेका अवसर दिया। वह इतिहास ही है।" इसी 'मानवोंकी एक भिन्न सस्कृति'की स्थापना ही 'कामायनी'का लक्ष्य है। कविने यह दिखानेका प्रयत्न किया है कि देव-सस्कृतिमें क्या त्रुटि थी, जल प्लावनके बाद भिन्न 'मानव-सस्कृति'की स्थापना किस प्रकार हुई, तथा उसका स्वरूप क्या रहा? मैंने 'आमुख विमर्श'के अवसरपर इस तथ्यकी विस्तृत चर्चा की है।

उस स्थल पर मैंने यह संकेत किया है कि प्रसादजीने गुप्त-काल, पुराण काल, मौर्य-काल तथा बौद्ध-कालके भारतीय समाजके जीवनकी समीक्षा करते हुए भारतीय राष्ट्रीय संस्कृतिके स्वरूपको दिखानेका प्रयत्न अपने नाटकोंमें किया है। 'कामायनी'में उन्होंने इन युगोंके पीछे जाकर, वैदिक युगमें प्रवेश करके, उसके जीवन और दर्शनकी समीक्षा करते हुए, आर्य-संघके उस जीवन दर्शनको प्रस्तुत करनेका प्रयत्न किया है जो उल्लास, आनंद और प्रमोदसे पूरित था, और प्रसादजीके अनुसार जो आर्योंकी मूल विचार धारा थी। इन तथा उस प्रसंगमें कही गयीं अन्य सभी बातोंका समर्थन हमारे 'वस्तु अध्ययन' द्वारा हो जाता है। शीर्षक विमर्शके अवसर पर मैंने कहा था कि 'काम-चेतना' (व्यक्तिगत काम चेतना)को विश्व चेतनासे अभिन्न करके उसकी पूर्णताका निदर्शन करना तथा उसीके द्वारा आनंदकी प्राप्तिका समर्थन करना 'कामायनी'का लक्ष्य है। तरुण आर्य-संघकी आनंदवादी (आत्मवादी) संस्कृति इसी व्यापक काम भावना पर निर्मित थी। मेरा यह मत भी काव्य-वस्तुके अध्ययन द्वारा सही प्रमाणित हो जाता है।

तो निष्कर्ष यही रहा कि व्यापक काम भावना (प्रेय श्रेय समन्वित कामकी भावना)पर निर्मित वैदिक आर्योंकी आत्मवादी संस्कृति, विदेहोंकी संस्कृति, की मूल स्थापना जल प्लावनके उपरान्त मनु, श्रद्धा, इडा और मानव द्वारा करायी गयी है। वैदिक युगमें कई प्रकारकी विचार धाराएँ प्रचलित थीं जिनकी चर्चा प्रसादजीने 'रहस्यवाद' नामक अपने निबंधमें की है। प्रकृतिवाद, भौतिकतावाद, एकेश्वरवाद वरुणका, इन्द्रका आत्मवाद तथा ब्रात्योंकी भिन्न विचार धाराएँ, अपनी-अपनी स्थापनाका प्रयत्न करते हुए दिखाई देते हैं। प्रसादजीका निष्कर्ष यह रहा कि सब मतोंका प्रत्याख्यान करके, इन्द्रके 'आत्मवाद'को आर्यावर्तके प्रबुद्ध तरुण आर्य संघने स्वीकार किया गया। यही प्रसादजीके अनुसार आर्योंकी मूल विचार धारा थी। इसकी स्थापना किस प्रकार हुई, यही 'कामायनी'का वर्ण्य है।

प्रलयके पूर्व इन्द्रने असुरोंको हराकर 'सारस्वत' प्रदेशमें 'आत्मवाद'का प्रचार किया। परन्तु कामकी संकीर्ण भावनाके कारण देव जाति उस आत्मवादको न तो ठीकसे अनुभूत कर सकी, और इसलिए न उसकी स्थापना ही कर सकी। उल्टे उसने 'भोगवाद'में उसे कुरूप और अशिव बना दिया। विश्व शक्तिने, जो शिवसे अभिन्न है, उस भोगवादी सृष्टिका नाश कर दिया। और, पुन उस 'आत्मवादी' संस्कृतिके स्वस्थ प्रतिष्ठापनकी भूमिका निर्मित हुई। इस भूमिकापर मनु खड़े किये गये। परन्तु देव होनेके कारण, और सारस्वत प्रदेशकी विकृतियोंके कारण, वे सही रास्ता भूल चुके थे। इसलिए उनमें अधिक रूपसे देव जीवनकी संपूर्ण विकृतियाँ उभरती रहीं। विकृतियोंके ये उभार उनमें आशा सर्गसे आरंभ हो जाते हैं। उनमें पुन देव-संस्कृति सजग हो उठी थी।

श्रद्धा सर्गमें श्रद्धा, और 'काम' सर्गमें काम, आत्मवादके विशुद्ध स्वरूपकी विवेचना प्रस्तुत करते हुए दिखायी देते हैं। जैसा कि मैं आगे बताऊँगा (और पीछे

भी कहा जा चुका है) कि आनदवाद भोगका त्याग नहीं करता है; वह भोगकी मांगलिक मात्राको स्वीकार करता है। अतएव आत्मवादिनी श्रद्धा, भोगवादी मनुके साथ रहनेको तैयार हो जाती है। यहाँ, 'कार्य'का बीज पड़ता है। मनुको लेकर श्रद्धा आत्मवादी संस्कृतिकी स्थापनामें अग्रसर हुई। 'वासना' सर्गसे लेकर 'कर्म' सर्ग तक मनु और श्रद्धा दोनों एक ओर तो नर-नारीके यौन आकर्षण और रति-तृप्तिके बंधनमें बँधते हैं, और दूसरी ओर दोनोंमें भिन्न भिन्न सांस्कृतिक आकांक्षाएँ जगती हैं; प्रत्येक अपनी अभीष्ट संस्कृतिसे प्रेरित रहता है। मनुकी ओरसे देव संस्कृतिकी स्थापनाका प्रयत्न अचेतन मनके द्वारा होता है; उसके लिए वे सजग, चिन्तनशील, प्रयत्न नहीं करते। कहीं कहीं तो वे यह भी तय नहीं कर पाते कि उनके जीवनका लक्ष्य क्या है। परन्तु श्रद्धाका सांस्कृतिक प्रयत्न सुनिर्दिष्ट है, और प्रबुद्ध चेतनाका प्रयत्न है। वास्तवमें 'मनु' मात्र वह माध्यम है जिसके द्वारा देव-संस्कृति और देव सभ्यता अपनी अभिव्यक्तिके लिए सचेष्ट है।

मनुके अचेतनसे उभरनेवाली देव संस्कृति और श्रद्धाकी प्रबुद्धतासे स्थापित की जानेवाली संस्कृति दोनोंकी पहली टक्कर 'ईर्ष्या' सर्गमें होती है। और मनु, श्रद्धा दोनों अलग अलग हो जाते हैं। दोनोंके प्रयत्न-मार्ग भिन्न भिन्न होते हैं। मनु पुरानी देव संस्कृतिके केन्द्र नगर 'सारस्वत' प्रदेशमें इडाकी सहायतासे कार्य-रत होते हैं; दूसरी ओर श्रद्धा अपने पुत्र मानवको 'आत्मवादी' संस्कारोंमें दीक्षित करने लगी। 'स्वप्न' और 'संघर्ष' सर्गोंमें इन दो कर्म धाराओं, सांस्कृतिक प्रयत्नों, की झाँकी प्रस्तुत करके देव मनुको असफल दिखाया गया है, और इस प्रकार उनके माध्यमसे पुरानी भोगवादी संस्कृतिके प्रस्थापित होनेकी सम्भावना समाप्त हो जाती है। दो विरोधी संस्कृतियोंमें एक असफल हो गयी; अतः दूसरीके सफल होनेकी आशा उत्पन्न हो उठती है। यहाँ 'कार्य' की 'प्राप्त्याशा' अवस्थाके उदय होनेका उपयुक्त अवसर प्रस्तुत है।

'निर्वेद' सर्गमें मानव और श्रद्धाके मनु इडाके पास पहुँचनेपर इस 'प्राप्त्याशा'-का उदय पूरा हो जाता है। श्रद्धाका इडाके पास 'मानव'को इसलिए नियोजित करना कि उसके द्वारा सारस्वत प्रदेशकी भोगवादी सांस्कृतिक विकृतियोंका परिहार होकर लोगोंको सुख शान्ति मिले, स्वयं मनुकी खोजमें चल पड़ना, और मनुको ढूँढ लेना एवं उन्हें 'आत्मवाद'की अनुभूति करा देना 'कार्य'की 'प्राप्त्याशा' अवस्थाको 'नियताप्ति'में परिवर्तित होनेका अवसर देता है। 'दर्शन' और 'रहस्य' सर्गोंमें इस 'नियताप्ति' दशाका निरन्तर विकास होता है। और अन्तमें एक ओर मनु श्रद्धाको तथा दूसरी ओर मानव इडा एवं सारस्वत-समाजको अद्वैतकी आनन्दमयी चेतनाकी ऊँची भूमिका पर प्रस्तुत करके कथाका 'फलागम' उपस्थित होता है। और, प्रसादजीके उपर्युक्त शब्दोंमें हम यह उपलब्ध कर लेते हैं कि वास्तवमें "जल-प्लावन भारतीय इतिहासमें एक ऐसी ही प्राचीन घटना है जिसने मनुको देवोंसे विलक्षण, मानवोंकी एक भिन्न संस्कृति प्रतिष्ठित करनेका अवसर दिया।"

यह 'मानवोंकी एक भिन्न संस्कृति' जल-प्लावन पूर्व इन्द्र द्वारा स्थापित 'आत्म

वाद'की संस्कृति थी, और इन्द्रके ही सारस्वत प्रदेशमें वह स्थापित भी हुई। इस 'आत्म वाद'को ही प्रसादजीके अनुसार, वैदिक तरुण आर्योंने स्वीकार किया, क्योंकि 'वे स्वत्वके उपासक थे'। प्रसादजीका यह मत भी मैं उद्धृत कर आया हूँ कि पुराणोंमें इन्द्रकी जो कथा है, उर्वशी आदि अप्सराओंका जो प्रसग है वह उनके 'आनन्द'का अनुकूल ही है। तात्पर्य यह है कि इन्द्रके आत्मवादी आनन्दमें 'स्वत्वकी उपासना', उल्लास, प्रमोदका, अनिवार्य समावेश है। वह, जैसा कि भ्रमसे लोग मान लेते हैं, केवल अन्तर्मुख साधनागत आनन्द नहीं है। वह 'काम'की व्यापक भावना द्वारा उपलब्ध किया जाता है। वह वैदिक प्रेम भावनाका समष्टि प्रसरित सौरभ है। वह 'सुमन'के 'सुन्दर खेल'का उल्लास है। क्रिया, स्वतन्त्र क्रिया, या रचनात्मक कर्म उसका स्वभाव है। वह चेतनाकी परम स्थिति है।

'काम' सर्गमे कहा जा चुका है कि आनन्दवादके अनुसार, व्यक्तिको मनोहर कृतियोंका स्वतन्त्र चेता कर्ता होना चाहिये। मनु, श्रद्धा, मानव, इडा आदि सभी उस आनन्दभूमिपर अवस्थित हो गये जहाँ विशुद्ध, स्वतन्त्र, चेतनाकी ज्वाला जीवनके सम्पूर्ण कलुष-कोलाहलको भस्म करके नव प्राणमय उल्लासपूर्ण, सक्रिय, सचार करती है। अतएव इस स्थितिको कर्मसे पलायन नहीं, वरन् कर्म प्रवृत्तिका वह काष्ठागत रूप समझना चाहिये जहाँ शक्तिकी निर्बाध क्रीडा आरम्भ होती है और समस्त विश्वके मगलका विधान होता है।

कहा जा सकता है कि 'कामायनी'का हमने जो अध्ययन किया है उसके अनु सार तो 'मानव'को ही नवीन संस्कृतिकी स्थापना करनी पडी है, फिर मनुको इसका सस्थापक क्यों माना जाय? उत्तरमें यह निवेदन किया जा सकता है कि अन्तमें कथा की उपलब्धिके अवसरपर मनुकी सर्वोपरिता स्वय स्थापित हो जाती है, क्योंकि उन्होने सभी लोगोंको अपना अवयव कहकर उन्हे अपनेसे अभिन्न मान लिया। वे अब देव नहीं रह गये, आत्मवादकी आनन्द ज्वालामें उनका देवत्व भस्म हो गया। फिर तो, यह अनुमान किया जा सकता है कि वे अपनी अपूर्व क्षमता और कर्मशीलताके द्वारा बहुत कालतक प्रजाकी व्यवस्था करते रहे होंगे। कविने यह तो बता ही दिया है कि आनन्द शिखरपर पहुँचकर देव-युग्मने संसृतिकी सेवा आरम्भ कर दी थी—

"वे युगल वहीं अब बैठे संसृति की सेवा करते
सतोष और सुख देकर सब की दुख-ज्वाला हरते।"

मनुके द्वारा ही कविने आत्मवादी सिद्धान्तोंका निरूपण 'आनन्द' सर्गके अन्तमें कराया है। अतएव यद्यपि मानवका कार्य और महत्त्व अत्यधिक है, किन्तु व्यक्तित्वकी विशालता और वयके कारण उस समुदायके मनु ही प्रमुख बने होंगे। मानवके कार्योंको तथा उपलब्धियोंको मनुके द्वारा आगे पल्लवित, प्रौढ और पूर्ण किया गया होगा। फिर तो उस समुदायकी विचार धारा और कार्यों, तथा उसकी

संस्कृतिके, संस्थापक रूपमें मनुका ही नाम अग्रगण्य रहा होगा। इस काव्यमें चूँकि कविने मनुको वह माध्यम चुना है जिसके द्वारा देव-संस्कृति फिरसे प्रलयके उपरान्त अपनी स्थापनाका प्रयत्न करती रही, अतएव उसने मनुके द्वारा नहीं वरन् 'मानव'के द्वारा नवीन संस्कृतिकी प्रारम्भिक स्थापना-विधि सम्पन्न करायी। मनुके व्यक्तित्वके दो रूप प्रकट हुए; एक तो उनका देवरूप था जो केवल काव्यके अन्तमें अपने पुराने संस्कारोंको छोड़ सका और आत्मवादी नया मनु बनकर साधना-पथपर चला; उनके व्यक्तित्वका दूसरा रूप 'श्रद्धा' जायासे 'मानव'के रूपमें प्रकट हुआ। 'जायते अस्याम् इति जाया' अर्थात् पत्नीके गर्भसे पति ही पुत्र रूपमें उत्पन्न होता है; इसलिए पत्नीको 'जाया' कहते हैं। 'मानव' मनुका यही श्रद्धा संस्कृत रूप था। उसने कर्म-पथपर चलकर आनन्दकी प्राप्ति की। इस प्रकार काव्यका अन्त जीवनके (सामाजिक) कर्म-मूलक और (वैयक्तिक) साधना मूलक दोनों रूपोंको एक साथ, तथा परस्पर अभिन्न रूपमें, प्रस्तुत कर देता है।

'आनन्दवाद'की विवेचनाके अवसरपर मैंने यह स्पष्ट करनेका प्रयत्न किया है कि 'आत्मवादी' आनन्द जीवनकी रसात्मक अनुभूति है। वह शून्यता या निष्क्रियताकी स्थिति नहीं, वरन् 'कर्म' (अनासक्त कर्म)के उत्साहसे परिपूर्ण चित्त वृत्ति है। (निष्काम) कर्म करना और मानवता-धारा बनकर निरन्तर प्रवाहित होना उसका सहज स्वभाव है। मनुको इस स्थितिपर पहुँचाकर कविने उनके इसी आनन्दवादी सहज स्वभावका संकेत किया है जो कभी कर्मसे पलायन कर ही नहीं सकता, उल्टे वह मानवताके उत्कृष्ट गुणोंका उद्घाटन करता है। इसलिए मनु-श्रद्धामें कर्मसे पलायन करनेका दोष देखना उस सम्यक् दृष्टिके अभावका फल माना जायगा, जिसकी आवश्यकता उपयुक्त काव्य-बोधके लिए होती है। आगेके कई स्थलोंपर इस तथ्यके समर्थनमें मैं प्रमाण देता चलूँगा कि मनुने पलायन नहीं किया; पात्र-विमर्श, रस-विमर्श और दर्शन-विमर्शके प्रकरणोंमें ऐसे स्थल कई बार आयेंगे।

अन्तमें अब यह कहना शेष है कि कथा-वस्तुके अध्ययनमें हमने यह देखा कि इस काव्यमें न तो समन्वित प्रभावका अभाव है; और न इसके अन्तिम तीन सर्ग आलंकारिक हैं। आरम्भसे लेकर 'आनन्द' सर्गके अन्ततक कथाका अनिवार्य प्रवाह अक्षुण्ण है। 'कार्य'की सभी अवस्थाओंका विन्यास अथसे इतितक हुआ है। इस विन्यासके किसी भी अंशको आलंकारिक मानना भ्रमात्मक है। श्री 'दिनकर'जी, श्री मुक्तिबोधजी तथा ऐसे ही अन्य समीक्षकोंका यह कहना भी गलत सिद्ध हो जाता है कि कविने जीवन-संघर्षों और उनकी समस्याओंसे मनु-श्रद्धाको हटाकर पलायनवाद-के दोषसे अपनी सृष्टिको दूषित कर दिया। हमने देखा कि वास्तवमें इस काव्यमें 'कर्म', मनोहर कर्मकी ही प्रेरणा है, उसके अतिरिक्त इसमें और कुछ नहीं है। इसमें गीताके कर्म योगका सिद्धान्त ही मिलता है। यह बात नहीं है कि कविने गीताके कर्म-योगकी काव्यात्मक अभिव्यक्ति की है; वरन् तथ्य यह है कि जिस वैदिक दर्शनकी प्रौढ़ स्थापना गीतामें की गयी है, उसी जीवन-दर्शनसे अनुप्राणित होनेके

कारण इस काव्यमें भी उसी कर्म-योगका अंकन है ('दर्शन विमर्श'में इसकी विशेष चर्चा देखिए)।

इसीके साथ यह कह देना भी आवश्यक है कि 'कामायनी'की कथाको कविने ऐतिहासिक रूपमें ही प्रस्तुत किया है। यदि हम इतिहासकी भूमिपर ही इस कथाको पढ़ें (जैसा कि हमने किया है) तो इसके लक्ष्यकी स्पष्ट उपलब्धि हमें हो जाती है; और हम कई भ्रान्तियोंसे बच जाते हैं।

'कामायनी'की कथामें प्रतीक तत्व

यद्यपि कविने 'कामायनी'की कथाको ऐतिहासिक ही मानकर उसका विन्यास किया है, और उसके द्वारा यह दिखानेका सफल प्रयत्न किया है कि वैदिक साहित्यसे जिस आत्मवादी विचार-धाराका हमें पता चलता है तथा उसके आधार-पर जिस संस्कृतिकी स्थापना वैदिक आर्योंने की थी, उसकी स्थापनाका प्रारम्भिक प्रयत्न किस तरह हुआ, किन लोगोंने वैसा प्रयत्न किया, तथा उस संस्कृतिकी मौलिक रूपरेखा क्या रही; फिर भी मनु-श्रद्धाकी प्राचीन कथामें रूपकका समावेश बहुत पहलेसे हो चुका था, जिसे कामायनीकार दूर नहीं कर सकता था। 'आमुख'में इसी-लिए उसे यह कहना पड़ा कि "यह आख्यान इतना प्राचीन है कि इतिहासमें रूपक-का भी अद्भुत मिश्रण हो गया है। इसीलिए मनु, श्रद्धा और इड़ा इत्यादि अपना ऐतिहासिक अस्तित्व रखते हुए, सांकेतिक अर्थकी भी अभिव्यक्ति करें तो मुझे कोई आपत्ति नहीं।" तात्पर्य यह है कि कवि इस कथासे सांकेतिक (प्रतीकात्मक) अर्थ ग्रहण करनेकी छूट केवल इसलिए देता है कि प्राचीन होनेके नाते इतिहासमें रूपक मिल चुका है। इस कथनसे यह भी निष्कर्ष निकलता है कि कविने तो कथाको इतिहासकी भूमिपर ही विन्यस्त किया है और उसके द्वारा ऐतिहासिक उपलब्धि प्रस्तुत की है, परन्तु कथा तत्वोंमें प्राचीन कालसे रूपकका मिश्रण हो जानेसे इसके ऐतिहासिक विन्यास और ऐतिहासिक उपलब्धिके अतिरिक्त इसमें रूपकात्मकता भी कुछ अंश तक है जिसे कविने अपनी ओरसे परिस्फुट करनेका प्रयत्न नहीं किया है। 'कामायनी'की कथा-वस्तुके ऐतिहासिक स्वरूपका अध्ययन हमने कर लिया; अब आगे बढ़नेके पूर्व हम उसके प्रतीकात्मक स्वरूपको भी समझ लें तो ठीक रहेगा।

रूपककी दृष्टिसे देखनेपर कथाके प्रमुख पात्रोंको कई चित्त वृत्तियोंके रूप-में हम पाते हैं। सबसे पहले 'मनु'पर विचार कीजिये। वे मन मात्रके प्रतिनिधि हैं, उस मनके प्रतीक हैं जो अक्षय शक्तिका भाण्डार है, जिसे भगवान् श्री कृष्णने 'दुर्नि-ग्रहम् चलम्' कहा है, जो इन्द्रियोंके रथपर निरन्तर दौड़ता रहता है, तथा जो गोचर विश्वके सभी प्रभावोंको ग्रहण करता हुआ राग-द्वेषसे सर्वदा स्पन्दित रहता है। अहं-कारका भी समावेश मनमें हो जाता है, मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे इन दोनोंमें अन्तर होते हुए भी सामान्यतया इनमें अभिन्नता ही रहती है। अहम्से प्रेरित होनेपर ही मनमें गति आती है। अतएव मनुको 'अहम्'का ही प्रतिनिधि कहना अधिक ठीक होगा। काव्यमें हम उनमें इसी 'अहम्'को प्रकट होते, तथा एकके बाद दूसरा कुकृत्य करते हुए पाते हैं। यह अहम् समस्त चित्त वृत्तियोंको अपने वशमें रखकर उन्हें निरन्तर चलायमान रखता है। इन्हीं वृत्तियोंका निरोध करके योगी (चित्त वृत्ति निरोधः इति

योग) इस अहम्को पार करनेमें समर्थ होता है, और उसका व्यक्ति-अहम्, जो अशान्ति कोलाहल-कलहकी सृष्टि किया करता है, समष्टि अहम्से एक होकर शान्ति आनन्दका आस्वादन करता है। मनु इसी व्यक्ति-अहम्[1] के प्रतिनिधि (या प्रतीक) है।

श्रद्धा मूलतः एक चित्त-वृत्ति है जो किसी सिद्धान्त या कार्य आदिके प्रति विश्वास होनेपर उत्पन्न होती है। विश्व सत् है, चित् है और आनन्द है, तथा वह परम सत्ता (आनन्द)की श्रेय अभिव्यक्ति है, इस सिद्धान्तमें विश्वास होनेपर किसी व्यक्तिमें जो आनन्द उत्साह प्रमोदसे सम्पूरित चित्त-वृत्ति उत्पन्न होती है, उसीकी संज्ञा है 'कामायनी श्रद्धा'। वह व्यक्तिको यह जगाती चलती है कि 'कल्याण भूमि यह लोक' है, अतएव इस लोककी सेवा करना प्रत्येक मनुष्यका कर्तव्य है, इसीमें उसकी पूर्णता (आनन्द)की उपलब्धि होती है। अपने पूर्ण प्रस्फुटित रूपमें यह श्रद्धा वस्तुतः विदेह चित्त-वृत्ति ठहरती है, उसके सम्मुख केवल आनन्द (ब्रह्म), विराटता, निर्मलता, समरसताका दर्शन होता है। वह लोक-जीवनकी रसानुभूति है। वह आत्माका विमल प्रकाश है।

श्रद्धा अन्ततोगत्वा परा शक्ति, परा विद्या है। श्री 'दिनकर'जीने ठीक ही श्रद्धाको परा शक्ति माना है; परन्तु चूँकि उन्होंने सम्पूर्ण काव्य विन्यासमें इस 'रूपक'-को ढूँढना चाहा (जो वहाँपर है ही नहीं, क्योंकि कविने काव्यका ऐतिहासिक विन्यास किया है) इसीलिए उन्हें लगा कि श्रद्धाके परा शक्ति रूपके निर्वाहमें कवि असफल रहा। परन्तु हमने देखा कि ऐतिहासिक व्यक्तित्वके साथ ही श्रद्धामें परा शक्तिका रूपकत्व भी अपनी मात्रामें है। उसके कई उद्गार और कार्य उसे परा शक्तिके रूपमें प्रकट कर देते हैं (उदाहरण देनेकी आवश्यकता नहीं हैं), उसे विश्व शक्तिसे अभेदकी पूर्ण अनुभूति है। इस परा शक्तिको दार्शनिकों एवं साधकोंने अत्यन्त महत्त्व प्रदान किया है। इसीके द्वारा 'अहम्'से उबरकर व्यक्ति आत्म रूपकी उपलब्धि करता है। मनु इसीके सहारे अपने भीतर अखण्ड आनन्दमय चेतनको पा सके, या यों कहिये कि वे स्वयं परम चेतनसे अभेद स्थापित कर सके।

इडाको हेतु विद्या, साधन विद्या, या सुख-साधन जुटानेवाली बुद्धिकी प्रतीक माना जायगा। इसकी गति विज्ञानमय कोषतक ही होती है। मैंने यह बताया है कि अहंकार और बुद्धि विज्ञानमय कोष कहे जाते हैं। बुद्धि यहींतक व्यक्तिको ले जा सकती है, वह प्रकृतिके सम्पूर्ण वैभवको व्यक्तिके लिए सुलभ कर सकती है और उसे विश्व व्याप्त अनेकतामें एकताका ज्ञान भी प्रदान कर सकती है। परन्तु वह इससे आगे बढ़कर आत्म-अनुभूति प्रदान करने (विज्ञानमय-कोषसे बढ़कर आनन्दमय कोष में व्यक्तिको ले जाने)में असमर्थ होती है। वह विश्व रूपकी व्याख्या तो कर सकती है, पर उसकी अनुभूति प्रदान नहीं कर सकती। इस काव्यमें इडाकी यही दशा रही है। उसने मनुको सारे वैभव दिये, उच्च कोटिकी सभ्यताका निर्माण कर दिया, परन्तु वह मनुको वह अनुभूति न दे सकी, उनमें आनन्दकी वह भावना न भर सकी, जिसके द्वारा व्यक्ति पूर्णकाम हो सकता है।

1 Individual consciousness

'मानव' मनु और श्रद्धा, (देव द्वन्द्व)का प्रतीक है। कविने श्रद्धाके मुखसे कहलवाया ही है कि :—'देव द्वन्द्वका वह प्रतीक, मानव कर कर लेगा भूल ठीक'। तात्पर्य यह हुआ कि व्यक्ति-अहम् (अर्थात् मनु) और परा-शक्ति, आत्मवादी अनुभूति (श्रद्धा)का समन्वित रूप ही 'मानव'का समन्वित रूप है। इसीके द्वारा नवीन मांगलिक संस्कृति या मानवताकी स्थापना सम्भव होती है।

इस उपर्युक्त चर्चाके आधारपर जब हम 'कामायनी'की कथाकी प्रतीकात्मक उपलब्धि या कथाके सांकेतिक अर्थपर विचार करते हैं तो हमें यह ज्ञात होता है कि जबतक मन (व्यक्ति-अहम्) बुद्धि, हेतु-बुद्धि (इडा)के सम्पर्कमें रहकर अपने अभीष्टको पानेका प्रयत्न करता है तबतक न केवल वह अपना वांछित फल नहीं पाता है, वरन् वह नानाविध विकृतियोंसे दूषित होकर जीवनको दुःख, विषाद और निराशासे निष्प्राण-सा बना देता है। उसे बुद्धि, साधन-बुद्धिकी सहायतासे सभ्यता और सम्पत्तिके वैभव तो प्राप्त हो जाते हैं, परन्तु उस सभ्यताको मांगलिक बनानेके लिए जिस संस्कृतिकी अनिवार्यता रहती है उसे वह नहीं पा सकता है। मनु जबतक इडाके मार्ग-दर्शनमें चले उनकी यही दशा रही; उन्हें भीषण परिणाम भोगने पड़े।

वास्तविक सुख-आनन्द व्यक्तिको तभी मिल सकता है जब उसका व्यक्ति अहम् (मन), बुद्धि (इडा)की सहायतासे जो कुछ प्राप्त करे उसमें 'आत्मवादी' अनुभूतिकी अबाधित स्फुरणा होती रहे। 'कामायनी'की कथामें मनुको श्रद्धाकी सहायतासे आनन्दका दर्शन होता है; 'मानव' भी समाजको लेकर वहीं (आनन्द)तक पहुँचता है; और ऐसा वह इडाकी सहायतासे करता है। हम देख आये हैं कि मानव-इडा द्वारा स्थापित सारस्वत-संस्कृति ही कविके काव्य-जगत्की उपलब्धि है। हम यह भी ऊपर कह आये हैं कि 'मानव', व्यक्ति-अहम् (मनु) और परा-शक्ति या आत्मवादी अनुभूति (श्रद्धा) दोनोंका समन्वित रूप है। अतः अब यह कहा जा सकता है कि आनन्दकी उपलब्धिके लिए यह आवश्यक है कि मन (अर्थात् व्यक्ति-अहम्) आत्मवादी अनुभूति (श्रद्धा)में रमण करता हुआ बुद्धि (इडा)की सहायतासे मुक्त कर्माचरण करे। गीतामें भगवान् श्री कृष्णने "मामनुस्मर युद्ध च" कहकर इसी अभिप्रायको व्यक्त किया है (शेष चर्चा 'दर्शन-विमर्श'में देखिए)।

जल-प्लावन और श्रद्धाके पशुको मैं प्रतीक नहीं मान पाता, जैसा श्री नगेन्द्रजीने माना है। वैसा मानना, मेरे विचारमें, व्यामोह होगा।

जब हम इस दृष्टिसे मनुके व्यक्तित्वपर विचार करते हैं तो हमें यह स्पष्ट हो जाता है कि वे एक असाधारण व्यक्ति हैं; उनमें असाधारण शक्ति है। उनकी निर्बलता भी असाधारण है; उनमें इच्छा, (सकाम) कर्म और (निवृत्तिमूलक) ज्ञानका अदम्य वेग है। हम देख आये हैं कि इच्छा, कर्म और ज्ञानके समन्वय द्वारा ही आनन्दकी उपलब्धिको कविने सम्भव बताया है। मनुमें इन तीनोंकी असाधारण मात्रा थी, और इन तीनोंका पर्याप्त असामञ्जस्य था। श्रद्धाने 'रहस्य' सर्गमें मनुसे ठीक ही कहा था कि 'इस त्रिकोणके मध्य विन्दु तुम'। इनमेंसे जिस सिरेकी ओर मनु झुकते थे, उसको अंतिम सीमातक पहुँचा कर ही साँस लेते थे। पहले मनुकी इच्छाको लीजिए—

"यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरंति प्रसभं मनः।"—(गीता)

'इन्द्रियाँ अत्यन्त प्रमथन स्वभावकी होती हैं; वे विपश्चित यती पुरुषके मनको भी बलात् अपने विषयोंमें लगा देती हैं।' मनुमें इन्द्रियोंकी यह प्रमथन-शक्ति परा-काष्ठागत थी। प्रलयकी भीषणताके दूर होते ही प्रकृतिके छवि-सभार और श्रद्धाके अपूर्व तन लावण्यको देखकर उनकी इन्द्रियाँ उनके मनका प्रमथन इस सीमातक करने लगीं कि उन्हें जल-प्लावनकी आपदाएँ विस्मृत हो चलीं और उनका यह ज्ञान भी, जिसे उन्होंने कुछ ही समय पूर्व 'चिन्ता' सर्गमें व्यक्त किया था, लुप्त हो गया कि निर्बाध भोगके कारण ही देव जातिका विनाश हुआ था। सुनिये वे क्या कहते हैं—

"जो कुछ हो, मैं न सम्हालूँगा इस मधुर भारको जीवन के
आने दो कितनी आती हैं, बाधायें दम संयम बन के।" ('काम' सर्ग)

इसके पूर्व हम मनुको चिन्ता-कातर, निराश, नियति प्रेरित और आत्म विश्लेषणमें चिन्तनरत व्यक्तिके रूपमें देखते हैं। सहसा उनके भीतरसे वासना (काम)के इस दुर्दम उभारको, जो किसी भी बाधाकी चिन्ता न करे, देखकर क्या हमें कम आश्चर्य होता है! साधारण इन्द्रिय-शक्ति (काम-शक्ति)वाले व्यक्तिमें महाविनाश-जनित विषादका इतनी शीघ्रता और निश्चिन्तताके साथ दूर हो जाना अनुमानसे परे है। मनुका यहींपर यह कथन भी सुनिए—

"पीता हूँ, हाँ मैं पीता हूँ यह स्पर्श, रूप, रस गंध भरा
मधु लहरों के टकराने से ध्वनि में है क्या गुंजार भरा।"

'रहस्य' सर्गमें कविने इच्छा-लोकका यही स्वरूप प्रदर्शित किया है। यहाँपर कविके अनुसार 'रागारुण उपासना' होती है। मनुके भीतरसे इसी 'रागारुण उपासना'-की माँग चरम सीमातक उठना चाहती है। अपनी इस अदम्य ऐन्द्रिकता, 'रागारुण उपासना',के कारण वे एकके बाद दूसरी गलतियाँ करते हैं। देव-जीवनकी यह विकृति, काम-विकृति, उनके व्यक्तित्वकी असाधारणता है। श्रद्धाके रति-सुखके लिए उन्होंने छल-वाणीका आश्रय लिया। हिंसाको जल प्लावनका कारण बताकर भी वे पशु-हिंसामें इस तरह प्रवृत्त होते हैं कि मृगयाके अतिरिक्त उन्हें कुछ अन्य कर्म अच्छा ही

नहीं लगते। श्रद्धाका निश्छल समर्पण भी उनके विकृत कामको सन्तुष्ट न कर सका; 'हविषाकृष्णवर्त्मेव' उनकी ऐन्द्रिक ज्वाला बढ़ती ही गयी; इडाके प्रति बलात्कारमें उस ज्वालाने उन्हें 'पकाल' करके ही छोड़ा। अपनी इन्द्रिय-चेतनाकी उग्रता और भीषणता-की बात मनुने स्वयं कही है—

"कौशल यह कोमल कितना है, सुषमा दुर्भेद्य बनेगी क्या ?
चेतना इन्द्रियों की मेरी, मेरी ही हार बनेगी क्या ?"

मैं यह नहीं कहना चाहता हूँ कि यह इन्द्रिय-लोलुपता, 'रागारुण उपासना', निर्बलता नहीं है। वह निर्बलता ही है, पर है वह असाधारण। और उसकी असाधारणताका कारण है उनके शरीरका सम्पुष्ट गठन, और उनकी अपार वीर्य-ऊर्जस्विता—

"अवयव की दृढ़ मांसपेशियाँ ऊर्जस्वित था वीर्य अपार
स्फीत शिरायें, स्वस्थ रक्त का होता था जिनमें संचार।"

एकाधिकार भोगकी भावना अपार इन्द्रिय-शक्तिकी परिचायिका होती है। जिसमें इन्द्रिय शक्ति और ओजका अभाव होगा वह व्यक्ति एकाधिकार भोगकी कल्पना ही न कर सकेगा। मनुमें ऐकान्तिक अधिकारकी, निर्बाध-विलासकी, भावना उनकी प्रबल शक्तिको सूचित करती है। कितनी बाधाएँ आयीं, कितनी आत्मग्लानि उन्हें हुई, और कितना संघर्ष उन्हें करना पड़ा; पर वे अपनी वासना, रागारुण उपासनाको रोक न सके; इच्छा प्रेरित उनकी गति अप्रतिहत रही। इस विषयमें इडाको सुनिए—

"सागर की लहरों से उठ कर शैल-शृंग पर सहज चढ़ा
अप्रतिहत गति, संस्थानों से रहता था जो सदा बढ़ा।" (निर्वेद)

साथ ही मनुमें (सकाम) कर्म शक्ति भी असाधारण थी। प्रारम्भमें प्रलय भीत होकर कुछ समयतक वे कर्मसे अवश्य विरत हो उठे थे, परन्तु एक बार कर्ममें जुट जानेपर वे 'संघर्ष' सर्गतक कर्म-रत ही रहे। जीवन-अभ्युदयके लिए उन्होंने यज्ञ करना प्रारम्भ किया; यज्ञ यज्ञकी पुकारसे उनका जीवन भर उठा। मृगयामें प्रवृत्त हुए तो उसके अतिरिक्त उन्हें कुछ दिखायी ही नहीं देता था। उनकी 'रागारुण उपासना' (काम-रति चेतना, भूख प्यासकी उपासना)को जब इनकी इस कर्म शक्तिका साथ मिल गया, जब मनुको इडा मिल गयी, जब उनकी बुद्धिने उन्हें पर्याप्त सुख-साधन उपलब्ध कराके उनकी 'रागारुण उपासना' (इच्छा)को सन्तुष्ट करनेका व्रत ले लिया, तो वे विध्वस्त सारस्वत-प्रदेशको भौतिक वैभवसे भर देनेकी अपूर्व भावनासे कर्मरत हुए; और अल्प कालमें ही उन्होंने उस प्रदेशकी सभ्यताका पर्याप्त उत्कर्ष कर दिया। यह उनकी कर्म शीलताका प्रमाण है।

'रहस्य' सर्गमें कविने 'कर्म'लोककी जिन विशेषताओंका उल्लेख किया है वे सब मनुके सारस्वत लोकमें मिल जाती हैं। यहाँ प्रत्येक व्यक्तिके पीछे कोई-न-कोई 'एषणा' लगी हुई है, सभी लोग 'अन्ध-शक्ति'के 'कशाघात'से प्रताड़ित 'कर्म प्रवृत्त' हैं।

'महायन्त्रके प्रवर्तन'के समान ही यहाँ जीवन-चक्र चल रहा है। यहाँ 'पाणिपादमय पचभूत'की उपासना हो रही है। कलह कोलाहल तथा पारस्परिक द्वेष आदिसे यह लोक अत्यन्त मलिन हो गया है। इस समानताके कारण ही, जब श्रद्धाने मनुको इस कर्मलोकका स्वरूप बताया तो मनुने कहा था कि 'श्रद्धे, बसकर, यह तो भीषण लोक है', इस प्रकारका लोक वे स्वय सारस्वत प्रदेशमें बसा चुके थे, तथा उसके कुफलको भोग चुके थे। इस तथ्यको न समझ सकनेके कारण 'पत, प्रसाद और गुप्त' नामक अपने समीक्षा-ग्रन्थमे श्री 'दिनकर'जीने यह बतानेका प्रयत्न किया है कि मनुके मुखसे 'कर्मलोक'की निन्दा कराके, प्रसादजीने 'कर्म'के प्रति उपेक्षाका भाव प्रकट किया है। मैं 'रहस्य' सर्गकी विवेचनामे इसका यह उत्तर दे आया हूँ कि प्रसादजीने केवल एषणाचालित, अन्ध शक्ति द्वारा प्रेरित (सकाम) 'कर्म'की निन्दा की है, न कि मनोहर कर्म, या अनासक्त रचनात्मक कर्म की। इस स्थलपर यह दूसरा उत्तर भी प्रस्तुत है कि चूँकि मनुने स्वय ऐसा ही एषणा-चालित, अन्ध शक्ति प्रेरित, कर्म-लोक सारस्वत नगरमें बसाया था और उसका भयानक फल पा लिया था, अतएव उन्हें प्रकृतित, इस दृश्यसे अत्यधिक जुगुप्सा हो चली।

इस चर्चासे मैंने यह स्पष्ट कर देना चाहा कि 'कामायनी'में जिस (रागमूलक) कर्मका इच्छा और ज्ञानके साथ समन्वयकी महत्त्वपूर्ण स्थापना की गयी है, मनुमें उस 'कर्म' शक्तिकी ऐसी असाधारण मात्रा थी कि उन्होंने स्वय एक 'कर्मलोक'की स्थापना कर दी। इस कोटिकी कर्म-शक्तिके साथ इसी कोटिका साहस भी व्यक्तिमें होता है। मनुमे किस कोटि और मात्रामें साहस था यह 'सघर्ष' सर्गमें इडाके प्रति कहे गये उनके इस कथनमें प्रकट होता है—

"फिर स जलधि उछल बहे मर्यादा बाहर,
फिर झझा हो वज्र प्रगति से भीतर बाहर।
फिर डगमग हो नाव लहर ऊपर से भागे,
रवि शशि तारा सावधान हों चौंकें जागें।
किंतु पास ही रहो बालिके! मेरी हो तुम,
मैं हूँ कुछ खिलवाड़ नहीं जो अब खेलो तुम।"

मनुका यह कथन कामी व्यक्तिकी ढपोरोक्ति नहीं है, क्योंकि समय उपस्थित होनेपर सग्राममें उन्होंने अपने साहसका परिचय दिया है। अब मनुकी तीसरी विशेषतापर ध्यान दीजिए।—

मैं कह आया हूँ कि 'ज्ञान' शब्दका प्रयोग 'रहस्य' सर्गमें कामायनीकारने 'विरति' या निवृत्तिमूलक तपके अर्थमें किया है। उसके अनुसार 'ज्ञान-लोक'के प्राणी 'जीवन-रस'का भोग नहीं करते, वरन् उसे सचित रखते हैं, उनके लिए तृषा मिथ्या है (और इस प्रकार जीवन मिथ्या है), वे जीवन (गोचर जीवन)से नहीं, वरन् 'अजर अमर'से आनन्द चाहते हैं। इस अर्थमें मनु भी ज्ञानी थे, या इस ज्ञान-लोकके प्राणी थे। जीवनसे विरक्त हो जाना उनके लिए साधारण-सी बात थी। प्रलयके उपरान्त

वे जीवनसे विरत हो चले थे; मौन, नाश, विध्वंस, अंधेरा, ही उनके लिए सत्य था। इसी दशामें उन्होंने कहा था—

"विस्मृत आ अवसाद घेर ले, नीरवते बस चुप कर दे
चेतनते चल जा, तेरा यहाँ नहीं कुछ काम।" ('चिंता' सर्ग)

श्रद्धाने उनकी विरक्तिको चीरकर उनके हृदयके सोये रागको जगाया। परन्तु 'इडा' सर्गमें हम उन्हें पुनः विरक्तिकी इसी दशाको प्राप्त होते देखते हैं। एक बार पुनः जीवनका गन्तव्य उन्हें अज्ञात हो उठा; उनके परितः घना अन्धकार छा गया। और,

"नीरव थी प्राणों की पुकार
मूर्च्छित जीवन-सर निस्तरंग नीहार घिर रहा था अपार
निस्तब्ध अलस बन कर सोई चलती न रही चंचल बयार
पीता मन मुकुलित कंज आप अपनी मधु बूँदें। मधुर मौन" ('इडा' सर्ग)

'जीवन निशीथके अधकार'में पड़े मनुके सम्मुख इडाका उदय पुनः राग लेकर आया। और मनु का 'सोया तम विराग'। 'निर्वेद' सर्गमें यह विराग फिरसे जग उठा।

"सोच रहे थे, 'जीवन सुख है? ना, यह विकट पहेली है
भाग अरे मनु! इन्द्रजाल से कितनी व्यथा न झेली है?" (निर्वेद)

और जीवनको इन्द्रजाल (मिथ्या, माया) मानकर मनु भग चले। इस प्रकार 'चिन्ता' सर्गसे ही उनमें 'विराग'का जो उभार होता रहा उसने उन्हें जीवनसे पलायन करनेके लिए विवश कर दिया। उनके लिए जीवन इन्द्रजाल ही प्रमाणित हुआ। व्यथासे मुक्तिका मार्ग उन्हें विरागमें ही जाता हुआ मिला। अब तो हमने यह निश्चित रूपसे देख लिया कि मनुमें विरागकी भावना (या प्रसादजीके शब्दमें ज्ञान)का भी अदम्य वेग था।

'कामायनी'मे इन्हीं तीनोका समन्वय करके आनन्दको पानेकी बात कही गयी है। यही कारण है कि मनु जैसे पात्रको कविने अपने काव्यके लिए उपयुक्त समझा। उसमें भोगवाद, वैज्ञानिक कर्मवाद, और विरागमूलक पलायनवाद तीनों थे। काव्यके अन्तिम सर्गमें ज्यों ही मनुकी इच्छा, (सकाम) कर्म और (निवृत्तिमूलक) ज्ञानको एकमें अनुस्यूत होनेका अवसर मिला, वहाँ तुरन्त वे आत्मरूपको प्राप्त हो उठे। प्रसादजीने लिखा है कि "ऋग्वेदके दसवें मण्डलके अड़तालीसवें सूक्त तथा एक सौ उन्नीसवें सूक्तमें इन्द्रकी जो आत्मस्तुति है, वह अहम् भावना तथा अद्वैत भावनासे प्रेरित सिद्ध होती है। 'अहं भुवः वसुनः पूर्व्यस्पतिरह धनानि स जयामि शाश्वतः' या 'अहमसि महामहो' इत्यादि उक्तियाँ रहस्यवादकी वैदिक भावनाएँ हैं।" 'कामायनी'के अन्तमे मनु 'अहम् भुवः'की वैदिक रहस्यानुभूतिकी अभिव्यक्ति करते दिखायी देते हैं।

शरीरकी अर्द्ध-नारी मूर्ति थी। मनु-सतरूपाके दो पुत्र हुए प्रियव्रत और उत्तानपाद। इनकी तीन लड़कियाँ भी थीं जिनका सम्बन्ध कथाओंमें देवों, ऋषियों और यक्षोंसे बताया जाता है। इन मनुका नाम 'विराज' भी था; ये प्रथम मन्वन्तरके मनु थे। वायु पुराण में स्वायम्भुव मनुने पहले 'आनन्द' (ब्रह्माके रूप)का उल्लेख है। उन्होंने ही वर्ण-व्यवस्था स्थापित की, विवाह प्रथा भी उन्हींने चलायी। परन्तु थोड़े ही काल-में यह व्यवस्था तिरोहित हो उठी तो स्वायम्भुव मनुने पुन उसकी प्रतिष्ठा की। इनकी राजधानी सरस्वतीके किनारे थी। इन्हें पृथ्वीका प्रथम सम्राट् कहा जाता है। दूसरे मनु थे, मनु स्वारोचिष जो स्वायम्भुव मनुकी लड़की 'आकूति'के पुत्र थे। स्वाय म्भुवके प्रथम पुत्र प्रियव्रत प्रथम क्षत्रिय माने जाते हैं। इनके तीन पुत्रोंने बचपनमें ही तपमें निरत होकर ससारसे सन्यास ले लिया, ये बाद में 'मनु' बने। इनके नाम थे उत्तम, तामस और रैवत। ये ही क्रमसे तृतीय, चतुर्थ और पचम मनु हुए। दूसरे पुत्र उत्तानपादके तीन पुत्र थे—ध्रुव, कीर्तिवत् और उत्तम।

छठें मनुका नाम 'चाक्षुष' था। उनका पौत्र वेन अत्याचारी राजा था, उसके विरुद्ध विद्रोह हुआ और उसके पुत्र पृथुको राजा बनाया गया। पृथुकी पाँचवीं पीढ़ीमें दक्ष हुए, जिनकी लड़कीके पौत्र थे मनु वैवस्वत। इन्होंने जल प्लावनसे मानवताकी रक्षा की। जल प्लावनकी तिथिके विषयमे विद्वानोंमें मतभेद है, कुछ लोग ३१०० पूर्व ईसा इसकी तिथि मानते हैं। परन्तु यह अनुमान मात्र है। हमें प्रस्तुत प्रसगमे इसपर विचार करना वाछनीय नहीं है।

इन्हीं मनुसे पुराण वर्णित राजाओंकी वशावली प्रारम्भ होती है। माना जाता है कि इनके नौ पुत्र थे। इन नौके अतिरिक्त इन्हें एक पुत्र और था जो सबसे बडा था और जिसके दो रूप (व्यक्तित्व) थे नर 'इल' और नारी 'इला'। उपर्युक्त नौ पुत्रोंके नामों और क्रमोंके विषयमें कइ प्रकारके उल्लेख हैं। कई विद्वानों के मतानुसार, उनके नाम थे इक्ष्वाकु, नाभाग, धृष्ट, शर्याति, नरिष्यन्त, प्राशु, नाभागोदिष्ट, करूप और पृषध्र,। शर्यातिको शर्याति मानव भी कहा गया है। मनुके इन पुत्रोंने कइ स्थलोंपर अपने राज्य स्थापित किये, जैसे इक्ष्वाकु ने अयोध्या का राज्य और शर्याति (मानव)ने 'आनर्त' (वर्तमान गुजरात)का राज्य स्थापित किया। मनुकी पुत्री इलाने बुधसे विवाह करके पुरुरवाको जन्म दिया और ऐल वशकी स्थापना हुई, इस वशसे कान्यकुब्ज, यादव, तुर्वसु, द्रुह्यु, पाचाल आदि वशों की सृष्टि हुइ। पुरुरवाने सूर्य वशकी स्थापना की।

इन सब विवरणोंका विस्तारपूर्वक उल्लेख करना यहाँपर आवश्यक नहीं है। इस उपर्युक्त चर्चासे यह स्पष्ट हो गया कि 'मनु' कई हो गये हैं। प्रसादजीने 'वैवस्वत' मनु'को ही अपने काव्यका पात्र चुना है, जो उनके 'आमुख'से स्पष्ट है। ऊपर कहा जा चुका है कि 'वैवस्वत मनु'के एक पुत्र शर्याति मानव थे जिन्होंने 'आनर्त' (गुजरात)में राज्यकी स्थापना की, तथा इनके अन्य पुत्रोंने भी अपने अपने राज्य

स्थापित किये। प्रसादजीने, इसी ऐतिहासिक तथ्यके आधारपर, 'मनु' और 'मानव' दोनोंको काव्यमें प्रस्तुत किया, यह भी अनुमान किया जा सकता है।

परन्तु ऐतिहासिक तथ्योंका उपयोग करके भी कविकी कल्पना में मनुको अपूर्व रूप में प्रस्तुत किया है। 'मनु'को आरम्भमें देव संस्कृतिकी पुनः स्थापनामें अचेतन मन द्वारा प्रवृत्त दिखाकर तथा असफल होनेपर उन्हें साधना-मार्ग द्वारा श्रद्धाके सहयोगसे आनन्द-भूमितक ले जाकर (क्योंकि 'कामायनी'का संधान उसीकी माँग करता है, देखिए 'रस विमर्श' भी) प्रबुद्ध वैदिक तरुण आर्योंकी आनन्दवादी संस्कृतिकी स्थापनाका कार्य 'मानव'से ही प्रमुखतः कराया गया। अन्तमें अपनी साधनाका आलोक लेकर मनुने उस संस्कृतिको सर्वभावेन पुष्ट किया होगा, जिसके लिए उन्हींके नामपर उस संस्कृतिका प्रचार हुआ होगा। मनुके कुछ अन्य ऐतिहासिक व्यक्तित्वकी चर्चा 'आमुख विमर्श'में की गई है, अतः उसे वहीं देखिए।

कामायनी श्रद्धा

'श्रद्धा' काव्यकी नायिका है; उसके व्यक्तित्वके माध्यमसे हमें 'प्रसाद'का जीवन दर्शन प्राप्त होता है। हम उसे प्रसादके जीवनानुभव और चिन्तनकी निर्दोष उपलब्धियोंका सप्राण बिम्ब कह सकते हैं। प्रेमकी शालीनता, वेदनानुभूतिकी विराट भूमिकापर आशा एवं विश्व-मंगलकी व्यापक कामना, जीवनके प्रति अटूट आस्था-ममता, सहिष्णुता, त्याग, अदम्य उत्साह, कर्तव्यपरायणता तथा हृदयकी सरल उदाराशयता आदि वे सभी गुण श्रद्धाके चरित्रमें प्रतिफलित हैं जिन्हें प्रसादने अपने नाटकों, उपन्यासों और कहानियोंमें व्यक्त किया है। कविने अपने हृदयकी सम्पूर्ण साध श्रद्धाको समर्पित कर दी है; उसकी मानवादर्श कल्पना श्रद्धा बनकर मूर्त हो उठी है। भारतीय साहित्यको प्रसादकी यह अपूर्व देन है। सीता, सती और शकुन्तलाकी औदात्य भूमिपर प्रसादने एक और नारी-चित्र टाँक दिया। वह श्रद्धिका थी।

कहा जा चुका है कि श्रद्धा अपने ऐतिहासिक व्यक्तित्वमें आर्यावर्तके प्रबुद्ध तरुण आर्य-संघके पूर्वज 'मानव'की जननी है। उसका चरित्र वैदिक आर्योंकी आनन्दवादी संस्कृतिका दर्पण है। प्रेम प्रमोद और कर्तव्य निष्ठाकी वह आदर्श है। उसका जीवन कर्म-साधनाकी पवित्र वेदी है। सृष्ट्यारम्भमें जिस उल्लास और सेवाकी निश्छल भावनाके साथ उसके जीवनकी कर्म-साधना आरम्भ होती है उसे हम निरन्तर अपने लक्ष्यको उपलब्ध करनेमें सचेष्ट एवं जागरूक पाते हैं। कोई भी अन्तराय उसे निर्दिष्ट पथसे विचलित न कर सका।

'वस्तु विमर्श'में हमने यह देख लिया है कि श्रद्धाके हृदयमें विश्व शक्तिकी सर्वोपरिता, सर्वमयता और नियतामें अडिग विश्वास था। 'आत्मवाद'की उसे सहज अनुभूति थी। 'कल्याण-भूमि यह लोक', यह मत उसके जीवनका सिद्धान्त सूत्र था। वह मानती थी कि ब्रह्मका व्यक्त रूप होनेके कारण यह गोचर विश्व सत् है, और

कल्याणमय है। उसने मनुको सुख दु खके समरस ग्रहणका परामर्श दिया था। 'स्व' की चेतनाको 'पर' की चेतनाके साथ समन्वित करके सर्व-चेतनाकी उपलब्धि उसके लिए जीवनका चरम लक्ष्य थी। श्रद्धा, कर्म, ईर्ष्या, दर्शन और रहस्य सर्गोमें उसने मनुके सामने अपने जिन मतोंका प्रतिपादन किया है उन्हें हमने देख लिया है। उन सबसे उसके जीवन विश्वासका पता लग जाता है।

हमने यह भी देख लिया है कि श्रद्धा प्रतीक भूमिपर अन्ततोगत्वा परा शक्ति या ऋतम्भरा प्रज्ञा भी प्रकट होती है। वह व्यक्ति अहम्को विश्व अहम् (या ब्रह्म)का दर्शन करानेमें समर्थ है। वह जड चेतनकी समस्याका सुगम समाधान है, इसीलिए कामने मनुसे कहा था—

"जड चेतनता की गाठ वही सुलझन है भूल सुधारों की
वह शीतलता है शान्तिमयी जीवनके उष्ण विचारों की।"

घायल मनुके पास बैठकर श्रद्धाने जो गीत गाया वह उसके प्रतीकात्मक स्वरूपकी मौलिक रूपरेखाओंको व्यक्त करता है। निश्चित रूपसे वह वही श्रद्धा है जिसके लिए श्रीकृष्णने कहा था —"श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानम् तत्पर सयतेंद्रिय।" श्रद्धाका धर्ममें क्या महत्त्व है, इसकी चर्चा अनावश्यक है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति उसे जानता है। कामायनी' श्रद्धा धर्मकी श्रद्धासे इषत् भिन्न है, उसकी यह भिन्नता उसके 'कामायनीत्व' में है, अर्थात् व्यापक काम भावनासे अभिन्न होनेमें है। वह न केवल विश्व-चेतना (धर्म)से एक रूप है, वरन् वह 'पूर्ण काम' भी है। हम जानते हैं, और 'शीर्षक विमर्श'के अवसरपर मैंने यह कहा भी है कि काम ही सृष्टिका तथा जीवनका उद्गम है, और वही उसे पल्लवित विकसित करता हुआ पूर्णता प्रदान करता है। कामको 'प्रसाद'जीने 'ईश्वरकी अभिव्यक्तिका सबसे बडा व्यापक रूप' माना ही है। इस अर्थमें काम चिद्व शक्तिकी अभिव्यक्ति-आकाक्षा-शक्ति है 'उसीमें सब होते अनुरक्त'। इसी कामके झिझकनेके कारण श्रद्धाने मनुको सारगर्भित परामर्श दिया है जिसपर हमने विचार कर लिया है। इसी 'काम'के स्वस्थ विकासके मागलिक स्वरूपका आस्थामय प्रयत्न कामायनी श्रद्धाकी विशेषता है जो उसे अन्य प्रकारकी 'श्रद्धाओं'से पृथक् करती है। चूँकि इन सब गुणोंकी चर्चा मैं अपने पूर्व अध्ययनमें कर आया हूँ, अतएव यहाँ उनपर पुन विचार करना आवश्यक नहीं है। परन्तु आगेकी पंक्तियोंमें मैं श्रद्धापर किये जानेवाले कुछ आक्षेपोंके औचित्यपर विचार करूँगा।

आचार्य शुक्लने लिखा है कि जब दो पात्रोंके चरित्रका निर्माण दो भिन्न भिन्न प्रवृत्तियोंपर होता है तो इस कथनका कोई तुक नहीं है कि एकमें दूसरेका गुण नहीं है। जिस प्रकार श्रद्धाने इडासे कहा कि 'सिर चढी रही पाया न हृदय' उसी प्रकार उसे भी कहा जा सकता है कि 'रस पगी रही पायी न बुद्धि'। श्री मुक्तिबोधजीने इसमें अपना यह मत और जोड दिया कि श्रद्धामें बुद्धि और कर्म दोनोंका अभाव था। वह कोरी फिलासफी बघारती है और अपनी फिलासफीके अनुसार वह काम नहीं करती

है, अन्तमें वह स्वयं पलायन कर जाती है और मनुको भी उसी मार्गपर ले जाती है। वह बातें तो बहुत करती है, पर जब परिस्थिति आ उपस्थित होती है तो वह कुछ कर नहीं पाती है।

इस प्रसगमें सर्वप्रथम मेरा यह निवेदन है कि श्रद्धाके इस कथनका कि 'सिर चढ़ी रही पाया न हृदय', यह आशय नहीं है जिसे ग्रहण करके शुक्लजीने ऊपरकी बात कही है। इस उक्तिका यही अर्थ है कि 'इडा, तुम लोगोंके सिर (अर्थात् मस्तिष्क या बुद्धि)को ही प्रेरित करती रही, उनके हृदयको तुम न पा सकी अर्थात् लोगोंके हृदयको तुम जाग्रत न कर सकी'। 'पाया न हृदय'का यह अर्थ इस वाक्यमें हो ही नहीं सकता कि 'तुम्हें हृदय नहीं मिला', प्रसग भी इस अर्थका समर्थन नहीं करता है। उसके हृदयको, कुछ ही पूर्व कवि प्रस्तुत कर चुका है। 'सिर चढ़ना'के साथ, उसीके मेलमें, 'हृदय न पाने'का अर्थ हमें ग्रहण करना चाहिए। वास्तवमें, शुक्लजीके सामने श्रद्धा और इडाके ऐतिहासिक व्यक्तित्व नहीं, वरन् उनके प्रतीकात्मक व्यक्तित्व ही थे। कविने जिसे ऐतिहासिक भूमिपर प्रस्तुत किया है, उसे उन्होंने 'प्रतीक' भूमिपर ग्रहण किया। और फिर समीक्षा वास्तविक भूमिसे कट गयी।

मुक्तिबोधजीके आक्षेपपर हम विचार कर आये हैं। हम यह स्थापित कर आये हैं कि श्रद्धाने सघर्षोंसे पलायन नहीं किया, कभी नहीं किया। सर्वप्रथम उसके सामने जल-प्लावनके बादकी विनाश-भूमिकापर नवसृजनकी परिस्थिति उत्पन्न होती है। अपार वीर्यसे परिपूरित शरीरवाला व्यक्ति मनु ऐसी दशामें कर्मसे झिझक रहा था। उस समय श्रद्धाने न केवल मनुको कर्म प्रेरणा प्रदान करके उन्हें रचनात्मक कर्ममें प्रवृत्त कर दिया, वरन् स्वय वह उस 'रचना मूलक सृष्टि-यज्ञ'को सम्पन्न करनेमें लीन हो उठी, उसने मनुको अपना अयाचित साहचर्य समर्पित कर दिया।

अत्यन्त आशा, आस्था, उल्लास और प्रमोदके साथ वह सृष्टि-कर्ममें लगी। सृष्टिके लिए नर नारीके यौन आकर्षणकी अनिवार्यता मौलिक है। उससे बचना जीवन-उद्गमको ही अवरुद्ध करना है। अत मनुके साथ श्रद्धा इस मधुर, भूख प्यासके, जीवन-मार्गपर नि सकोच अग्रसर हुई। आचार्य शुक्लने मनु श्रद्धाके जिन व्यापारों, चेष्टाओं या उद्गारोंको देखकर इस काव्यमें 'मधुचर्याका अतिरेक' निर्धारित किया, वैदिक आर्योंकी आनन्दवादी धाराने उन्हें अत्यधिक महत्त्व प्रदान किया था। वे आज भी जीवनकी मूल माँगें हैं। यों देखा जाय तो इस काव्यमें 'मधुचर्या' तो है, पर उसका 'अतिरेक' नहीं है। 'मधुचर्या' वहाँतक है जहाँतक उसका होना काव्य विधानके लिए आवश्यक था। अपनी शालीनताके कारण वह 'अति'तक जा भी नहीं सकती थी।

श्रद्धाने अपनी नारीका समर्पण करके नूतन मानवताकी स्थापनाका मार्ग प्रशस्त कर दिया। इसके बाद उसके गृहणी जीवनका आरम्भ होता है, उसपर घर सँभालनेका उत्तरदायित्व आ पड़ा। उसके सामने भावी परिवार व्यवस्थाका मानस-चित्र बनने लगा। वह त्रुटिपूर्ण 'देव सस्कृतिसे विलक्षण' नवीन मानवीय सस्कृतिकी

स्थापनाका स्वप्न देखने लगी। इस चित्रमें उसका प्रेयसी-व्यक्तित्व दमित नहीं, वरन् अपनी मर्यादामें स्निग्ध विस्तार पानेमें प्रसन्न था। उसने शालियाँ-अन्न एकत्रित करना तथा सूत कातना आरम्भ कर दिया। धीरे धीरे उसने एक कुटीर भी बना लिया जिसमें 'गृहलक्ष्मीका गृह विधान' देखने योग्य था।

रचनात्मक श्रमका महत्त्व देव-जीवनको अज्ञात था, भोग और (रचनामूलक) श्रमका जल्दी मेल नहीं खाता। और, जब ऐसा सुअवसर प्राप्त होता है कि भोग और श्रम एक मेलमें हों तो उत्कृष्ट संस्कृतिकी भूमिका निर्मित होती है। श्रद्धाने श्रमके महत्त्वको आँका। 'श्रद्धा' सर्गमें उसने मनुसे कहा था : 'कर्मका भोग भोगका कर्म, यही जड़का चेतन आनन्द'। इस चेतन आनन्द सिद्धान्त-सूत्रका पूर्वार्द्ध, अर्थात् 'कर्मका भोग' (श्रमका भोग), उसके उत्तरार्द्ध ('भोगका कर्म')की प्राथमिक अनिवार्यता है। उसके उपरान्त ही 'भोगका कर्म' होता है। श्रद्धा इसी प्राथमिक अनिवार्यताकी पूर्तिमें लगी।

मनुके चले जानेपर भी वह अपनी व्यक्तिगत व्यथाको सहकर कर्तव्यका पालन करती रही। उसकी कर्म शीलताका ही फल है 'मानव'का उत्कृष्ट व्यक्तित्व। 'मानव'के व्यक्तित्वकी सम्पूर्ण गौरवास्पद रेखाएँ उसके (श्रद्धाके) हृदयकी साधोंकी प्रतिकृतियाँ हैं। उसने अपनेको 'मानव'में खपा दिया। यही कारण था कि 'मानव' विनष्ट सारस्वत समाजको आनन्द शिखरतक ले जा सका। श्रद्धाके इस मौन, गुरु, कर्तव्य-साधनाका सम्यक् बोध न प्राप्त करनेके कारण ही लोगोंको उसमें कर्म शीलताका अभाव दिखायी देता है।

'निर्वेद' सर्गमें मनुके भग जानेके उपरान्त श्रद्धाके सम्मुख दो कर्तव्य अपनी अपनी पूर्तिके लिए प्रस्तुत होते हैं। एक है 'इड़ा'की सहायता करके उसके प्रदेशकी स्थितिको ठीक करना तथा मनुके दुर्व्यवहारका प्रतिदान करना। दूसरा कर्तव्य है अपने पतिको ढूँढकर उसकी अशान्तिको दूर करना। सारस्वत प्रदेशमें रहकर वह केवल प्रथम कर्तव्यका पालन कर सकती थी। अतएव अपने स्थानपर उसने अपने पुत्रको नियोजित किया। वह जानती थी, और उसे पूरा विश्वास था कि उसका पुत्र उस कार्यको सम्पन्न कर सकता है। अत उसने स्वयं अपने पत्नी-कर्तव्यका पालन करनेके मार्गपर पैर बढ़ाया।

कहा जा चुका है कि जीवनकी प्रत्येक परिस्थितिसे तादात्म्य स्थापित करके अपने कर्तव्यका निष्ठापूर्ण पालन करना श्रद्धाकी मूल प्रकृति थी। उसकी इसी प्रकृतिने इस स्थितिमें उसे प्रेरित किया। श्रद्धाका मनुको ढूँढने निकल जाना तथा मानवका कर्म नियोजित होना 'कामायनी' काव्यकी आत्मा (रस)की भी माँग है, जिसकी चर्चा मैं 'रस विमर्श'के प्रकरणमें करूँगा। इसलिए यह कहना ठीक नहीं है कि श्रद्धा केवल 'रस पगी रही', या उसमें बुद्धि और कर्म-पक्षका अभाव था।

'आसुर'की चर्चामें कहा गया है कि श्रद्धाका ऐतिहासिक व्यक्तित्व कृषिकाका था। 'प्रसाद'जीकी कल्पनामें इस व्यक्तित्वका बिम्ब निरन्तर बना था। उनके नारी-

आदर्शको इसमें उत्कृष्ट आधार प्राप्त हो उठा। अतएव कन्या, किशोरी, प्रेयसी युवती, सखी-मुग्धा, पत्नी, जाया एवं माता आदि नारीके सभी उत्कृष्ट बिम्बोंको कविने एक सूत्रमें, एकत्र, पिरोनेका संबल पा लिया। व्यष्टि-जननीके भीतरसे विश्व-मंगल माँकी अवतारणा नारीका मोक्ष है। श्रद्धाको कविने इसी भूमितक उठाया है। मनुने उसकी इसी चरम परिणतिको देखकर कहा था—

"तुम देवि! आह कितनी उदार,
यह मातृ मूर्ति है निर्विकार।"

यह निर्मल मातृत्व नारीकी, रतिकी, वह उच्चभूमि है जहाँ वह अनंग स्वरूप होकर 'पूर्णकाम' हो जाती है। रति-कामना अभेद स्थापित हो जाता है।

अपने इस रूपमें नारी अपने पति (नर)के तृषित कामको भी उसी भूमिपर उठा ले जाती है। मनुने जब उसके इस भव्य, ज्वालादीपित, रूपका दर्शन किया तो वे भी आप्तकाम हो गये।

सृष्टिका मंगल आप्तकाम ही कर सकते हैं। वे ही सारी सृष्टिको आत्मशक्तिकी उल्लासपूर्ण क्रियासे हरी भरी कर देते हैं, वे ही नरानरपर सुहागकी वर्षा करते हैं। श्रद्धाका व्यक्तित्व अन्ततः इसी कोटिका था। 'आनन्द' सर्गमें जिस परिवेशका बिम्ब कविने प्रस्तुत किया है, वह पूर्ण-काम श्रद्धा-मनुकी आत्मानन्द-ज्वालाकी 'सुहाग वर्षा'का ही परिणाम है। 'आनन्द' सर्गमें इडा श्रद्धाके इसी प्रभावको स्पष्ट करते हुए कहती है—

"वरदान बने फिर उसके
आँसू, करते जग-मंगल
सब ताप शांत होकर, वन
हो गया हरित, सुख शीतल
गिरि निर्झर चले उछलते
छायी फिरसे हरियाली
सूखे तरु कुछ मुस्काये
फूटी पल्लव में लाली।"

अन्तमें अब इतना ही कहना है कि श्रद्धा प्रसादके (मानवीय और कवि) व्यक्तित्वका चरम निखार और मूल्य है।

इड़ा

'कामायनी' काव्यकी दूसरी नारी है इडा। कहा जाता है कि बुद्धिका 'प्रतीक' होनेके कारण उसके व्यक्तित्वका पूर्ण परिस्फुटन नहीं हो सका। परन्तु यह बात नहीं है। प्रायः लोग 'कामायनी'का अध्ययन करते समय उसकी कथा और पात्रोंकी प्रती-

कात्मकताको ही प्रमुख मान लिया करते हैं; जब कि (जैसा कहा जा चुका है) कविने इस काव्यको इतिहास भूमिपर ही वितन्वित किया है; उसने उसे ऐतिहासिक विधान ही प्रदान किया है और उसके द्वारा ऐतिहासिक उपलब्धि प्रस्तुत की है। हाँ, उसमें प्रतीकात्मकता भी है, परन्तु वह इसलिए कि उसका समावेश कथामें प्राचीन कालसे ही हो गया है। अतः कुछ ही सीमातक हम उसमें प्रतीकार्थ पा सकते हैं। प्रतीक-दृष्टिसे यदि हम पूरे कथा विन्यास या पात्रोंके चरित्रपर विचार करेंगे तो हमारी उपलब्धि कभी भी सही नहीं हो सकती है।

इसलिए यदि हम इडाके व्यक्तित्वमें कुछ सीमातक ही 'प्रतीकात्मता' देखकर उसके व्यक्तित्वके अधिकांशको ऐतिहासिक मानकर विचार करें तो हमे उसके व्यक्तित्व का पूर्ण परिस्फुटन इस काव्यमें मिलेगा। 'आमुख'की चर्चामें मैं इडाके ऐतिहासिक व्यक्तित्वकी ओर सकेत कर आया हूँ। मनुने इडाकी ओर आकर्षित होकर श्रद्धाको छोडा, इडाकी सहायतासे सुख-साधन जुटाया और अन्तमें उसपर बलात्कार करना चाहा जिसके कारण रुद्र क्रुद्ध हो उठे। इडा मनुकी (पुत्री नहीं) पोषिता कही गयी है। ब्राह्मण-कथामें उसे मनुकी दुहिता कहा गया है। दुहिताका शाब्दिक अर्थ है दूहनेवाली; पिता पुत्रीको बराबर देता रहता है इसलिए पुत्रीको भी दुहिता कहा गया। यद्यपि दुहिताकी अन्य व्याख्याएँ भी हैं, परन्तु इस कथामें दुहिताको 'पोषिता'-के ही अर्थमें प्रयुक्त किया गया है। इडा मनुके अंशसे पली हुई थी। अतएव इडापर मनुकी आसक्ति और बलात्कारको एक युवतीके प्रति आसक्ति और बलात्कारके रूपमें ही ग्रहण करना ठीक होगा।

इसके अतिरिक्त इडाको देवोंको चेतना प्रदान करनेवाली भी माना गया है। यह उसका प्रतीकात्मक व्यक्तित्व है। ऊपरकी कथामें भी इडाका प्रतीकात्मक रूप है। अतएव यह ठीक है कि इडाके व्यक्तित्वकी ये ऐतिहासिक रेखाएँ भी प्रमुख रूपसे उसकी प्रतीकात्मकताका ही निदर्शन करती हैं। 'कामायनी' काव्यमें, इडाके इन बिम्बोंके कारण ही पाठकके मानसमें प्रतीकात्मकताका सर्वथा निराकरण नही हो पाता है।

परन्तु ऐतिहासिक काव्यमें कवि नये पात्रकी या किसी पात्र के व्यक्तित्वके नये अंशकी, उद्भावना करते हैं। 'प्रसाद'ने इडाको मानवीय बिम्बमें भी उद्भावित किया है, क्योंकि जैसा कि हम देखेंगे, उसके नारी-हृदयकी लौकिक अभिव्यक्ति भी काव्यमें पर्याप्त है। अत हम कह सकते हैं कि प्रसादने 'इडा'के रूपमें एक ऐसी नारीको प्रस्तुत किया है जो देव संस्कृतिको चेतना प्रदान करनेवाली, सुख-साधन जुटानेवाली, बुद्धि शक्तिसे भरपूर थी। सर्वप्रथम हमें इडाका दर्शन एक ऐसी बालाके रूपमें होता है, जिसके लिए कविका कहना है कि—

"वह नयन महोत्सव की प्रतीक अम्लान नलिन की नव माला
सुषमा का मण्डल सुस्मित-सा बिखराता संसृति पर सुराग
सोया जीवन का तम विराग।"

इसीके साथ कविने उस बालाका जो बिम्ब 'बिखरी अलकें ज्यों तर्क जाल'...

इत्यादि पंक्तियोंमें अंकित किया है वह अपूर्व कला शक्तिका परिचायक है। एक ही साथ कविने इड़ाके ऐतिहासिक (मानवीय) और प्रतीकात्मक दोनों रूपोंका अंकन कर दिया है। नीचेकी पंक्तियोंमें भी इसी दक्षताके साथ इड़ाका रूप प्रस्तुत किया गया है—

"प्रतिभा प्रसन्न मुख सहज खोल
वह बोली 'मैं हूँ इड़ा, कहो तुम कौन 'यहाँ पर रहे डोल।'
नासिका नुकीलीके पतले पुट फरक रहे कर स्मित अमोल।"

इस बालाने मनुके निराशा-जर्जरित हृदयमें अपनी वाणीसे उल्लास, स्फूर्ति और सक्रियताकी दीप्ति भर दी। उनके 'जीवन निशीथका अंधकार' फट गया, उनके लिए सुख-साधनका द्वार अनावृत हो उठा और उनका सोया पौरुष कर्मकी रागपूर्ण साधनामें लीन होनेके लिए उठ खड़ा हुआ। ऋग्वेदमें इड़ाको मनुकी पथ प्रदर्शिका और देवोंको सुख-साधन जुटानेवाली कहा गया है। कविने उसके इस वैशिष्ट्यका पूरा बोध करा दिया, परन्तु इस प्रसंगमें मनुकी ये पंक्तियाँ उद्धरणीय हैं—

"अवलंब छोड़ कर औरों का जब बुद्धिवाद को अपनाया।
मैं बढ़ा सहज, तो स्वयं बुद्धि को मानो आज यहाँ पाया।"

स्थूलाक्षरित वाक्यांशसे कविने हमें यह संकेत दे दिया कि हम इस बाला (इड़ा)-को 'बुद्धि'का प्रतीक ही न मानें। प्रतीक होनेके अतिरिक्त और उससे बढ़कर, उसका दूसरा (अर्थात् ऐतिहासिक पात्रका) भी व्यक्तित्व है। मनुके इस कथनका अर्थ यही है कि 'अन्योंका साथ छोड़कर जब मैं बुद्धिवादके मार्गपर बढ़ा, तो आज तुम्हारे रूपमें मानो मुझे साक्षात् बुद्धि मिली।' यह 'मानो' शब्द ही प्रकट कर देता है कि कविने उसे बुद्धि प्रधान प्रकृतिकी नारी ही चित्रित किया है। वह प्रेयवादिनी है और मानती है कि मनुष्यमें अपार बौद्धिक शक्ति है जिसके द्वारा प्रकृतिसे संघर्ष करके वह समस्त ऐश्वर्योंको पा सकता है, मनुष्य स्वयं अपना भाग्य विधाता है।

इड़ा की सहायतासे मनुने 'सारस्वत संस्कृति'की स्थापनाका प्रयत्न किया, और उस प्रदेशकी पर्याप्त भौतिक उन्नति भी हो गयी। इड़ा मनुको निरन्तर नूतन भौतिक उन्नतिके लिए प्रेरित करती रही, उनके आकांक्षा क्षितिजका विस्तार करती रही। मनुके लिए—

"इड़ा ढालती थी आसव, जिसकी बुझती प्यास नहीं
तृषित कण्ठ को पी पी कर भी, जिसमें है विश्वास नहीं।"

इडा के इस 'आसव'का नशा मनुपर इतना छा गया कि वे अपना मानसिक सन्तुलन खो बैठे और इड़ापर ही बलात्कार कर चले, जिसका परिणाम क्या हुआ, यह हम देख आये हैं। हमने यह भी देखा कि इड़ाने उन्हें अखण्ड चेतनका भी बोध कराना चाहा था तथा ऐकान्तिक अधिकार और द्वैत भावनाकी पर्याप्त एवं तर्कपूर्ण कदर्थना की थी। अतएव हम इड़ामें न केवल 'वैश्वानरकी ज्वाला'का दर्शन करते हैं, वरन् 'शीतल सौमनस्य' और निखालिस चेतना भी पाते हैं—

"वह वैश्वानर की ज्वाला-सी मच वेदिका पर बैठी
सौमनस्य बिखराती शीतल, जड़ता का कुछ भास नहीं।"

वास्तवमें इडाको यह तो बोध था कि यह विश्व अनन्त चेतनाका नृत्य है; और वही महाचिति इस विश्वका पर्यवसान है; विश्वका उद्गम, स्थिति और संहार सब उसीमें, और उसीके स्पन्दन द्वारा होता है। महाचितिकी शक्तिका विकोच और सकोच ही सृजन और संहार दो पद हैं। उसने ये सारी बातें मनुको बतायी भी, और मनुको उस अखण्ड चेतनाके दर्शनकी प्रेरणा भी दी, उसके लिए आग्रह किया। परन्तु मनुके असतुलित मस्तिष्कको वह अपनी बात समझा न सकी। क्योंकि यह कार्य बुद्धि शक्तिकी सीमाके परे है, अनुभूतिका विषय है। 'नैषातर्केण मतिरापनेया', उसे तर्क द्वारा नहीं पाया जा सकता है। इडाने मनुको तर्क द्वारा समझाना चाहा, और उसे सफलता न मिली।

इडा प्रलय पूर्व देवोंकी 'अपूर्ण अहता'वाली सस्कृतिकी सस्थापिका रही और प्रलयके उपरान्त उसने मनु देवके द्वारा पुन: उसी सस्कृतिकी स्थापनाका प्रयत्न किया। अतएव 'अपूर्ण अहता'तक ही वह सस्कृति जा सकती थी। क्योंकि 'अनुभूति'का मार्ग इडाको अबतक अज्ञात था। चेतनाकी मूर्ति होकर भी उसमें 'अनुभूति'का स्फुरण अभीतक नहीं हो पाया था। उसकी इसी त्रुटिकी ओर श्रद्धाने 'सिर चढी रही, पाया न हृदय' कहकर उसका ध्यान खींचा। अनुभूतिसे युक्त होनेपर ही चेतना आनन्दकी उपलब्धि कर सकती है। तभी उसे 'विज्ञानकोष'से 'आनन्द-कोष'में प्रवेश मिलता है।

मनुके घायल हो जानेपर, सारस्वत सस्कृतिकी स्थापनाके लिए इस दूसरी बार किये गये प्रयत्नके असफल हो जानेपर, कविने इडाके हृदयको भी स्पन्दित होते हुए दिखाया है। पहली बार इडाका हृदय उसकी बुद्धिके ऊपर आ सका और कविके शब्दोंमें—

"नारी का वह हृदय! हृदय में सुधा सिंधु लहरें लेता
बाड़व ज्वलन उसी में जल कर कचन सा जल रँग देता।
मधु पिंगल उस तरल अग्नि में शीतलता ससृति रचती
क्षमा और प्रतिशोध! आह रे दोनों की माया नचती।"

बुद्धिवादिनी 'इडा'का नारी हृदय आज अपनी अभिव्यक्तिके लिए अनावृत हो उठा। करुणा, सहानुभूति, दया, माया, ममता आदि उसके गुण क्रमश उभरने लगते हैं। 'मनु'के प्रति उसकी सहानुभूतिपूर्ण कृतज्ञताका दर्शन तो हम कर ही आये हैं, दूरसे श्रद्धाकी दीन पुकार सुनकर वह तुरत दौडकर उसके पास जाती है, उसका स्वागत करती है, और उसे अपने स्थानपर ले आती है। कविसे ही सुनिये—

"इड़ा आज कुछ द्रवित हो रही दुखियों को देखा उसने
पहुँची पास और फिर पूछा 'तुमको बिसराया किसने'।
इस रजनीमें कहाँ भटकती जावोगी तुम, बोलो तो
बैठो आज अधिक चचल हूँ, व्यथा गाठ निज खोलो तो।

जीवन की लम्बी यात्रा में खोये भी हैं मिल जाते
जीवन है तो कभी मिलन है कट जाती दुख की रातें।"

श्रद्धाके व्यक्तित्वके सम्पर्कमें आनेपर 'इडा'मे कई और गुण क्रमशः प्रस्फु
टित होते हैं। सर्वप्रथम उसे इस अनुभूतिसे पर्याप्त वेदना हुई कि श्रद्धाके पतिकी
इस दशाका दोष उसीका है'। उसे अत्यन्त संकोच हुआ; और वह मनु-श्रद्धाकी
बात-चीत के अवसरपर 'सकुचित' खडी रही। मनुने उसीके सामने अपने जीवन (श्रद्धा-
के साथ बिताये जीवन) की, तथा श्रद्धाके गुणोंकी जो चर्चा की उसे उसने सुना।
यही कारण था कि उसके मनमें यह बात आयी कि यदि 'मानव' उसकी सहायता
करे तो उसके प्रदेशकी बिगडी दशा सुधर सकती है। उसकी तीक्ष्ण बुद्धिने उसे
यह बता दिया कि 'श्रद्धा'के संस्कारोंमें दीक्षित और उसके 'स्वरस'से ही निर्मित 'मानव'
निश्चित रूपसे उसके अभीष्टको उपलब्ध कर सकता है। कविने उसकी इसी आकांक्षा
की ओर लक्ष्य करके लिखा—

"दिन बीता रजनी भी आई तन्द्रा निद्रा साथ लिये
इड़ा कुमार समीप पड़ी थी मन की दबी उमंग लिए।"

इस उमंगका पता तब चलता है जब श्रद्धा आगे चलकर ('दर्शन' सर्गमें)
इडासे कहती है—

"तू क्षमा न कर कुछ चाह रही, जलती छाती की दाह रही
तो ले ले जो निधि पास रही, मुझ को बस अपनी राह रही"

स्पष्ट है कि 'इडा' 'मानव'की सहायता चाहती थी और श्रद्धाने उसकी
भावना ताड ली। देव सहयोगसे इडा जो कार्य न कर सकी, उसे उसने अब 'मानव'की
सहायतासे पूरा करना चाहा। श्रद्धा और इडाके संवादकी चर्चा की जा चुकी है;
उससे हमें इडाके व्यक्तित्वमें निश्छल भावका गौरव स्पष्ट दिखायी पडता है। उस
अवसरपर उसने जो कुछ कहा है वह उसकी उदाशयताका प्रौढ प्रमाण है। उसने
अत्यन्त निष्कपट भावके साथ अपनेको खोलकर रख दिया; और सच्चे हृदयसे
उसने श्रद्धासे मार्ग-दर्शनकी माँग की। श्रद्धाकी बातें सुनकर, मानवको साथ लेकर,
पूर्ण विश्वासके साथ वह पुन जन-कल्याणके मार्गपर अग्रसर हुई।

अतएव यह कहना सर्वथा ठीक है कि इडाके हृदयमें मनुष्य-जीवनको
कल्याण प्रदान करनेकी अप्रतिहत उमग थी, उसमें जीवनके प्रति अपार ममता थी।
हार मानना उसका स्वभाव ही नहीं था। जन-कल्याणके लिए, सृष्टि मगलके लिए,
निरन्तर कर्मकी साधना करना उसके जीवनका व्रत था। अन्तमें उसे अभीष्ट सफलता
भी प्राप्त हुई। उसका सारा राष्ट्र एक कुटुम्ब बनकर आनन्द शिखरतक पहुँच गया।

इडाका अन्तिम दर्शन हमें आनन्द-यात्राके अवसरपर कविकी इन पंक्तियोंमें
होता है—

"चल रही इड़ा भी वृष के दूसरे पार्श्व में नीरव
गैरिक वसना संध्या-सी जिसके चुप थे सब कलरव।"

× × ×

"वह अपलक लोचन अपने पादाग्र विलोकन करती
पथ-प्रदर्शिका-सी चलती धीरे-धीरे डग भरती।
बोली 'हम जहाँ चले हैं वह है जगती का पावन
साधना-प्रदेश किसी का शीतल अति शांत तपोवन'।"

प्रारम्भमें जिस चचलता और 'हाँ तुम अपने हो सहाय' तथा 'जो बुद्धि उसे न मान नर फिर किसकी शरण जाय'की जिस अहपूर्ण भावनाका परिचय हमें इडाके व्यक्तित्वकी सर्वाधिक उभरी हुई रेखाओंके रूपमे मिलता है, वह सब अब तिरोहित हो गयीं; और उनके स्थानपर उसमें 'सन्ध्या'-सी शान्त एव विश्रामदायिनी (श्रेयमयी) रागपूर्णताका हमें दर्शन होता है।

मानव

'कामायनी' काव्यका यही पात्र मानवीय है; उसकी अवतारणा जल-प्लावनके बाद हुई है। मैं कह आया हूँ कि कविके अनुसार 'मानव' ही वैदिक आत्मवादी तरुण आर्योंका प्रतिनिधि है। साथ ही कविकी सामान्य मानवीय आदर्श-भावनाका उसमें प्रतिफलन भी है। इसलिए वह विशिष्ट होता हुआ भी (अर्थात् मनु-श्रद्धाका पुत्र होता हुआ भी) सामान्य मानव (अर्थात् वैदिक आनन्दवादी तरुण आर्यों एव प्रसादके आदर्श मानव)का प्रतिनिधित्व भी करता है। परन्तु हमें उसकी 'विशिष्टता'का बराबर ध्यान रखना होगा। हमें यह ध्यानमें रखना होगा कि वह विशिष्ट देश और युगसे बँधा था। वह उस युगसे बँधा था जहाँ एक ओर जल-प्लावन-पूर्वकी भोगवादी सुर-सस्कृति फिरसे सजग होकर अपनी स्थापनाका प्रयत्न कर रही थी, दूसरी ओर आनन्दवादी सस्कृतिकी स्थापनाका भी प्रयत्न हो रहा था। वह देव-दर्शन और श्रद्धा द्वारा अभीष्ट नूतन मानवीय आत्मवादी जीवन-दर्शनके सघर्षकालमें उत्पन्न हुआ था।

उसका सामान्य व्यक्तित्व मनोविज्ञानपर गृहीत हो सकता है। काव्यके पात्र इसी अर्थमें सामान्य हो सकते हैं (यदि वह काव्य प्रतीकात्मक नहीं है तो)। ऐतिहासिक काव्यके पात्र मनुष्योंका नहीं वरन् सामान्य मानवीय प्रकृतिका प्रतिनिधित्व करते हैं; तात्पर्य यह है कि उनके व्यवहार सामान्य मानवीय प्रकृतिके नियमोंके अनुसार होते हैं; वे उन सभी लोगोंका भी प्रतिनिधित्व करते हैं जिनकी प्रकृति उनकी प्रकृतिके समान होती है; इसीलिए वे, जाति, राष्ट्र या समुदायके प्रतिनिधि रूपमें भी

प्रस्तुत होते हैं। इन आवश्यक सकेतोंके उपरान्त अब हम मानवके चरित्र पर विचार करेंगे। 'मानव'का प्रथम दर्शन हमे 'स्वप्न' सर्गमें होता है और इस रूपमें होता है—

"मा"—फिर एक किलक दूरागत गूँज उठी कुटिया सूनी
मा उठ दौड़ी भरे हृदय में लेकर उत्कण्ठा दूनी।
लुटरी खुली अलक, रज धूसर बाहें आकर लिपट गई
निशा तापसी की जलने को धधक उठी बुझती धूनी।"

श्रद्धाके यह कहनेपर कि 'तू बडा नटखट हो गया है, अबतक कहाँ घूम रहा था, मैं तुझे डाँटती नहीं कि कहीं तू भी न रूठ जाय'; वह तुरत कह उठता है—

"मैं रूठूँ और मना तू, कितनी अच्छी बात कही
ले मैं सोता हूँ अब जाकर, बोलूँगा मैं आज नहीं।
पके फलों से पेट भरा है, नींद नहीं खुलने वाली"

कविने इन पक्तियोंके द्वारा एक ओर तो 'मानव'की सरल शिशु प्रकृतिकी मस्ती, उल्लासमयता और चचलता आदि को प्रकट किया है, दूसरी ओर उसने स्थूलाक्षरित वाक्यसे यह सकेत भी दे दिया है कि 'मानव'का पोषण मासके स्थानपर फलों अन्नोंसे होने लगा था। और, इस प्रकार हमें 'मानव'के जीवनकी प्रारम्भिक सात्विक सस्कृतिका बोध हो जाता है। श्रद्धामें उसके जन्मके पूर्व ही जिस प्रकार की नव-जीवन पद्धतिकी कल्पना और आकाक्षा थी, वह हम देख आये हैं। वह चाहती थी कि वह पशुतासे उठाकर मनु और (भावी सतति) 'मानव'को औदात्य भूमिपर स्थापित कर दे। मनु तो भाग गये, पर 'मानव'को वह इसी मार्गपर लेकर चली।

'मानव'की दूसरी झलक हमे 'निर्वेद' सर्गमें मिलती है। अब वह किशोर हो चुका है, उसके व्यक्तित्वको कविने निम्नाकित पक्तियोंमें 'बिम्बायित' किया है —

"नव कोमल अवलम्ब साथ में वय किशोर उगली पकडे,
चला आ रहा मौन धैर्य-सा अपनी माता को जकड़े।"

मनु को ढूँढती हुई श्रद्धा अपने किशोर पुत्र मानवका अवलम्ब लेकर चल रही है। मानव अपनी माताको सँभाले हुए इस प्रकार चल रहा है मानो वह मौन धैर्य की प्रतिमा है। यहा हमें 'मानव'का उस प्रकृतिगत विशिष्टताका पता चलता है जो महान् पुरुषोंके लिए अनिवार्य होती है। वह विशिष्टता है सहिष्णुता, धीरता की।

मनुको पहचानकर श्रद्धाने जब उससे कहा कि 'देख, तेरे पिता यहाँ पड़े हैं' उस समय वह ऊँचे मन्दिर, मण्डप, वेदी आदिकी मनोहारिता देख रहा था और उनका कुतूहलपूर्ण आनन्द ले रहा था। माँकी बात सुनकर वह मनुके पास आया, और आते ही कह उठा—

"मा जल दे, प्यासे होंगे, क्या बैठी कर रही यहाँ?"

इस उक्तिमें 'मानव'की कर्मठी सहज प्रकृतिकी ओर स्पष्ट सकेत है। मनु, मूर्च्छित थे, उन्हें उस स्थितिमें देखकर श्रद्धा रोने लगी, जो मनोवैज्ञानिक ही है,

हित होती है। श्रद्धा मनुकी आनन्दवादी प्रणय धारा (देखिए 'रस विमर्श') एक वैयक्तिक साधना-पथपर चली और दूसरी ओर कर्म भूमिपर 'मानव'-इडा चले। दम्पति साधना द्वारा अपने 'काम'की पूर्णता, उदात्तताकी भूमिकाकी ओर बढ़े; 'मानव' 'काम'के कर्तव्य पक्षको सँभालनेमें प्रवृत्त हुआ। दोनों मार्ग, साधना और (निष्काम) कर्म-मार्ग, अन्ततोगत्वा एकमें मिलकर आनदकी भूमिपर अवस्थित हुए। अपने राष्ट्रको लेकर आनन्दकी यात्रा करते हुए 'मानव'का चित्र देखिए—

"वृष रज्जु वाम कर में था, दक्षिण त्रिशूल से शोभित
मानव था साथ उसी के मुख पर था तेज अपरिमित।
केहरि किशोर से अभिनव अवयव स्फुटित हुए थे।
यौवन गम्भीर हुआ था जिसमें कुछ भाव नये थे।"

इस प्रकार आरम्भसे अन्ततक हमें 'मानव'के व्यक्तित्वका गरिमामय रूप देखनेको मिलता है। उसने अपने प्रयत्नोंसे जिस संस्कृति की स्थापना की, प्रसादजी के अनुसार, उसीको आर्यावर्तके प्रबुद्ध तरुण आर्य-संघने सहर्ष स्वीकार किया। इसलिए कहा जा सकता है कि 'मानव' ही (जिसका यौवन गम्भीर हुआ था) वह तरुण आर्य था जिसने अपने पिता मनुके मार्ग दर्शनमें इन्द्रके आत्मवादकी आर्यावर्तमें पूर्ण प्रतिष्ठा की। वह तरुण आर्य-संघका प्रथम नेता बना।

रसकी विवेचना करते हुए प्रसादजीने लिखा है कि "शैवागमके आनन्द सम्प्रदायके रसवादी, रसकी दोनों सीमाओं—शृंगार और शान्तको स्पर्श करते थे। भरतने कहा है—

भावा विकाराः रत्याद्याः शान्तस्तु प्रकृतिर्मतः
विकारः प्रकृतेर्जातः पुनस्तत्रैव लीयते ।

यह शान्त रस निस्तरंग महोदधिकल्प समरसता ही है।" इस कथनका स्पष्ट आशय यह है कि प्रसादजी आनन्दवादी रसका उत्स शृंगार और पर्यवसान शान्त, समरसमें मानते थे। यही रसकी पूर्णता है। शान्त, निस्तरंग, प्रकृतिसे उत्पन्न होकर विकार (भाव) पुनः उसीमें लीन हो जाते हैं, और एक शान्त, निस्तरंग, मनोदशा (चित्त वृत्ति) पुनः उत्पन्न हो जाती है। इसी चित्त-वृत्तिको 'रस' कहा जाता है। यह आनन्द सम्प्रदायके साहित्यकार लोक जीवनके माध्यमसे ही आनन्दकी उपलब्धिका समर्थन करते हैं।(देखिए 'दर्शन विमर्श'), वे अहम् और इदम्का समन्वय लोक-जीवनके माध्यमसे ही करना चाहते हैं, अतएव उनका 'रस' व्यक्ति-चेतना और समष्टि-चेतनाके समन्वयके आधारपर होता है। प्रकृति जन्य व्यक्तिगत विकार विश्व-चेतनामें खपकर शुद्ध, निस्तरंग बन उठते हैं; मानवीय वासनाका व्यक्तिगत आधार तिरोहित हो जाता है, या यों कहिये कि वह विश्व व्यापक हो जाता है, वह सामान्य हो जाता है।

मैंने आरम्भ ही में, और कई अन्य स्थलोंपर भी, यह स्पष्ट कर दिया है कि 'काम'को विश्व चेतनाके रूपमें प्रस्तुत कर देना कामायनीकारको अभीष्ट रहा है, क्योंकि 'आनन्द'की उपलब्धि तभी सम्भव होती है। 'काम'के व्यापक अर्थके अन्तर्गत हमारे सभी विकारोंका समावेश हो जाता है। इस 'काम'को (इन 'विकारों'को) नष्ट करना 'जीवन-देवता' ही को नष्ट करना है, जो ठीक नहीं है। अतएव उसके विस्तार, पूर्णत्वके द्वारा जीवन-देवताकी पूरी एवं आनन्दमयी अभिव्यक्ति वाञ्छनीय होती है। व्यक्ति-चेतनामें ही बद्ध रहनेपर जो 'काम' आत्माका बन्धन होता है, विश्व-चेतनाका आधार पाकर वही मोक्षका साधन होता है। मेरे यह सब कहनेका तात्पर्य यह है कि आनन्दवादी रसके लिए यह अनिवार्य होता है कि व्यक्ति-कामको विश्व-कामसे अभिन्न दिखा दिया जाय।

इस कोटिके 'रस'की दूसरी विशेषता यह होती है (प्रसादजीके शब्दोंमें) कि "चिर विरहकी कल्पना 'आनन्द'में नहीं की जा सकती। शैवागमोंके अनुयायी नाटकोंमें इसी कल्पित विरहका आवरण हटाना ही प्रायः दिखलाया जाता रहा। 'अभिज्ञान शाकुन्तलम्' इसका सबसे बड़ा उदाहरण है। बुद्धिवादके अनन्य समर्थक व्यासकी कृति

महाभारत शान्त रसके अनुकूल होनेपर भी दुःखान्त है। रामायण भी दुःखान्त ही है।" प्रसादजीका यह भी कहना था कि भागवतानुयायी साहित्यका 'परकीया प्रेम' विवेक-की देन है। उसमें रसाभासकी ही कल्पना होती थी, आगमोंके समान अद्वैतमूलक कल्पना नहीं। "समग्र विश्वके साथ तादात्म्यवाली समरसता और आगमोंके स्पन्द-शास्त्रके ताण्डवपूर्ण विश्व नृत्यका पूर्ण भाव उसमें (तात्पर्य भागवतानुयायी परकीया प्रेम-मूलक साहित्यसे है) न था।"

इस उपर्युक्त विवेचनाके सन्दर्भमें जब हम 'कामायनी'की आत्मा (रस)पर विचार करते हैं तो यह स्पष्ट हो जाता है कि इस काव्यका रस 'आनन्दवादी' रस है जिसकी धारा शृंगार और निस्तरंग शान्तकी सीमाओंमें प्रवाहित है। उसका पूर्वार्द्ध शृंगारसे ओत-प्रोत है, उच्छल है; और उत्तरार्द्ध (मनोहर, अनासक्त) कर्मसे, साधनासे, उद्दीप्त होता हुआ शान्तमें पर्यवसित हो जाता है। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इसमें *शृंगार और शान्तकी दो भिन्न धाराओंका समावेश है; इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्तिगत शृंगार ही विश्व-चेतनाका आधार उपलब्ध करता हुआ अद्वैत शान्तमें प्रस्तुत* हो उठा है। और, इसका *आलम्बन परकीया नहीं, स्वकीया है; तथा इसका विरह* मिलनमें परिणत हो गया है।

शृंगार नर-नारीके रति भावका रस होता है। सृष्टिके लिए यौन रति प्रथम अनिवार्यता है; वह प्रकृतिकी मूल माँग है। इसलिए आनन्दवादी, जो लोक-जीवनके त्यागको नहीं वरन् उसके समग्र ग्रहणको श्रेयस्कर मानते हैं, व्यक्तिगत रति-भावके शृंगारको प्रथम महत्त्व प्रदान करते हैं। यह शृंगार परिवार और पारिवारिक जीवनकी भूमिका होता है। केवल शान्तरसका स्थायी भाव निर्वेद (विरक्ति) होता है। परन्तु विश्व-जीवनसे विरक्ति आनन्दवादको अवाञ्छनीय होती है; क्योंकि आनन्दवाद रागसे समन्वित विराग और विरागसे समन्वित रागको स्वीकार करता है। इसलिए केवल विरक्तिमूलक शान्त रसको वह अस्वीकार करता है। गोसाईंजीका भी कहना है—

> "घर छाड़े घर जात है, घर कीन्हें घर जाय
> तुलसी घर बन बीच ही, राम-प्रेम पुर छाय।"

जीवन न केवल घरके भीतरका स्पृहणीय होता है और न केवल घरके बाहर-का जीवन वरणीय एवं श्रेयस्कर होता है। घर और घरके बाहर, दोनोंका समन्वित रूप ही आदर्श जीवन होता है, वही जीवन-मोक्ष है, और वही काम्य होता है। ऐसा जीवन 'विदेह'का जीवन होता है, और 'विदेह' ही आनन्दवादी आचार्योंका आदर्श मानव होता है। इसलिए आनन्दवादी रसमें केवल विरक्तिको स्थान नहीं मिल सकता; उसमें भोग-त्याग, अनुरक्ति विरक्ति, राग विरागका समन्वय अनिवार्य है। और, यह समन्वय व्यष्टि-चेतना तथा समष्टि-चेतनाके एकीकृत रूपकी उपलब्धिके द्वारा ही सम्भव होता है।

'घर-बाहर'की समस्याको आधुनिक युगमें बड़े जोरसे उठाया गया। श्री रवीन्द्रनाथ टैगोरने अपने प्रसिद्ध उपन्यास 'घरे बाहिरे'में और श्री जैनेन्द्रकुमारजीने

'सुनीता' तथा 'काम प्रेम परिवार'में, इसे उठाया। परन्तु दोनों साहित्यकार इसके समाधानमें पूर्णतः असफल रहे। घर और बाहरका सामंजस्य न हो सका। 'सदीप' और 'हरीश' दोनों, क्रमशः 'घरे-बाहिरे' और 'सुनीता'में, बाहरके प्रतीक हैं, वे घरमें लाये गये, पर वे उसमें खपाये न जा सके। घर घर रह गया और बाहर बाहर चला गया। 'काम प्रेम और परिवार'में लेखकने वैचारिक कुहासेमें समस्याको ही तिरोहित कर दिया, समाधान मात्र कुतूहल बन कर रह गया। **यह विवेकवादका परिणाम रहा।**

बात यह है कि 'काम'की जिस व्यापक भावनापर घर-बाहरका समन्वय होता है उसकी स्वस्थ अनुभूति इन दोनों लेखकोंको न मिल सकी। 'काम'की व्यापक भावना 'आत्मवाद'के प्रशस्त क्रोडमें पोषित, पल्लवित और प्रौढ होती है। बातको स्पष्ट करनेके लिए अधिक विस्तार न देकर मैं कहना यह चाहता हूँ कि 'विदेह' मार्गपर चलकर घर-बाहरमें समन्वय स्थापित किया जा सकता है। 'काम'को पहले 'अनंग' (विदेह) बनाकर और फिर उसे स्वीकार करके यदि मानव मुक्त कर्माचरणमें प्रवृत्त हो तो वह घर-बाहरको एक कर सकता है। प्रसादजीने इसी व्यापक कामकी (जो आत्मवादकी ज्वालामें सहज ही अनंग हो जाता है) भूमिकापर घर और बाहरको एकाकार करनेका सफल प्रयत्न किया है, जिसे हम देख आये हैं, और आगे 'दर्शन विमर्श'में देखेंगे। कामकी इस भावनाके आगे घर घर भी रहता है, और वह बाहरसे अभिन्न भी होता है।

आत्मवादी व्यापक काम भावनापर आधारित संस्कृति, वैदिक संस्कृति (या 'कामायनी'में प्रतिपादित संस्कृति)के विषयमें प्रसादजीका यह कथन बड़ा महत्त्वपूर्ण है कि "यह संस्कृति विश्ववादकी विरोधिनी नहीं, क्योंकि इसका उपयोग तो, मानव-समाजमें, आरम्भिक प्राणि-धर्ममें सीमित मनोभावोंको सदा प्रशस्त, विकासोन्मुख बनानेके लिए होता है ('काव्य और कला')।"

उपर्युक्त उद्धरणको ध्यानसे पढ़िये, मूल 'प्राणित्वधर्म सीमित मनोभावों' ('रहस्य' सर्गमें कहा गया इच्छा लोक)को 'सदा प्रशस्त, विकासोन्मुख' (अर्थात् राग कर्म और विराग ज्ञानसे निरंतर समन्वय रखकर उनका विकास, उदात्तीकरण) करना ही ('कामायनी'की) संस्कृतिकी उपादेयता है और यह संस्कृति इसीलिए 'विश्ववाद' को सहज ही अपनेमें समेट लेती है।

इसीलिए आनन्दवादी प्रसादने दाम्पत्य रतिके शृंगार और विश्व रतिके आश्रयसे उत्पन्न होनेवाले शान्त रसका समन्वय किया है, विश्व रतिमें देव-रतिका भाव निहित है क्योंकि आनन्दवादमें माना जाता है कि 'विश्व स्वयं ही ईश्वर है'। यहाँपर इस तथ्यको समझ लेना चाहिए कि यतः आनन्दवाद केवल विरक्तिको नहीं, वरन् उससे सम्पृक्त उल्लास और रतिको स्वीकार करता है, इसलिए उसका (शान्तका) स्थायी भाव भी 'रति' भाव होता है। और यह रति भाव किसी विश्व निरपेक्ष देवके प्रति नहीं,

वरन् इस व्यक्त, गोचर विश्व जीवन देवताके प्रति होता है, और वह देवता है 'काम', जो 'ईश्वरकी अभिव्यक्ति'का सबसे बड़ा व्यापक रूप है।

अतएव अब हम यह निष्कर्ष लेकर आगे बढ़ेंगे कि 'कामायनी'का, जो एक आनन्दवादी कृति है, मूल (स्थायी) भाव 'रति' ही है, भेदके लिए यदि हम चाहें तो इसे आनन्दवादी रति कह सकते हैं। क्योंकि यह रति भोगवादी रति और बौद्धिक रतिसे भिन्न होती है। भोगवादी शृंगारके दोनों पक्षों (सभोग और विप्रलम्भ)मे नर नारीकी रति भावना ही व्याप्त रहती है। उसके सम्भोग पक्षमें तो यौन चेतनाकी उछल कूद रहती ही है, वियोगमें भी उसीकी अतृप्ति—पीडाकी विवृत्ति ही प्रस्तुत की जाती है। रीतिकालीन शृंगार काव्योंके नायक नायिका सयोग और वियोग दोनों स्थितियोंमें भौतिक रति-पीडासे मुक्त नहीं हो पाये। उनके सयोग-उल्लास और विरह रुदनमें वही यौन रति-रस ही निमित रहा। साकेत की उर्मिलाका शृंगार बहुत अशोंमें इसी कोटिका व्यक्त हुआ है। विरहकी दशामें उसे इसी बातका दुःख अधिक है कि 'अब तो कम्बल ही सबल है', यह एकदम भोगवादी रति प्रेरित विरहोद्‌गार है।

दूसरी ओर भागवतानुयायी साहित्यमें वर्णित राधा-कृष्ण या गोपी-कृष्णके शृंगारका आधार विशुद्ध विवेकवादी है। तनकी उष्णता और पार्थिव-तृषाकी तृप्ति अतृप्तिके उल्लास एव पीडाका उसमें अभाव है। उसका सारा प्रणय-व्यापार बुद्धिकी भूमिकापर है, 'ब्याहैं एक करें दस कुब्जा अन्तहु कान्ह हमारे'में बौद्धिक रति ही प्रतिफलित है। यह विवेकवादी रति भोगवादी रतिके ठीक विपरीत होती है।

आनन्दवाद, परन्तु, तनकी भूखको उचित मात्रामें अनिवार्य रूपसे ग्रहण करता है। वह भोगवाद और विवेकवादको जीवनकी मध्यभूमि, कामकी व्यापक भावनासे निर्मित मूल जीवन भूमि, पर अवस्थित करता है। कहा जा चुका है कि वह जीवनके सभी भावोंको स्वीकार करता है, अत नर-नारीका प्रणय (नर-नारीका तन भूख) उसे स्वीकार है। क्योंकि वही भावी जीवनकी स्निग्ध भूमिका है, उसीपर खड़ा होकर व्यक्तिका जीवन अपने लक्ष्यको, चरम पुरुषार्थको, प्राप्त करनेकी साधनामें निरत होता है। यह आनन्दवादी रति सृष्टिकी विकासशील सर्जनात्मक शक्ति होती है, जो 'काम' (प्रकृत वासना)को सन्तुष्ट और मर्यादित करती हुई उस पूर्ण विकासतक उठा ले जाती है। भोगवादी रति 'काम'को विकृत बनाकर उसे विनष्ट कर देती है, विवेकवादी रति उसे लोक भूमिसे काट देती है, और आनन्दवादी रति उसे विश्व भूमिकापर स्वस्थ रूपमें अवस्थित करनेमें समर्थ होती है। हम जानते हैं कि भोगवादी कामको 'आनन्द' (शकर)ने जब भस्म कर दिया, तो उनके सामने 'रति'के रूपमें स्वय सृष्टि शक्ति खड़ी होकर काम-उद्धारकी प्रार्थना करने लगी। उसकी याचनापर 'आनन्द'ने पुन कामको जीवन प्रदान किया, परन्तु उसे 'विदेह' (अनग) बनाकर ही। इसी आनन्दवादी रतिके द्वारा 'भोगवादी कामको 'विदेहत्व' तक ले जानेकी कहानी है 'कामायनी'। यही कारण है कि इस काव्यमें कविने 'काम' को, और 'रति'को क्रमश मनुके और श्रद्धाके सामने प्रस्तुत किया है।

हम यह जानते हैं कि काव्य रसका जो प्रमुख आश्रय-पात्र होता है, उसीके [illegible]थ पाठकका तादात्म्य स्थापित हो पाता है। 'कामायनी'के आनन्दवादी शृंगारका [आ]श्रय है 'श्रद्धा'; उसीमें आनन्दवादी रतिका पूर्ण स्वरूप निहित है। यौन रतिसे लेकर [वा]त्सल्य और चराचर रतितकको उसका हृदय अपनेमें भरे हुए है। 'अभिज्ञान [शा]कुन्तलम्'में जो स्वरूप शकुन्तलाका है, कुछ वैसा ही स्वरूप 'कामायनी श्रद्धा'का [है]। अब केवल एक अन्तिम निवेदन करके मैं रसकी दृष्टिसे 'कामायनी'की कथाका [अ]ध्ययन आरम्भ करूँगा।

प्रसादजीने इसी आनन्दवादी रतिके आश्रयसे उत्पन्न होनेवाले शृंगारके लिए [वि]भाव, अनुभावों और संचारी भावोंका विधान किया है। कविने उन्हीं घटनाओंका [च]यन किया है, पात्रोंके व्यक्तित्वोंके उन्हीं अंशोंका उद्घाटन किया है, उन्हीं मानवीय [क्रि]याओंका अंकन किया है, मूर्तिविधान द्वारा उन्हीं भावों-विचारों-रूपोंको प्रस्तुत किया [है], और संगीत-नृत्य एवं आध्यात्मिकताका उसी मात्रामें अवलम्बन लिया है जिनके [द्वा]रा काव्यका स्थायी भाव (आनन्दवादी रति) अद्वैत, आनन्द, या समरसताकी [भू]मिपर अवस्थित हो सके, जहाँ पहुँचकर प्रकृत वासना (काम) पूर्ण एवं विश्व-[मं]गलसे मंडित श्रेय हो जाय। संक्षेपमें, मैं कहना यह चाहता हूँ कि कविने 'कामा-[य]नी' काव्यका बंधान आगमानुयायी रसवादी नाटक-काव्यका रखा है। इस चर्चाके उपरान्त हम इस 'काव्य'के रसपर विस्तृत विचार करेंगे।

उद्दीपन विभाव

काव्यके आरम्भ ही में हमारे सामने 'हिम गिरिके उत्तुंग शिखर पर' एक पुरुषको भीगें नयनोंसे प्रलय-प्रवाह देखते हुए प्रस्तुत कर दिया गया है; और उसका एक चित्र यह है—

"चिन्ता कातर वदन हो रहा, पौरुष जिसमें ओत-प्रोत
उधर उपेक्षामय यौवन का, बहता भीतर मधुमय स्रोत।"

चिन्ताके आवरणमें पौरुषसे सम्पूरित यौवनके मधुमय (प्रेम) स्रोत (भाव धारा) को झलका दिया गया है। यह है काव्यका नाटकीय आरम्भ। कुतूहल उत्पन्न होता है; हम यह जानना चाहते हैं कि इस युवकका पूर्व-जीवन क्या था, तथा उसके भीतर स्पन्दित (किन्तु उपेक्षित) मधुमय स्रोतका आलम्बन क्या था। इस जिज्ञासाकी शान्ति कवि 'फ्लैश बैक' (पूर्व-कथा)के द्वारा कर देता है। हमारे मानसमें यह 'फ्लैश बैक' प्रकृतितः होता है, इसे स्मृति कहते हैं। वह पुरुष स्मरण करने लगता है कि, कभी उसका वह जीवन था जहाँ,—

"कंकण क्वणित, रणित नूपुर थे, हिलते थे छाती पर हार
मुखरित था कलरव गीतों में, स्वर लय का होता अभिसार।"

× × ×

"वह अनंग पीड़ा अनुभव सा, अग भंगियों का नर्तन
मधुकर के मरंद उत्सव सा, मदिर भाव से आवर्तन।"

× × ×

"अब न कपोलों पर छाया सी, पड़ती मुख की सुरभित भाप
भुज मूलों में शिथिल वसन की व्यस्त न होती है अब माप।" (आदि)

अपने पूर्व जीवनकी स्मृतिमें मनुने जो कुछ इन उपर्युक्त पंक्तियों (तथा अन्य अनुद्धृत पंक्तियों)में कहा है, यदि उस सबके आधारपर उस जीवनके व्यापारोंको रंगमंचपर प्रस्तुत किया जा सके (जो आजके चल चित्रोंके लिए असम्भव नहीं है) तो वह अत्यन्त हृदय-ग्राही अभिनय होगा। फिर भी मनुके देव जीवनके इन विविध रस सिक्त चित्रोंको अपनी कल्पना द्वारा आयत्त कर लेनेपर भी हममें रति भावका उद्रेक, इसलिए, नहीं होने पाता है कि कविने तुरत हमें यह स्पष्ट बता दिया कि उस भोग वादी जीवनके कारण ही उतनी बड़ी आपदा उसके ऊपर टूट पड़ी और उसका प्राय विनाश हो गया।

परन्तु 'चिंता' सर्ग के इन दोनों तथ्यो (अर्थात् भोगवादी देव-जीवनके रसार्द्र चित्रोंके प्रस्तुतीकरण और उसके फलस्वरूप होनेवाले जल प्लावनकी भीषणताके चित्रण)के कारण रसकी दृष्टिसे दो उपलब्धियाँ प्राप्त होती हैं जिनपर हमें ध्यान देना चाहिए। एक तो यह कि मनुकी असहाय स्थिति और उनके वेदनाभिभूत उद्गारोंके कारण हम उनपर तरस खाते हैं, वे हमारी दयाके (सहानुभूतिके) पात्र बन जाते हैं। दूसरे यह कि हम यह जान जाते हैं कि निर्बाध विलास, ऐकान्तिक अधिकार भोग भावना, अमांगलिक है, और इसलिए हममें उसके प्रति वितृष्णा, विरक्ति, उत्पन्न हो जाती है। निर्बाध विलासकी भावना आनन्दवादी रसकी निष्पत्तिमें बाधक है, इसलिए उसके प्रति जुगुप्साका उत्पन्न होना अर्थात् भोगवादका प्रत्याख्यान करना आनन्दवादी रस निष्पत्तिके लिए अनिवार्य है।

यही कारण है कि 'चिन्ता' सर्गमें 'रति'का उद्रेक नहीं हो पाता, केवल उसके लिए उपयुक्त स्थितिका निर्माण हो पाता है। रतिका उद्रेक तब होता है जब हृदयमें आशा, उल्लास हो। और, सौन्दर्यका साक्षात्कार आशा उल्लासका सर्वाधिक कारण होता है। आत्माको अपनेमें लीन कर लेनेकी जो क्षमता सौन्दर्यमें होती है वह अन्य किसीमें नहीं। 'आशा' सर्गमें प्रकृतिके अपूर्व लावण्य, छवि सभारको प्रस्तुत करके रति उद्रेककी पूर्व भूमिका पूरी कर दी गयी है। मनुके सामने (और पाठकोंके सामने भी) विनाशकी भीषणता दूर हो गयी, सुषमाका निखार होने लगा।

"नव कोमल आलोक बिखरता हिम संसृति पर भर अनुराग
सित सरोज पर क्रीड़ा करता जैसे मधुमय पिंग पराग।"

× × × ×

"सिंधु सेज पर धरा वधू अब तनिक संकुचित बैठी सी
प्रलय निशा की हलचल स्मृति में मान किये सी ऐंठी सी।"

और मनुके चारों ओरका संसार अनन्त रमणीयतासे सम्पूरित हो उठा; प्रकृति लताका यौवन भराव पर था।

"अचल हिमालय का शोभनतम लता कलित शुचि सानु शरीर
निद्रा में सुख स्वप्न देखता जैसे पुलकित हुआ अधीर।"

× × ×

"संध्या घन माला सी सुन्दर ओढ़े रंग विरंगी छींट
गगन-चुम्बिनी शैल श्रेणियाँ पहने हुए तुषार किरीट।"

सौन्दर्य 'चेतनाका उज्ज्वल वरदान' होता है और उसका स्पर्श चेतनाकी प्रत्यक्ष उपलब्धि है। 'काम' चेतनाका प्रकृत कम्पन ही है, यह कहा जा चुका है। अतएव अपने परित., ऊपर-नीचे, सौन्दर्यके दर्शनमें निरत मनुका हृदय ,अपने 'चिंताजन्य विषाद'के (जड़ताके स्थानपर) भीतरसे उभरती हुई चेतनाकी इस मूल मधुर स्फुरणा (अनादि वासना)का अनुभव करने लगा—

"जब हो जगी अनादि वासना मधुर प्राकृतिक भूख समान।"

इससे मनु व्याकुल हो उठे, उनके भीतर जो 'मधुमय स्त्रोत' उपेक्षित रहा, प्रकृतिके अनावृत सौन्दर्यने उसका मुँह खोल दिया। मनुका हृदय अकेलेपनकी भावनासे पीड़ित होकर कह उठा—

"कब तक और अकेले, हे मेरे जीवन बोलो।"

इस स्थल पर हमें इस बातको ठीकसे समझ लेना चाहिए कि मनुके भीतरसे कविने उसी 'भूख'को उठती हुई दिखाया है जो प्राकृतिक है और जिसे आनन्दवादमें अनिवार्य रूपसे स्वीकार किया जाता है। 'चिन्ता' सर्गमें भोगवादका प्रत्याख्यान करके और 'आशा' सर्गमें प्रकृतिका सोल्लास सौंदर्य प्रस्तुत करके कविने उद्दीपन विभाव पूरा किया।

आलम्बन विभाव

'श्रद्धा' सर्गमें रति उद्रेकके लिए आलम्बन प्रस्तुत किया गया है। हम देख आये हैं कि इसी सर्गमें काव्यके 'काम'का बीजवपन हुआ है। अब यहाँपर हम यह देख रहे हैं कि यहाँपर आनन्दवादी रसकी निष्पत्तिका आलम्बन प्रस्तुत होता है (उद्दीपन तो पहले ही उपस्थित था), और इस प्रकार प्राथमिक विभाव विधान सम्पन्न हो उठता है। रस निष्पत्तिमें विभावका मौलिक और सर्वाधिक महत्त्व होता है। विभावके स्वरूप विवेचन द्वारा ही हम रसका उपयुक्त बोध पा सकते हैं। जिस प्रकृति और कोटिका विभाव होगा, उसी प्रकृति और कोटिका रस भी होगा। इसलिए विभाव विधानमें कविको, और विभाव विश्लेषणमें समीक्षकको, अत्यधिक जागरूक रहना पड़ता है। काव्यमें जिस स्थलपर विभाव पक्षको प्रथम बार प्रस्तुत किया जाता है उसका महत्त्व और भी अधिक होता है। इसी स्थलपर यदि हम उसे सम्यक् रूपसे ग्रहण न करेंगे तो रस निष्पत्तिके उपयुक्त बोधमें अवरोध होगा।

इसलिए प्रसादजीने बड़े मनोयोगके साथ पूरे एक सर्गमें आलम्बन विभाव प्रस्तुत किया है। (इसके पूर्वके एक सर्गमें, 'आशा' सर्गमें, उद्दीपन पक्षका भी इसी प्रयत्नके साथ वर्णन किया गया है।) आलम्बनके रूपमें 'कामायनी श्रद्धा' सामने आती है। और आते ही उसने नाटकीय प्रश्न किया—'कौन तुम संसृति जल निधि तीर, तरंगोंसे फेंकी मणि एक।' मनुको 'एक झिटका-सा लगा'; वे 'निरखने लगे लुटे-से' कि यह प्रश्न किसने किया!

"और देखा वह सुन्दर दृश्य, नयन का इन्द्रजाल अभिराम
कुसुम वैभव में लता समान, चन्द्रिका से लिपटा घनश्याम।
नील परिधान-बीच सुकुमार खुल रहा मृदुल अधखुला अंग
खिला हो ज्यों बिजली का फूल, मेघ-वन बीच गुलाबी रंग।
आह! वह मुख! पश्चिम के व्योम बीच जब घिरते हों घनश्याम
अरुण रवि मण्डल उनको भेद दिखायी देता हो छवि धाम।"

× × ×

"और उस मुख पर वह मुस्क्यान रक्त! किसलय पर ले विश्राम
अरुण की एक किरण अम्लान अधिक अलसाई हो अभिराम।" (आदि)

'कविहि अरथ बल आखर साँचा', कवियोंके पास अर्थवाही शब्दोंका ही बल होता है। इनके माध्यमसे वे प्रस्तुतका 'अतिशय विधान' करनेमें समर्थ होते हैं। कविकी कल्पना और कला जितनी उत्कृष्ट होगी, उसके शब्दों और उनकी संघटनाओं-में उतना ही अधिक अर्थ, गौरव होगा। कविने उपर्युक्त तथा इस प्रसंगकी अन्य पंक्तियोंमें श्रद्धाका जो शब्द बिम्ब निर्मित किया है उसे यदि पाठककी ग्राहिका कल्पना आयत्त कर ले, तो वास्तवमें वह मनुके समान ही उसे देखकर विमुग्ध हो उठेगा। और मनुके समान वह भी जानना चाहेगा कि—

"कौन हो तुम वसन्त के दूत विरस पतझर मे अति सुकुमार
घन तिमिर में चपला की रेख तपन में शीतल मन्द बयार।"

रतिके उद्रेकके लिए अब और क्या चाहिए! रोमैण्टिक प्रणय और सामान्य रूपक भोगवादी रतिके लिए उपयुक्त आलम्बन प्रस्तुत हो गया। यदि ऐसी स्थितिमें मनु श्रद्धाके हृदयमें रतिकी स्फुरणा दिखा दी गयी होती, तथा उनके हाव भाव, अनुभाव एवं भावाभिभूत मधु सलापको प्रस्तुत किया गया होता, तो पाठकोंको तनिक भी विक्षुब्धि न हुई होती। उससे पाठकोंको रसास्वाद ही मिलता। साधारण रूपसे प्रणयका प्रारम्भ इसी मधुर पारस्परिककी भूमिकामें दिखाया जाता है।

परन्तु अद्वैतमूलक आनन्दवादी रसके लिए उपयुक्त आलम्बनमें अन्त गरिमा का निदर्शन आवश्यक होता है। यही कारण है कि कवि इस प्रसंगमें श्रद्धाके व्यक्तित्व के अन्तर्पक्षका तन्मय और विस्तारपूर्ण उद्घाटन करनेमें प्रवृत्त होता है। श्रद्धाके हृदयकी उन्वारायता, चिन्-शक्तिके प्रति उसके अटूट विश्वास एवं उसकी जगत्लीलाके मांग

ल्कि होनेकी आशापूर्ण भावना, दुःख सुखके समरस बोध, जीवनकी अपार ममता, प्रगतिशीलताका प्रेम, 'विश्वको सौरभसे भरनेवाले' 'सुमन से' खेल खेलनेकी उल्लासपूर्ण आकांक्षा, 'शक्तिशाली हो विजयी बनो'का दृढ निश्चय मानवताकी विजयका अपूर्व उत्साह, सेवा भावना आदि सभी मानवीय उत्कृष्ट गुणोंको कविने इस सर्गमें व्यक्त कर दिया है। वह न केवल मनुको 'तप नहीं केवल जीवन सत्य' बताकर जीवनके उल्लासपूर्ण, आशामय, पक्षकी ओर खींचती है और 'काम'को 'मगल से मण्डित श्रेय' कहकर उन्हें कामसे न झिझकनेकी प्रेरणा देती है, बरन् वह स्वय दया, माया, ममता, विश्वास तथा मधुरिमासे भरा अपने स्वच्छ, निर्विकार, हृदयको भी उनकी सहायतामें प्रस्तुत करती है। कर्तव्यकी गरिमासे आलोकित श्रद्धाका अन्तःकरण हमारे सामने निरावृत कर दिया गया है। और हम कविके शब्दोंमें कह उठते हैं कि यह रमणी वस्तुतः 'हृदयकी अनुकृति बाह्य उदार, एक लम्बी काया उन्मुक्त' है।

× × ×

अनुभाव ओर संचारी भाव

यहाँ आनन्दवादी शृगारका आलम्बन विभाव पूरा हो उठा। मनुकी अन्तःचेतनासे काम उभरता है। 'काम' और 'वासना' सर्गोंमें मनुके कामोभारकी अभिव्यक्ति है, जो काव्य-रसिकोंके सतत आनन्दका कारण बनी रहेगी। नरके जीवनमें नारीका, और वह भी श्रद्धा जैसी नारीका, प्रथम प्रवेश युगान्तरकारी घटना है, नारीके लिए भी यही सत्य है। दोनोंका ससार परिवर्तित हो जाता है, सपनोंसे भर जाता है और जीवन मधु रससे स्निग्ध हो उठता है। विश्वकी सृजनात्मिका शक्ति दो अपरिचितोंको एक करनेकी चेष्टा करती है। यहाँ भी वैसा ही होने लगा—

"दो अपरिचितों से नियति अब चाहती थी मेल।"

पाठक मनु और श्रद्धाके साथ पूर्णतः सहृदय बन जाता है, और दाम्पत्य रतिकी धारामें उसका हृदय प्रवाहित हो जाता है। 'काम' सर्गसे लेकर 'कर्म' सर्गतक नर-नारीके रति मिलनकी कहानी है। इसमें अनुभावों और सचारियोंका वर्णन भी है। इन्हीं सबको पढ़कर कदाचित् आचार्य शुक्लने इस काव्यमें 'मधुचर्याका अतिरेक' ठहराया, जो वास्तवमें इस काव्यमें नहीं है। 'अतिरेक' तो तब होता जब 'रति' भावाश्रित अनुभावों, सचारियों एव काय व्यापारोंको अमर्यादित छोड दिया गया होता। 'काम' सर्गमें जैसे ही मनुमें रति भूख बढ़ने लगती है, उसी समय 'काम' अपने प्रगतिशील स्वरूपकी विश्लेषणा करता हुआ उन्हें बता जाता है कि 'यह नीड मनोहर कृतियोंका, यह विश्व कर्म रगस्थल है।' 'वासना' सर्गमें मनुमें प्रणयजन्य ईर्ष्या जाग्रत होती है, उसे श्रद्धाके गम्भीर व्यक्तित्वके सम्मुख तुरत शान्त कर दिया जाता है। मनुने अधीर होकर 'चेतना समर्पण' किया और श्रद्धा 'सलीण झुक चली' तथा उसने उस

समर्पणको गरिमापूर्ण ढगसे स्वीकार कर लिया, परन्तु उच्छृंखलता कहा नहीं आने पायी। इस पूरे प्रसगको गरिमाकी एक परिधि घेरे हुए है।

'लज्जा' सर्गमें कविने पुरुषके 'चेतना समर्पण'के उपरान्त नारी-हृदयमें उठने-वाली उत्कण्ठा, उल्लास, चिन्ता, बेचैनी, भाव विभोरता आदिकी तरगोंको अपूर्व कौशलके साथ प्रस्तुत किया है; परन्तु नारी हृदयकी इन सभी रति मुग्ध अवस्थाओंको 'लज्जा'से (जिसे प्रसादजी श्रीकी वहन ही मानते थे) स्यमित रखकर ही प्रस्तुत किया गया है। कहीं भी पाठकको ऐन्द्रिक उत्तेजना नहीं मिलती, वरन् उसकी अन्तर्चेतनाको 'पुनः पुनः ह्लादः' ही प्राप्त होता है जो काव्यका औदात्य है। 'कर्म' सर्गमें रति व्यापारकी भी व्यञ्जना करा दी गयी है, परन्तु वह भी प्रसगकी उत्कृष्टता और भव्यतामें शीतल ही बनी रही, उत्तेजना प्रदान करनेवाली नहीं।

इसलिए मैं यह नहीं मानता कि इस काव्यमें मधुचर्याका अतिरेक है। आनन्द, उल्लास और प्रमोदके जीवनको स्वीकार करनेवाले आनन्दवादियोंके लिए इस मात्रा और कोटिकी मधुचर्या स्वीकार करना अनिवार्य है। यदि 'कामायनी'में मधुचर्याका अतिरेक है, तो फिर 'उर्वशी', 'साकेत', कृष्णके लीला-काव्यामें क्या माना जाय? गोसाईंजीका वाटिका प्रसग क्या मधुचर्याके अतिरेक दोषसे फिर वचित कहा जा सकता है? कालिदासके 'मेघदूत' और 'कुमार सम्भवम्'की तो बात ही छोड दीजिये। खैर, मेरा निवेदन यह है कि 'काम' सर्गसे लेकर 'कर्म' सर्गतक (दाम्पत्य) रतिकी जो धारा प्रवाहित है, वह अपनी मोहमुग्धता और शालीनतामें हिन्दी साहित्यमें अपूर्व है।

'कर्म' सर्गमें थोडा 'सस्पेंस', उत्सुकतापूर्ण अवरोध भी आता है जो नाटकीय चमत्कारका अग है। मनुके हिंसा-कार्यसे श्रद्धाको ग्लानि होती है, और रति (मिलन रति)की पूर्णतामें बाधा प्रस्तुत होती है। यह बाधा किस प्रकार दूर हुई, इसे हम देख आये हैं। 'कर्म' सर्गके अन्तमें मिलन-पक्ष पूरा होता है—

"दो काठों की सन्धि बीच उस निभृत गुफा में अपने,
अग्नि-शिखा बुझ गई, जागने पर जैसे सुख सपने।"

विप्रलम्भ शृंगार

यहाँ आनन्दवादी रति धाराने पूर्वोक्त दो सीमाओं (दाम्पत्य रति और शान्त) में से एकका पूर्ण स्पर्श कर लिया। यहाँसे उसका दूसरा पक्ष भी उभरने लग जाता है। नर-नारीके मिलन बिन्दुपर गार्हस्थ्य जीवनका भवन निर्मित होता है, जहाँ जीवन भोग और त्यागको स्वीकार करके चलता है, जो वैयक्तिक तृप्तिके साथ ही त्याग और आत्मविस्तारका आश्रय होता है, जो भोग और कर्तव्यका, प्रेय और श्रेयका, साधना क्षेत्र होता है। श्रद्धा इसी व्यापक काम मार्गपर मनुको ले जाना चाहती थी, इसकी चर्चा की जा चुकी है। पर मनुके अवचेतनमें उभर कर अपनी पुन

स्थापनाका प्रयत्न करनेवाली 'सुर संस्कृति'ने उन्हें इस नूतन व्यापक काम मार्गमें काट-कर अलग कर दिया, भोगवादी देवता आनन्दवादी 'मानव' न बन सका।

"काम जब उत्पन्न होता है, तो द्वैतको लेकर ही। 'स एकाकी न रेमे', वह (ब्रह्म) अकेला रम नहीं सकता था, अत रमणकी इच्छा (काम)से उसने अपनेको एकसे अनेक किया। 'काम'ने अपने इसी मूल, द्वैत-आधारित रूपका बोध मनुको कराते हुए कहा था—

"भुज लता पड़ी सरिताओंकी शैलोंके गले सनाथ हुए
जलनिधि का अंचल व्यजन बना धरणी का, दो दो साथ हुए।" ('काम' सर्ग)

और 'आशा' सर्गमें मनुके भीतर यही द्वैत-आधारित 'काम' (अनादि वासना) की स्फुरणा उत्पन्न हुई थी—

"नव हो जगी अनादि वासना मधुर प्राकृतिक भूख समान
चिर परिचित सा चाह रहा था द्वन्द्व सुखद करके अनुमान।"

परन्तु द्वैतकी 'व्यथा'में ही 'काम'की अगति भी निहित है। उसकी मुक्ति है द्वैतमें पुन. अद्वैतकी अनुभूति पा लेनेमें, या अनेकतामें एकताका दर्शन कर लेनेमें। इसीमें उसकी प्रगति है। अतएव नर नारीके रति मिलनके उपरान्त इस प्रगति-मार्गपर न चलना भोगवादी होना है। आनन्दवादीको इसी द्वैत भावनाके अतिरेक, या ऐकान्तिक द्वैत भावनासे विद्रोह करना पड़ता है। मनुमें भोगवादी द्वैत-मूल रति भावना थी और श्रद्धामें द्वैत-अद्वैत समन्वित, प्रेय-श्रेय समन्वित रति। इन्हीं दो भावनाओंके संघर्ष का परिणाम है मनु श्रद्धाका विरह। ऐकान्तिक द्वैतकी बाधा आनन्दवादी शृंगारका विप्रलम्भ पक्ष है, और उस द्वैतको निस्तरंग समरसताकी अनुभूतिसे भर देना उसकी पूर्णता है।

हमारी सहानुभूति, सहृदयता (समान हृदयशीलता) अन्ततक मनु और श्रद्धा दोनोंसे थी, परन्तु अन्तसे हम केवल श्रद्धाके साथ सहृदय हो पाते हैं। हमारी सम्पूर्ण सहानुभूति उसीके साथ रहती है, क्योंकि मनु उसे ऐसी दशामें छोड़ जाते हैं जिस समय उनके साहचर्यकी उसे अतीव आवश्यकता थी, साथ ही श्रद्धाके किसी जाने या अनजाने दोषके कारण उन्होंने उसका त्याग नहीं किया। मनुने उसे उसकी उच्चाशयताके लिए ही दण्ड दिया, इसलिए हमारा तादात्म्य उनसे नहीं हो सकता। परन्तु इस स्थल पर इस तथ्यकी ओर मैं पाठकोंका ध्यान आकृष्ट कर देना नितान्त आवश्यक मानता हूँ कि फिर भी हम मनुसे घृणा नहीं कर पाते हैं। हम उनपर तरस ही खाते हैं, उनसे घृणा नहीं करते। जिन लोगोंने इस काव्यका पूर्व ग्रह-रहित एवं मननपूर्वक अध्ययन किया होगा, उन्हें यह पता होगा कि 'आशा' सर्गसे ही कविने इस तथ्यका संकेत किया है कि 'मनु सुर-संस्कृति'की छायामें चल रहे थे। मैंने भी 'वस्तु विमर्श'के प्रकरणमें इसकी चर्चा की है। अतएव इस स्थलपर यह सोचकर कि यह व्यक्ति अपने अचेतन मनके संस्कारोंसे विवश है, हम मनुपर तरस खायेंगे न कि उनसे घृणा करेंगे।

यदि हम ऋषि शापको महत्व न दें, तो शकुन्तलाके प्रति दुष्यन्तका व्यवहार अनुत्तरदायित्वपूर्ण ही जँचेगा, कालिदासने शापके द्वारा उसके औचित्यकी स्थापना की है। परन्तु प्रसादजीका आधार तो विशुद्ध मनोवैज्ञानिक है। आधुनिक मनोविज्ञान भी यह मानता है कि मनुष्य कुछ पैतृक विशिष्टता लेकर उत्पन्न होता है; और उसके व्यक्तित्वके विकासमें इन मौलिक विशिष्टताओं, व्यक्तिके परिवेश और उसके सामाजिक जीवन आदि सभीका योग होता है। व्यक्ति कहीं शून्य से उत्पन्न नहीं होता है। उत्पन्न होते ही वह अपनेको किसी-न किसी सांस्कृतिक, या सामाजिक, भूमिकापर पाता है। आगे चलकर उसके व्यक्तित्वका चाहे जो रूप हो, इस प्रारम्भिक संस्कृतिका परोक्ष प्रभाव उसके मूलमें बना रहता है। मनुके जीवनका बचपन ही नहीं, वरन् यौवन भी, कविके अनुसार, देव-संस्कृतिके भोगवादी उपादानोंसे निर्मित था। अतएव, यदि उनमें उस संस्कृतिका अचेतन उभार हो तो वह मनोवैज्ञानिक ही कहा जायगा।

दु ख इस बातका है कि मनोविज्ञानको सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करनेवाले इस युगके हिन्दी समीक्षकोंने मनुके चरित्रके मूलमें व्याप्त इस मनोवैज्ञानिक तथ्यको महत्त्व नहीं दिया। अस्तु, मेरा निष्कर्ष यह है कि इस मनोवैज्ञानिक तथ्यको हृदयगम कर लेनेपर हम श्रद्धाको छोडकर भग जाने मनुके साथ तादात्म्य तो नहीं कर सकते हैं, पर हमारी दया उनके साथ अवश्य रहती है। हम यही कहकर रह जाते हैं कि मनुने बडी भारी गल्ती की, परन्तु इसके कारण हम उन्हें 'खलनायक'के पदपर प्रतिष्ठित नहा कर पाते। इस निष्कर्षका आगे चलकर हमे काम पडेगा, अतः इसे स्मरण रखना चाहिए।

इसके उपरान्त विरहकी स्थिति प्रस्तुत होती है। श्रद्धाके लिए केवल व्यक्तिगत-प्रणय पीडाकी अभिव्यक्तिका काम नहीं है। उसमें दाम्पत्य रतिके उच्चतर स्वरूप वात्सल्यका भी स्रोत तरगायित है। अतएव उसका रति भाव सकुचित नहीं, विकास पथपर है। अब वह रमणी नहीं, प्रेयसी ही नहा, वरन् माँ भी है। उसमें माँकी दर्शनीय गरिमा है। जगदम्बा (सृष्टि शक्ति)के विश्व हृदयका उसे स्पन्दन प्राप्त हो चुका है। जब हृदयमें वात्सल्यका उद्रेक होता है तो ऐंद्रिक रति भावना सयमित हो जाती है। इन्द्रियका उद्दाम वेग वात्सल्यकी मधुरिमामें शान्त हो जाता है। नारीमें वात्सल्यका माधुर्य पुरुषकी अपेक्षा अधिक होता है। पुरुषमें जब इसी कोटिकी मधुरिमा होती है, तो प्रेमचन्दजीके शब्दोंमें, वह महात्मा हो जाता है। महात्माका अर्थ है वह आत्मा जिसका ममत्व सर्वत्व में विस्तार पा ले। माँ बननेवाली श्रद्धाका ममत्व नर नारीकी रति-सुख सीमाको श्रेय बनानेमें प्रवृत्त थी, वह सर्वत्वमें अपने ममत्वका विस्तार चाहती थी, दूसरी ओर मनुका ममत्व और घनीभूत हो रहा था। इसीलिए विरह उपस्थित हुआ। ममत्वके विकोच और आकुचनका सघर्ष छिडा।

यही कारण है कि यद्यपि मनुके विरहमें श्रद्धाको कम पीडा नहीं हुई, परन्तु उस पीडाकी विवृतिमें गम्भीरता, मर्यादा और शान्ति है। साधारण (भोगवादी) नायिकाओंके समान उसमें निराशा, जडता, स्तम्भ, मूर्च्छा आदि न होकर आशा,

चेतना, कर्म दीप्ति आदि गुण हैं। वह 'मानव', वैदिक तरुण आनन्दवादी आर्यों-के ऐतिहासिक प्रसंग 'मानव'की माँ है, उसे उसको जीवन देना है, उसका सवर्धन करना है, उसका नूतन सस्कार करना है। कर्तव्यसे विमुख होकर वह यह सब किस प्रकार कर सकती थी! प्रिय विरहमें यही नायिका शास्त्र वर्णित विप्रलम्भविषयक उन्माद, मूर्च्छा, प्रलाप, स्तम्भ आदि दशाओं व्यापारोंका प्रदर्शन करेगी जिसके सामने कोई अन्य कर्तव्य नहीं है। भोगवादी शृगारमें यही होता है और विवेकवादी शृगार भी इसीका अनुगमन करता है।

रीतिकालीन शृगार-काव्यों और विवेकवादी कृष्ण लीलाविषयक काव्योंको छोड दीजिये, उनमें तो इन सबकी विस्तृत चर्चा ही है, जो कदाचित् उस समयकी प्रवृत्तिके मेलमें थी। परन्तु 'साकेत'में उर्मिलाका विरह निवेदन भी इस कर्तव्य भावनासे रहित है। यद्यपि कविने आजकी मनीषाको सन्तुष्ट करनेके लिए उसे कर्तव्य-क्षेत्र में भी सेनाकी योजना निमित्त खडा कर दिया, परन्तु वह तमाशा-सा ही बनकर रह गयी। दो सर्गोंमें उसको जो स्वरुप प्रदान किया गया वह ऐसी उत्कृष्ट योजनाका भार वहन करनेके लिए प्रौढ़ नहीं था। दुष्यन्तसे त्यक्ता शकुन्तलाकी आँखोंसे एक बूँद आँसू नहीं गिरा और न उसने सखियोंको आत्म पीडा प्रदर्शन द्वारा परेशान ही किया। उर्मिलाके सामने शकुन्तलाकी अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण कर्तव्य थे। शकुन्तलाको तो केवल अपनी और भावी सन्तानकी चिन्ता रही, पर उर्मिलाके सामने तो पूरे राज-परिवार के प्रति कर्तव्य पूरे करने थे। परन्तु कविने परिवारके प्रति उसकी कर्तव्य भावनाको नहीं, वरन् रति-पीडाको ही अधिक सामने रखा। यदि गुप्तजीसे उर्मिलाका एक आँसू कण भरतके सामने गिर गया होता, या पवन द्वारा उसके विरह गीतकी एक भी कडी भरतके कानोंतक पहुँच गयी होती तो इसमें सन्देह नहीं कि भरतका जीवित रहना कठिन था। जिस परिवारमें भरत जैसा नन्दी गाँवका तपस्वी हो, माण्डवी जैसी पतिके पास रहकर भी विरह विधुरा सी योगिनी हो, उसी घरमें उर्मिला जैसी यक्षिणी हो, यह क्या गौरवकी बात है?

तो, मैं कह यह रहा था कि श्रद्धाका विरह कर्तव्यकी गरिमासे परिपूरित है, उसमें निजी वेदना है, पर वह हृदयके गूढ कक्षमें अवस्थित है। इसीलिए कविने उसकी व्यजना भर दी है, न कि भावुकतापूर्ण विवृति। विरहिणी श्रद्धाका एक वस्तु बिम्ब लीजिए—

"कामायनी कुसुम वसुधा पर पड़ी, न वह मकरद रहा,
एक चित्र बस रेखाओं का, अब उसमें है रग कहाँ।
वह प्रभात का हीन कला शशि, किरन कहा चादनी रही,
वह सध्या थी, रवि शशि तारा ये सब कोई नहीं जहा?
जहा तामरस इदीवर या सित शतदल हैं मुरझाये
अपने नालों पर, वह सरसी श्रद्धा थी, न मधुप आये,

यह जलधर जिसमें चपला या श्यामलता का नाम नहीं
शिशिर कला की क्षीण स्रोत वह जो हिमतलमें जम जाये।
एक मौन वेदना विजन की, झिल्ली की झनकार नहीं,
जगती की अस्पष्ट उपेक्षा एक कसक साकार रही;
हरित कुंज की छाया भर थी वसुधा आलिंगन करती,
वह छोटी-सी विरह-नदी थी जिसका है अब पार नहीं।"

अब विरह-दग्धा श्रद्धाके कुछ भाव-बिम्ब भी देख लीजिए—

"आज विश्व अभिमानी जैसे रूठ रहा अपराध बिना,
किन चरणों को धोयेंगे जो अश्रु पलक के पार बहे।"

× × ×

"विस्मृत हों वे बीती बातें, अब जिनमें कुछ सार नहीं,
वह जलती छाती न रही अब वैसा शीतल प्यार नहीं;
सब अतीत में लीन हो चलीं, आशा, मधु अभिलाषायें,
प्रिय की निष्ठुर विजय हुई, पर यह तो मेरी हार नहीं।
वे आलिंगन एक पाश थे, स्मिति चपला थी, आज कहां?
और मधुर विश्वास अरे वह पागल मन का मोह रहा;
वंचित जीवन-बना समर्पण यह अभिमान अकिंचन का,
कभी दे दिया था कुछ मैंने, ऐसा अब अनुमान रहा।"

यदि कोई प्रसादजी द्वारा प्रस्तुत 'श्रद्धा'के इस मर्म भरे शालीन विरहके वर्णनको हिन्दी विरह-काव्योंमें अद्वितीय कहे तो उसे गलत नहीं कहा जा सकता। इस संयमित विरह-व्यंजनाके साथ ही उसके मातृत्वकी झाँकी भी संलग्न कर दी गयी है; अपने पुत्रको, जो दूर जंगलमें देरतक खेलनेके बाद लौटा है, 'श्रद्धा चुम्बन ले प्रसन्न कुछ, कुछ विषादसे भरी रही।'

× × ×

पुनर्मिलन

मनु जब श्रद्धाको छोड़कर चले गये तो 'इड़ा' सर्गमें काम द्वारा उनकी भर्त्सना करायी जाती है, उन्होंने स्वयं अपनी त्रुटियोंका विश्लेषण भी किया है। यह सब पाठकोंके लिए आवश्यक भी था, क्योंकि यह सब उनकी माँगके अनुकूल था। मनुके सामने अब दूसरी नारी आती है, इड़ा। जहाँतक शारीरिक सौन्दर्यका प्रश्न है, वह रतिके आलम्बनके लिए पूर्ण उपयुक्त है। उसका व्यक्तित्व भी भव्य है; वह विशुद्ध चेतनाकी प्रतिमूर्ति-सी है। उसे पाकर मनुकी निराशा घट गयी, उन्हें मानो मनचाहा वरदान मिल गया। परन्तु यह मिलन दो विरोधी रति-प्रवृत्तियोंका था। मनुमें भोगवादी रति थी, और इड़ामें

विवेकवादी रति। एकमें पार्थिव भूख थी, और दूसरेमें इसकी नितान्त उपेक्षा एवं बुद्धि वैभवकी अदम्य स्पृहा। यदि दोनोंमें साम्य था तो वह यह कि दोनों निर्बाध प्रगति या सुख-साधन जुटानेके आग्रही थे, दोनों सुखकी खोजमें मूलतः दुःखवादी थे। दोनों गार्हस्थ्य परिणयकी मर्यादा माननेको तैयार नहीं थे, मनु अपनी अतिपार्थिव एकाधिकार भोग-वृत्तिके कारण, और इडा केवल बुद्धिके द्वारा जीवनकी पूर्णताको पानेके आग्रहके कारण।

पाठक न मनुसे सहृदय हो पाता है और न इडासे। वह इनका शील द्रष्टा भर रहता है, रस नहीं लेता। क्रमशः मनु इडाकी वैज्ञानिक-उपलब्धियाँ, सारस्वत सभ्यताके स्वरूप, मनुकी भोग-भावनाके अन्ध उभार, उनका इडापर किया गया बलात्कार प्रयत्न, प्रजा विद्रोह एवं देव कोप और अन्तमें मनुका मूर्च्छित होना आदि सभीको श्रद्धाके स्वप्न द्वारा प्रस्तुत कर दिया गया है। श्रद्धा मनुको ढूँढती वहाँ पहुँचा दी जाती है, और पुनः—

"आत्मीयता घुली उस घर में छोटा सा परिवार बसा"

मनुके पास श्रद्धाका पहुँचना और उनका उपचार करना यद्यपि श्री मुक्तिबोधजी को ठीक नहीं जँचा, परन्तु काव्य-रसकी माँगके अनुसार यही विधान आवश्यक था। मैं कह आया हूँ कि मनुके प्रति क्षोभ या जुगुप्सा कविने उत्पन्न ही नहीं होने दी। वास्तवमें हम मनुके श्रद्धा त्याग कर्मका ऐसा ही परिणाम देखना चाहते थे। कामके शापने भी ऐसे ही भयानक परिणामका पूर्व-सकेत कर दिया था। हम यह आशा लगाये और माँग किये बैठे थे कि कोई भयानक ठोकर खाकर ही मनुको सही मार्गका बोध होना चाहिए। मनु और इडाका विच्छेद भी हम अभीष्ट था, रस निष्पत्तिके लिए वह आवश्यक था। अतएव मनुको मूर्च्छित देखकर हमारी सन्तुष्टि होती है। साथ ही साथ हमारे हृदयकी आनन्दवादी रति धारा, जो श्रद्धाके हृदयकी व्यापक रति धाराके साथ एक हो चुकी है, मनुको (अचेतन मनसे उभरनेवाले पुराने देव संस्कारोंसे पीडित मनुको) अपनेमें समेटनेके लिए स्पन्दित हो उठती है।

आनन्दवादी 'काम' अन्ततोगत्वा ग्रहण और त्यागमें अभेद स्थापित कर लेता है। वह कर्तव्य मार्गपर आरूढ रहकर सबका समरस ग्रहण करता चलता है। उसमें अपवजना होती ही नहीं, क्योंकि उसमें अकर्तव्यको स्थान ही नहीं होता। कर्तव्य मार्गपर (विदेह मार्गपर) चलनेवाले व्यक्तिका 'स्व' जब 'सब'से अभिन्नताकी अनुभूतिसे सम्पृक्त रहता है, जब मनोवृत्तियाँ प्रमातृपद (आत्म स्थित) हो जाती हैं तो फिर अपवजनाकी समस्या समाप्त हो जाती है। इसलिए श्रद्धाका मनुके पास जाना काव्य-रसके अनुकूल है। यदि कवि इस अवसरपर श्रद्धाके व्यवहारमें मनुके प्रति कठोरता या उपेक्षाका प्रदर्शन करता तो उससे पाठकोंको हैरानी ही होती, और श्रद्धा का व्यक्तित्व अपनी उत्कृष्ट भूमिसे नीचे आ जाता। बुद्धिको ऐसे व्यवहार द्वारा सन्तुष्ट भले किया जाय, और उसके द्वारा नारीका भी मनोविश्लेषण करके उसके औचित्यका

सुदृढ आधार प्रस्तुत कर दिया जाय (आज-कल ऐसा विधान हो भी रहा है), परन्तु एक तो उसके द्वारा काव्य-रसिकोंकी अन्तश्चेतनाको वह आह्लाद नहीं उपलब्ध हो सकता जो प्रसादजीके इस विधान द्वारा मिल पाता है, दूसरे यह कि जिस युगकी यह कथा है और जिस प्रबुद्ध वैदिक आर्य सघकी सस्कृतिका इसमें प्रतिफलन किया गया है उसकी नारी भावनाके विपरीत वह विधान होता। यह ऐतिहासिक दोष भी होता।

तीसरी बात इस प्रसगमें यह भी कथ्य है कि आनन्दवादी शृगार स्वकीयाको स्वीकार करता है और चिर विरहकी कल्पनाके स्थानपर वह विरहके आवरणको हटाकर मिलनका विधान करता है। परकीया और सामान्याकी गति वहाँ नहीं है। वह परिणयमें बँधकर द्वैतमें अद्वैत और फिर अनेकतामें एकताकी अनुभूति पाकर पूर्ण होना चाहता है। इसलिए गृहस्थाश्रममें उसका मर्यादित होना अनिवार्य है। मनु जहाँसे हटे थे, उन्हें वहाँ फिरसे लाना आवश्यक था।

× × ×

शान्तमें परिणति

परन्तु कथा यहीं पर समाप्त नहीं होती, हो भी नहीं सकती थी। वस्तुके अध्ययनमें मैंने 'कार्य'के विचारसे यह देख लिया है कि यह स्थल कथाकी समाप्तिका नहीं, वरन, 'कार्य'की 'प्राप्त्याशा' अवस्थाके उन्मेषका है। अभी कार्यकी दो अवस्थाएँ शेष हैं। रसकी दृष्टिसे भी यह स्थल रस निष्पत्तिका नहीं है। 'कर्म' सर्गमें हमने नर-नारीके रति मिलनको देखा, 'ईर्ष्या' सर्गमें दाम्पत्य-रतिके विरहकी आरम्भिक स्थितिका दर्शन किया, 'इडा', 'स्वप्न' और 'सघर्ष' सर्गोंमें विरह-काल ही प्रसरित है, और 'निर्वेद' सर्गमें पुन हम मिलन देखते हैं, विरह समाप्त हो जाता है। यदि कथा यहीं समाप्त हो जाय तो इससे केवल दाम्पत्य-रतिकी रस-दशा प्रस्तुत हो सकती है, न कि आनन्दवादी वह रस दशा जिसकी दोनों सीमाओं, शृगार और शान्तको, प्रसादजीके अनुसार, आनन्द सम्प्रदायके रसवादी स्पर्श किया करते थे। अभी वह 'निस्तरग, महोदधि कल्प, समरसता' वाला शान्त रस कहाँ उपस्थित हो सका ? अभी शृगारकी धारा (दाम्पत्य रतिकी धारा)-की परिणति शान्त रस धारामें कहाँ हो पायी ! सच पूछिये तो आनन्दवादी रस अभी तक अपनी पहली, या प्राथमिक, सीमाके अन्तिम बिन्दुपर ही पहुँचा है। अभीतक वह रागाश्रित ही रहा, *विरागकी विभूतिका सम्पर्क उसे न मिल सका।*

'निर्वेद' सर्गमें राग धाराको पहली बार शान्तके स्थायीभाव 'निर्वेद'का सम्पर्क प्राप्त हो सका। मैं कह आया हूँ कि 'सघर्ष' सर्गके अन्तमें मनुके अचेतन मनसे उभरने वाली सुर-सस्कृति अपने पुनस्थापन प्रयत्नमें सदाके लिए असफल हो जाती है, और 'निर्वेद' सर्गमें श्रद्धा द्वारा अभीप्सित नूतन सस्कृतिकी स्थापनाकी आशा जाग्रत हो जाती है। ठीक उसी प्रकार हम अबतककी रस विवेचनामें देख आये हैं कि प्रारम्भसे ही मनुमें भोगवादी रति भूलका ही उदय और प्रसार था, और श्रद्धामें आनन्दवादी रतिका। कुछ सीमातक (सभोगतक) तो इन दोनों रतियोंमें विशेष अन्तर न हो

सरा (यद्यपि विद्रोह होता रहा है); परन्तु उसके उपरान्त ही यह द८ और उग्र हो उठा। मनुकी भोगवादी रति भावनाकी अन्तिम हार 'संघर्ष' सर्गमें होती है; और निर्वेद' सर्गमें यह आशा हो जाती है कि अब श्रद्धाकी व्यापक काम-धारा (काम-चेतना)-को मनु ग्रहण करनेकी स्थितिमें आ गये हैं। उनका 'निर्वेद' इन पंक्तियोंमें देखिए—

"किन्तु अधम मैं समझ न पाया उस मंगल की माया को,
और आज भी पकड़ रहा हूँ हर्ष-शोक की छाया को।"

श्रद्धाके परामर्शों, उसकी प्रेरणाओं आदिकी जो कृतज्ञतापूर्ण अभिव्यक्ति मनुने की है (देखिए मूल ग्रंथ) उससे उनके हृदयकी वेदनाका पूरा बोध हो जाता है; ऊपरकी अंतिम पंक्तिमें उनका निर्वेद झाँक रहा है। इन पंक्तियोंको पढ़िये—

"शापित-सा मैं जीवन का यह ले कंकाल भटकता हूँ,
उसी खोखलेपन में जैसे कुछ खोजता भटकता हूँ।
अन्ध तमस है किन्तु प्रकृति का आकर्षण है खींच रहा
सब पर, हाँ अपने पर भी मैं झुंझलाता हूँ खीझ रहा।"

× × ×

"यह कुमार मेरे जीवन का उच्च अंश, कल्याण कला
कितना बड़ा प्रलोभन मेरा हृदय स्नेह बन जहाँ ढला।
सुखी रहे, सब सुखी रहें बस छोड़ो मुझ अपराधी को'
श्रद्धा देख रही चुप मनु के भीतर उठती आँधी को।"

स्पष्ट है कि मनुका 'निर्वेद' अभी आँधी ही है; वह उन्हें कहीं भी ले जा सकता है। ऐसी विरक्तिमूलक, ग्लानि भरी उक्तियाँ वे कई स्थलोंपर कह चुके हैं। इसलिए केवल इन उद्‌गारोंको सुनकर यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि मनुका काम व्यापक हो उठा और उन्हें निस्तरंग, समरस, शान्त, काम-चेतनाकी उपलब्धि हो गयी। हम यह नहीं कह सकते कि मनु राग विराग समन्वित काम मार्ग पर चलने योग्य हो गये।

रसकी दृष्टिसे कथाके यहींपर समाप्त न होनेका एक कारण और है। अबतक श्रद्धाकी व्यापक काम चेतना एक छोटे दायरेमें ही सक्रिय थी, वह केवल 'मानव'का संस्कार कर रही थी। यहाँ पहुँचकर उसका कार्य क्षेत्र विस्तृत हो उठा। उसके सामने भौतिक ऐश्वर्यसे पूर्ण, किन्तु विकृत भोगवादी संस्कृतिसे संघर्ष जर्जरित सारस्वत समाजका 'कंकाल' था जिसमें उसे प्राणवान् 'मानव'की स्थापना करनी थी। 'विजयिनी मानवता हो जाय'का जो उसने स्वप्न देखा था, तथा 'सुमनसे खेलो सुन्दर खेल'की जो प्रेरणा उसने मनुको दी थी उन सबके पूरा होनेका अवसर उपस्थित था। यों कहिये कि अबतक उसने अपनी जिस व्यापक काम-चेतना और कर्तव्य भावनाका सैद्धान्तिक निरूपण किया था उसके व्यवहृत होनेका सुयोग प्राप्त था। कामने कहा था कि 'यह नीड मनोहर कृतियोंका'; वही 'नीड' इस समय

श्रद्धासे मनोहर कृतियोंकी माँग कर रहा था। बुद्धि द्वारा जीवनके पर्याप्त वैभव-साधन एकत्रित किये जा चुके थे, परन्तु जीवन विकास अपने नव-कल्पके लिए, एवं अपनी पूर्णताके लिए, श्रद्धाकी ओर देख रहा था। प्रसादके मनु इस कार्यको नहीं कर सकते थे। अभीतक स्वयं उन्हें न शान्ति मिल पायी थी और न व्यापक काम-चेतना। उनमें प्रतिहिंसा जल रही थी। 'निर्वेद' सर्गके अन्तमें उनकी इस प्रतिहिंसाको भी कविने प्रस्तुत किया है—

> "और शत्रु सब, ये कृतघ्न फिर इनका क्या विश्वास करूँ,
> प्रतिहिंसा प्रतिशोध दबा कर मन ही मन चुपचाप मरूँ।
> श्रद्धा के रहते यह संभव नहीं कि कुछ कर पाऊँगा।
> तो फिर शान्ति मिलेगी मुझको जहाँ, खोजता जाऊँगा।"

ऊपर कहा जा चुका है कि निर्वेद और ग्लानिका राग चालित मनुको स्पर्श भर हुआ; वह केवल आँधी थी। उसमें मनुके भग जानेकी मनोवैज्ञानिक सम्भावना थी। मनोविज्ञानका दृढ मत है कि कुण्ठाका उभार अवश्यम्भावी है; उसकी निकासी अनिवार्य है नहीं तो विकृति बनी रहेगी। इसीलिए प्रसादने कथाको यहींपर समाप्त नहीं किया; और न मनुके द्वारा ही सारस्वत प्रदेशकी पुनर्व्यवस्थाका समारोह कराया। वैसा करना अत्यन्त अमनोवैज्ञानिक हुआ होता। मनुका चरित्र जिन तत्त्वोंपर अन्तक निर्मित किया गया है, उनके विषयमें चाहे ऐतिहासिक मत भेद हों, किन्तु यह मानना होगा कि उनकी माँग इसी विधानकी थी, कि मनु अपने भीतरकी आँधीके झोंकेमें पुनः भटक उठें, उनकी कुण्ठाको निकासी मिले और तब उसका समाधान हो। तभी वह समाधान प्रौढ होगा।

अतएव रसकी दृष्टिसे यह उचित था कि कथाका विन्यास अभी और आगे चले। मनुको कविने जीवनसे, श्रद्धाके साथवाले जीवनसे भी, एक बार पुन. हटते हुए दिखाया। मनु भग चले। 'मानव'को सारस्वत राष्ट्रकी उन्नतिमें नियोजित करके श्रद्धा जब मनुको ढूँढ लेती है, उस समय 'दर्शन' सर्गमें मनुके इन उद्‌गारोंको सुनिए—

> "तुम देवि ! आह कितनी उदार, यह मातृ-मूर्ति है निर्विकार
> हे सर्व मंगले ! तुम महती, सबका दुख अपने पर सहती
> कल्याणमयी वाणी कहती, तुम क्षमा-निलय में हो रहती
> मैं भूला हूँ तुमको निहार, नारी-सा ही ! यह लघु विचार।"

नारीको प्रेयसी, पत्नी रूपमें देखता हुआ नर जब उसके भीतरसे उभरती हुई निर्विकार 'मातृ मूर्ति'का दर्शन कर लेता है, तो उसके व्यक्ति-काम[1] की प्रगतिशील भूमिका उपलब्ध हो जाती है। और जब वह उस 'निर्विकार मातृ मूर्ति'को 'सर्वमगला'के रूपमें देखने लगता है तो उसको भी अपने कामके 'सर्वमगल' रूपकी अनुभूति होने लगती

1. Sex

है। अभीतक मनुने नारीको केवल नारी रूपमें देखा था, सकुचित कार्मकी भूमिपर ही उन्होंने नारीको पाया था। परन्तु अब उनके सामने जो नारी खड़ी थी वह 'विश्व-मंगला मातृ मूर्ति'की विराटतामें परिणत हो गयी। वह अपने व्यवहारसे, मानवको इडा प्रदेशमें विश्व-कल्याणके निमित्त स्थापित करके, अपनी अन्त गरिमामें विराट हो उठी थी। उसने मनुके हृदयको जलानेवाली प्रतिहिंसा भावनाको सर्वदाके लिए समाप्त कर दिया। पश्चात्तापकी ज्वालामें वह भावना भस्म हो गयी। मनुने कहा—

"लघुता मत देखो वक्ष चीर, जिसमें अनुशय बन घुसा तीर"

इस पावन भूमिकापर (जिस समय पाठककी अन्तर्चेतना आनन्दवादी रतिकी गरिमा एव मगलसे परिपूरित धाराका आह्लाद पानेकी उपयुक्त स्थितिमें हुई) कविने 'आनन्द'के विश्व नृत्यको प्रस्तुत कर दिया। यह नृत्य रसोद्रेकका सर्वाधिक समर्थ एव सात्विक साधन है। आत्माको अपने स्वरूपमें रमण करनेका सबसे अधिक अवसर नृत्यके लय द्वारा प्राप्त होता है। उस समय सम्पूर्ण इन्द्रियाँ और चित्त-वृत्तियाँ प्रमातृपद (अर्थात् आत्मनिमग्न) हो जाती हैं। रस निष्पत्तिकी उपयुक्त भूमिका निर्मित हो जाती है।

परन्तु अभी रस निष्पत्ति हो न सकी; यह तो उसकी स्निग्ध उच्चतम भूमिकाका निर्माण भर रहा। 'रहस्य' सर्गमें आनन्द यात्रा (या रस निष्पत्ति)का प्रौढ अवसर आता है, जब कि आत्मस्थित चेतनाकी इच्छा, क्रिया और ज्ञानकी शक्तियाँ अपनी भिन्न सत्ताओंको छोड़कर एक हो उठती हैं। यही 'शान्त निस्तरग महोदधिकल्प समरसता'की स्थिति है, जहाँ पहुँचनेपर—

"स्वप्न स्वाप जागरण भस्म हो इच्छा क्रिया ज्ञान मिल लय थे
दिव्य अनाहत पर निनाद में श्रद्धायुत मनु बस तन्मय थे।"

'तन्मयत्व रस.', यही निस्तरग तन्मयता रस दशा है।

रसकी दृष्टिसे अभी भी कथा पूर्ण न हो सकी। आनन्दवादी आनन्द-दशा शून्यावस्था नहीं होती है, वरन् वह कर्मकी सहज प्रवृत्तिसे निरन्तर स्पन्दित रहती है (देखिए 'दर्शन विमर्श')। मनु और श्रद्धाकी उपर्युक्त आनन्द दशाके भीतर इस स्पन्दन-को दिखानेका काम अभी शेष है, साधना और कर्मकी सम्पृक्तताका दर्शन कराना अभी आनन्दवादी रस निष्पत्तिकी माँग है। दूसरे यह भी कि 'निर्वेद' सर्गमें 'मानव'-को राष्ट्र-व्यवस्थामें निरत छोड़कर ही कथा पूर्ण रस नहीं दे सकती थी। पाठक हृदय रह रहकर उस ओर घूम जाता। अतएव यह आवश्यक था कि उसकी भी झाँकी ऐसी रस भूमिपर प्रदर्शित की जाय। तभी पाठकोंकी अन्तर्चेतनाको उस रस दशामें पूर्णत निमग्न होनेकी स्थिति उत्पन्न होगी। यही रस-समारोह लेकर 'आनन्द' सर्ग प्रस्तुत किया गया है जहाँ न केवल मनु, श्रद्धा, मानव और इडा विशुद्ध, निर्विकार, चेतनकी समरसतामें प्रतिष्ठित दिखाये गये हैं, वरन् सारस्वत राष्ट्रके सभी निवासियों तथा सम्पूर्ण चराचरको उसीमें निमग्न दिखाया गया है—

"समरस थे जड़ या चेतन सुंदर साकार बना था;
चेतना एक विलसती आनन्द अखण्ड घना था।"

इस भूमिपर श्रद्धाका चित्र लीजिए—

"वह कामायनी जगत की मंगल कामना अकेली;
थी ज्योतिष्मती प्रफुल्लित मानस तट की वन बेली
वह विश्व-चेतना पुलकित थी पूर्ण काम की प्रतिमा
जैसे गंभीर महाह्रद हो भरा विमल जल-महिमा।"

मनुकी आत्मानुभूति इन पंक्तियोंमें देखिए—

"अपने दुख-सुख से पुलकित यह मूर्त विश्व सचराचर;
चिति का विराट वपु मंगल यह सत्य सतत चिर सुंदर।"

× × ×

"चेतन का साक्षी मानव हो निर्विकार हँसता सा;
मानस के मधुर मिलन में गहरे गहरे धँसता सा।
सब भेद भाव भुलवा कर सुख दुख को दृश्य बनाता
मानव कह रे! 'यह मैं हूँ' यह विश्व नीड़ बन जाता।"

मनुको 'अहम् भुवः' की अनुभूति हो गयी। और,

"भर रहा अंक श्रद्धा का मानव उसको अपना कर;
था इड़ा शीश चरणों पर वह पुलक-भरी गद्‌गद् स्वर—
बोली देवि 'मैं धन्य हुई हूँ जो यहाँ भूल कर आयी';
हे देवि! तुम्हारी ममता बस मुझे खींचती लायी।"

× × ×

"हम एक कुटुम्ब बना कर यात्रा करने हैं आये;
सुन कर यह दिव्य तपोवन जिसमें सब अघ छुट जाये।"

× × ×

समापन

अन्तमें, हमने देखा कि 'कामायनी'ने एक सफल आनन्दवादी रसकी पूर्वोक्त दोनों सीमाओंका समावेश कर लिया है। आचार्य शुक्लने कहा है कि इसमें समन्वित प्रभावका अभाव है। परन्तु जैसा कि हमने देखा इसका समन्वित प्रभाव ही पड़ता है। 'कार्य'की दृष्टिसे इस काव्यके समन्वित प्रभावकी चर्चा पहले की जा चुकी है। रसकी

दृष्टिसे हमने देख ही लिया कि अथसे इतितक इस काव्यमें आनन्दवादी रसका पूर्ण निर्वाह हो सका है। जहाँतक रसके प्रथम पक्ष (दाम्पत्य रति)का प्रश्न है, वह अत्यन्त समन्वित प्रभावसे पूर्ण है। इसके उत्तर पक्षका स्वरूप ही लोगोंको कुछ विच्छिन्न-सा लगता है। मनुके घायल होनेतककी कथा इस रसकी प्राथमिक सीमाके अन्तिम बिन्दुका स्पर्श कर लेती है। उसके बाद आनन्दवादी रसकी धारा अपनी दूसरी सीमामें प्रवेश करती है और क्रमश बढ़ती हुई शान्त, निस्तरंग, महोदधिकल्प समरसताकी अन्तिम भूमिकाको आच्छादित कर लेती है।

आनन्दवादी 'रति'को यहाँ आकर 'पूर्णकाम' मिला, और दोनों समरस, निस्तरंग, आनन्दमें लीन हो गये। सारस्वत प्रदेशमें किये गये अपने अन्ध भोगवादी कुकृत्यके कारण 'रुद्र'ने मनुको घायल कर दिया, उनका 'काम' निर्वेदसे आवृत हो उठा। ठीक इसी समय श्रद्धाके भीतरसे उठकर रतिने उसे 'आनन्द', शिवके सम्मुख नत मस्तक (पश्चात्ताप पूरित) कर दिया। पुन मनुके मूर्च्छित या नष्टप्राय कामने आनन्दकी ज्वालामें अनंग होकर रति 'मिलन प्रसंग'को पूर्ण बना दिया, चारों ओर आनन्दकी वर्षा-सी होने लगी। अनंग काम और रतिके इस महामिलनका चित्र भी देख लीजिए —

> "चिर मिलित प्रकृति से पुलकित वह चेतन पुरुष पुरातन
> निज शक्ति तरंगायित था आनंद अंबु निधि शोभन।" (आनन्द)

कहा जा चुका है कि प्रकृति (शक्ति)को अपनेमें भरे हुए चेतन पुरुष (महाचिति)की सृष्टि इच्छासे सर्व प्रथम काम और रतिकी उत्पत्ति हुई, अपनी उत्पत्तिके पूर्व वे उसी आनन्द 'अम्बु निधि'में समरस थे। इस समय मनु श्रद्धाके भीतरसे उठकर वे पुन उसी स्थिति, अद्वैत स्थितिको प्राप्त हो गये। काम रतिकी इसी विराटतापर आनन्दकी उपलब्धि होती है, और यहीं 'घर बाहर' सब हो जाते हैं—

> "चेतनका साक्षी मानव हो निर्विकार हँसता-सा
> मानस के मधुर मिलन में गहरे गहरे धँसता सा।
> सब भेद भाव भुलवा कर दुख सुख को दृश्य बनाता
> मानव कह रे! 'यह मैं हूँ' यह विश्व नीड बन जाता।"

व्यक्ति-नीडके स्थानपर मानवका 'विश्व नीड'में, निर्विकार-उल्लासपूर्ण चेतनका साक्षी (द्रष्टा) होकर, रम जाना (कर्माचरण करना) ही घर बाहरकी समस्याका शाश्वत मांगलिक समाधान है। इस समाधानको प्रस्तुत करनेके कारण प्रसादजी आधुनिक युगके विश्व साहित्यमें अपना विशिष्ट स्थान तो रखते ही हैं, हिन्दीमें वे अद्वितीय भी हैं। 'कंकाल'के खोखले मानव शरीरको उन्होंने विदेह कामका अमृत पिलाकर उसे अपूर्व स्वास्थ्य प्रदान कर दिया। यह स्थिति महाशक्तिकी तरंगायित (क्रियाशील) स्थिति ही होती है, वह शून्यावस्था नहीं होती। पूर्वोक्त उद्धरणोंमें इसका स्पष्ट संकेत है।

अतएव हम यह भी नहीं मान सकते हैं कि 'इसके अन्तिम तीन सर्ग आलंकारिक हैं'। आचार्य वाजपेयीजीने अपनी इसी मान्यताके कारण यह भी कहा कि 'कामायनी' का गठन ट्रेजेडीका है। पर हमारा अध्ययन इस मतको सही नहीं मानता है। मैं यह दिखा आया हूँ कि मनुका घायल होना ट्रेजेडी है ही नहीं, पाठकोंको उससे वेदना नहीं सुख-तृप्ति ही होती है, और अन्तिमके सर्ग आनन्दवादी रसकी उपलब्धिके लिए अनिवार्य हैं ['कार्य' की दृष्टिसे भी यह मत स्वीकार्य नहीं हो सकता। इसे पहले कहा जा चुका है]।

आनन्दवाद : स्वरूप और इतिहास

'कामायनी' काव्य एक निश्चित जीवन-दर्शनसे अनुप्राणित है। वह जीवन-दर्शन है वैदिक आर्योंका 'आनन्दवाद', जिसकी विवेचना वैदिक साहित्यमें मिलती है और जिसकी परम्परा आगमोंमें सुरक्षित रही। शैवागमों, शाक्तागमों तथा आगमानुयायी सिद्धोंके साहित्यमें आनन्दवादकी धारा प्रवाहित रही। 'लावनी'के रूपमें, प्रसादजीके अनुसार, यही धारा आधुनिक युगके आरम्भमें विद्यमान थी। तात्पर्य यह है कि यह आनन्दवादी जीवन-दर्शन अत्यन्त पुराकालसे लेकर आधुनिक युगतक किसी-न-किसी रूपमें अपनी साहित्यिक अभिव्यक्ति पाता रहा है। इसके कई मिश्रित रूप भी देखनेमें आते हैं जिनपर प्रसादजीने 'रहस्यवाद' नामक निबन्धमें विचार किया है, परन्तु हम उस विस्तारमें नहीं जाना चाहते।

जीवन और विश्वके मूल तत्वको जान लेनेमें प्रवृत्त मानव मनीषाकी उपलब्धियोंकी संज्ञा है 'दर्शन'। दर्शन जीवन सत्यका अन्वेषण है, उद्घाटन है। भारतवर्षमें वैदिक युग इस कोटिके अन्वेषणका अपूर्व युग था। मनीषी ऋषियोंने सृष्टि-रहस्यको अन्तर्चक्षुओं द्वारा प्रत्यक्ष कर लिया था, वे द्रष्टा कहलाये और उनकी उपलब्धियोंको 'दर्शन' कहा गया। उन्होंने सत्यका मनन किया और आत्माके आलोकमें उसे देखा। उनकी उपलब्धि बुद्धिकी देन नहीं, वरन् (ऋतम्भरा प्रज्ञा) आत्मानुभूतिका फल है। यही कारण है कि भारतवर्षमें 'कवि' और 'मनीषी'को एक माना गया। ऋषियोंकी मनीषा निरन्तर आत्माकी अनुभूतिसे स्निग्ध, आलोकित एवं पुष्ट रहती थी। ऋषियोंकी यह दृढ मान्यता थी कि सत्यको तर्कसे नहीं पाया जा सकता है। भारतीय दर्शन, इसीलिए, 'आत्माकी मनन शक्तिकी उस असाधारण अवस्था'की उपलब्धि है 'जो श्रेय सत्यको उसके मूल चारुत्वमें सहसा ग्रहण कर लेती है'।

इसके साथ ही हमें यह भी ध्यानमें रखना चाहिए कि भारतमें विद्याको शक्ति तभी माना जाता था जब उसका सम्बन्ध जीवनसे हो। जीवनसे विच्छिन्न किसी भी ज्ञानको यहाँपर आदर नहीं मिल सका। हम जानते हैं कि गुरुकुलमें उपस्थित होकर शिष्यको पर्याप्त कालतक गुरुके क्रिया-कलापों, रहन-सहन, आचरण-साधना आदि सभी जीवन-व्यापारोंका अनुकरण करना पड़ता था, और कभी-कभी तो शिष्य गुरुकी आज्ञासे गाय चराने, खेतोंमें काम करने, या ऐसी अन्य सेवाओंको सम्पन्न करनेमें कई वर्ष बिता दिया करते थे, इसलिए नहीं कि इससे गुरु प्रसन्न होकर उन्हें विद्या दान देंगे (कई विद्वानोंने इसीलिए उन ऋषि-गुरुओंको कठोर काम करानेवाले शिक्षक

कहा भी है)। सम्भव है कि यह भी एक कारण रहा हो। परन्तु इसका वास्तविक कारण यह है कि सिद्धान्तको (और वह भी ब्रह्मविषयक सिद्धान्तको) प्रवचनके माध्यमसे पकड़ना न केवल भारी पड़ता है, वरन् उसके भ्रमपूर्ण होनेकी प्रबल सम्भावना बनी रहती है। श्रद्धा और विश्वासके साथ गुरुके आचरणका अनुकरण और आज्ञाओंका पालन करना सुगम होता है। चूँकि वैदिक ऋषियोंका बाह्य-जीवन उनकी विचार-निष्ठाकी सहज अभिव्यक्ति या प्रतीक होता था, अतएव उसका अनुगमन करके शिष्य स्वतः जीवनके गूढ़ रहस्योंको अनुभूत कर लिया करते थे; और जो कुछ कमी रह जाती थी उसे प्रवचन द्वारा गुरु दूर कर दिया करते थे। फिर तो शिष्यके जीवनानुभव और गुरु द्वारा प्राप्त दर्शन दोनों एक होकर परमार्थकी उपलब्धि करनेमें समर्थ होते थे।

कहनेका तात्पर्य यही है कि भारतीय दर्शन जीवनके माध्यमसे पाया और दिया जाता था। वैदिक चिन्तकोंके लिए जीवन और दर्शन, व्यवहार और विचार, यथार्थ और आदर्श, साधना और कर्म अभिन्न थे। श्री मुक्तिबोधजीने वेदान्तके अद्वैत-दर्शनको ही प्रतिक्रियावादी माना है। सम्भव है कि उन्हींके समान कुछ अन्य लोग भी इस प्रकारका चापल्य प्रदर्शित करें, अतएव उपर्युक्त चर्चा कर दी गयी; अन्यथा उसकी आवश्यकता नहीं थी। अब मैं आनन्दवादके स्वरूप, इतिहास और महत्त्वकी विवेचना प्रारम्भ कर रहा हूँ।

×　　　　　　×　　　　　　×

आनन्दवादकी मान्यता है कि चराचर विश्वका मूल कारण एक है और वह 'एक' सत्, चित् और आनन्द है। सम्पूर्ण विश्व उसीकी अभिव्यक्ति है। इसलिए यह विश्व भी सत् है, चेतन है और आनन्द है। विश्वको असत् या मिथ्या मानना गलत है। विश्व सत्य है, जीवन सत्य है। जीवनकी प्रकृति जड़ता (दुःख-विषाद)की नहीं, वरन् चैतन्य-आनन्दकी है। संक्षेपमें 'आनन्दवाद'का यही सिद्धान्त है। यदि इसके आधारपर हम 'आनन्दवाद'की एक कामचलाऊ परिभाषा निश्चित करना चाहें तो वह कुछ इस प्रकार होगी—"आनन्दवाद जीवनकी वह रसात्मक अनुभूति है जो विश्व जीवनको उसके मूल कारण (ब्रह्म)से अभिन्न मानकर उसे सत्, चित् और आनन्द रूप स्वीकार करती है।" इसमें इन तथ्योंका भी समावेश हो जाता है कि उस परम सत्ता (मूल कारण)की इच्छा ही सर्वोपरि है, उसीसे यह विश्व स्पन्दित है; विश्वका प्रत्येक स्पन्दन उसी परम शक्तिकी मूल स्फुरणाका अंश या परिणाम है। इसलिए सर्वभावेन उस परम स्पन्दनको, परमशक्तिकी इच्छाको, श्रद्धापूर्वक स्वीकार करते हुए कर्तव्य कर्म करना आनन्दवादकी अनिवार्य शर्त है। तैत्तिरीय उपनिषद्के ये उद्धरण ध्यान देने योग्य हैं—

"सोऽकामयत। बहुस्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा सर्वमसृजत यदिदं किं च। तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्। तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत्। निरुक्तं चानिरुक्तं च······सत्यं चानृतं च सत्यमभवत्। यदिदं किं च। तत्सत्यमित्याचक्षते।"

अर्थात् "उस परम सत्ताने इच्छा की कि मैं प्रकट हो जाऊँ और प्रकट होऊँ। उसने तप किया। तब उसने सम्पूर्ण गोचर विश्वका सृजन किया। फिर वह स्वयं उसीमें प्रविष्ट हो गया। वह मूर्त और अमूर्त.....सत्य और झूठ सब हो गया। जो कुछ भी गोचर होता है वह सत्य ही है।"

"असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। तदात्मानं स्वयमकुरुत। तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति। यद्वै तत्सुकृतं रसो वै सः। रसम् ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति। को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनंद न स्याद्। एषह्येवानन्दयाति।"
अर्थात् "प्रकट होनेसे पूर्व केवल असत (अव्यक्त) था। उसने स्वयं अपनेको व्यक्त किया। इसलिए वह सुकृत (स्वयं व्यक्त) कहा जाता है। वह रस है। इसी रसको पाकर आत्मा आनन्दी होता है। यदि वह आकाश रूप आनन्द (ब्रह्म) न होता तो कौन जीवित रह सकता है! यह ब्रह्म ही सबको आनन्द प्रदान करता है।"

याज्ञवल्क्यने जनककी सभामें लोगोंको इसी आनन्द ब्रह्मकी व्याख्यामें समझाया था कि "स वा एष महानज आत्माजरोऽमरोऽमृतोऽभयो ब्रह्माभयं वै ब्रह्माभयं हि", "एष त आत्मा सर्वान्तरः" (बृ० ३।४।१) अर्थात् "वह आत्मा महान्, अजर, अमर, अमृत, अभय एवं ब्रह्म है"। "यह तेरा आत्मा ही सर्वान्तर है।" इस प्रकार इन अद्वैतवादी ऋषियोंने एक ही आत्माको सर्वान्तर (सबके भीतर) स्वीकार किया। इसे 'आत्मवाद' भी कहा जाता है। ऋषि याज्ञवल्क्यने अपनी पत्नी मैत्रेयीको समझाते हुए उसे बताया कि 'इस आत्माके कारण सभी वस्तुएँ प्रिय लगती हैं,' तात्पर्य यही है कि चूँकि प्रत्येक वस्तुमें उसीकी अभिव्यक्ति है, अतएव हमें उसमें आनन्द आता है।

केनोपनिषदमें एक शिष्य पूछता है कि—

"केनेषितं पतति मन केन प्राण प्रथमः प्रैतियुक्तः।
केनेषितं वाचमिमां वदन्ति, चक्षुः श्रोत्रं क उ देवो युनक्ति॥"

—अर्थात् "किसके द्वारा स्फूर्ति पाकर, सचालित होकर, यह अन्तःकरण अपने विषयोंमें लीन होता है? किसके द्वारा नियुक्त होकर श्रेष्ठ प्राण चलता है? किसके द्वारा क्रियाशील हुई इस वाणीको लोग बोलते हैं? कौन प्रसिद्ध देव नेत्र-कर्ण आदि इन्द्रियोंको अपने विषयोंमें लगाता है।" इसके उत्तरमें गुरुने उदाहरण सहित इसी तथ्यका बोध कराया कि ब्रह्म ही की शक्तिसे सारे कार्य होते हैं, यह सोचना गलत है कि अपनी स्वतन्त्र शक्तिसे मनुष्य कुछ कर सकता है। तात्पर्य यह कि ब्रह्मकी शक्ति ही हमारे अन्तःकरण (मन), प्राण और इन्द्रियोंको न केवल सामर्थ्य प्रदान करती है वरन् उन्हें कर्ममें प्रवृत्त भी करती है।

श्वेताश्वतर उपनिषद्में सृष्टिविषयक कई मतोंका उल्लेख किया गया है—
"काल स्वभावो नियतिर्यदृच्छा भूतानि योनि पुरुष इति चिन्त्या।
संयोग एषाम् न त्वात्मा भावाद् आत्मापि अनीशः सुख-दुःख हेतो॥"
— अर्थात् "काल, स्वभाव (स्वाभाविक शक्ति), नियति (अदृष्ट या भाग्य), संयोग

(आकस्मिकता), भौतिक तत्वों, योनि (प्रकृति) या पुरुष (जीवात्मा)को लोग विश्वका कारण मानते हैं। परन्तु इनमें से एकको कौन कहे इन सबका योग भी विश्वकारण नहीं हो सकता; क्योंकि जीव भी तो सुख दुःख (पाने)के विषयमें असहाय रहता है; ये सब चेतन आत्माके आधीन हैं।" इसके आगे कहा गया है कि—

"ते ध्यानयोगानुगता अपश्यम् देवात्मा शक्तिम् स्वगुणैर्निगूढाम्
यः कारणानि निखिलानि तानि कालात्मयुक्तानि अधितिष्ठत्येकः।"

—अर्थात् "ध्यान-योगसे लोगोंने, अपने (सत्व-रज-तम) गुणोंसे निगूढ देवात्मा शक्तिका दर्शन किया। वह कालसे लेकर जीवात्मातकके उपर्युक्त सभी कारणों (तथा उनकी संघटना)का नियामक है।" तात्पर्य यह है कि वस्तुतः विश्वका मूल कारण देवात्मा शक्ति है। वह देव और देवात्मा शक्ति क्या है, उसका स्वभाव क्या है इसे समझानेके लिए कहा गया है कि—

"वह एक ऐसा चक्र है जिसमें एक नेमि, तीन वृत्त··पचास अराएँ···आदि हैं। या वह एक ऐसी सरिता है जिसमें पाँच धाराएँ हैं जो पाँच स्रोतोंसे आती हैं, जो उग्र और वक्र हैं, जिनमें ५ उर्मियाँ हैं······आदि।"

इन दृष्टान्तोंसे जहाँ एक ओर यह स्पष्ट हो जाता है कि शरीर एवं सम्पूर्ण चराचर विश्व उसी एक देवात्मा शक्तिकी अभिव्यक्ति है, वहाँ यह भी स्पष्ट होता है कि वह 'देव'-शक्ति स्वभावतः गति या स्फुरणा है। चक्र और सरिता इसी गतिशीलताके बिम्ब हैं। विश्वका मूल (उपादान एवं निमित्त) कारण यह 'देवात्मा शक्ति' स्वयं गति, स्फुरणा, क्रिया है। वह महाचिति है। क्रियामें चेतनाका अन्तर्भाव रहता ही है। अतः विश्व-सृष्टिकी मूल क्रियामें महाचेतनाकी अवस्थिति होती है।

इस शक्तिकी उपासना भारतवर्षमें पुराकालसे विविध रूपोंमें होती आयी है। सृजन, पोषण और संहार इसके कार्य हैं। यह विश्व मंगला और जगदम्बा मानी जाती है; कार्योंके अनुसार इसके विविध नाम हैं। शाक्त इसी परम-शक्तिकी उपासना करते हैं। स्वामी रामतीर्थने अमेरिकामें कहा था :—"इस देशमें आप ईश्वरकी उपासना पिताके रूपमें करते हैं जो कि स्वर्गमें रहता है; परन्तु भारतमें माताके रूपमें भी हम उसकी उपासना करते हैं। भारतीय भाषामें यह शब्द अत्यन्त प्रिय है; परम कल्याण करनेवाला परमप्रिय ईश्वर तत्त्व है।" *त्रिकदर्शनमें शक्ति और शक्तिमानमें अभेद माना* गया है। ३६ तत्त्वोंमेंसे मूर्धन्य तत्त्व शिव है। वह चेतन तो है, पर उसे अपनी चेतनताका बोध नहीं रहता। विश्व-सर्जनकी इच्छा होनेपर उसमें स्फुरणा उत्पन्न होती है; यही स्फुरणा सृजन करती है। सम्पूर्ण विश्व इसी शक्ति, या महाचितिका विराट नृत्य है। इस प्रकार शक्तिको परम सत्ता (शिव)की क्रियात्मक अभिव्यक्ति माना गया। सर्जन-रत शिव ही शक्ति है और अव्यक्त शिवमें शक्ति निहित रहती है; तात्पर्य यह है कि अव्यक्तावस्थामें जो शिव है वही व्यक्तावस्थामें शक्ति।

यह शक्ति आनन्द रूप है। बृहदारण्यकोपनिषद् (४।३।३२)में लिखा है कि

'सभी प्राणी इसी आनन्दके किसी-न किसी अंशको लेकर जीते हैं'। ज्ञानसे या अज्ञानसे सभी प्राणी इसी आनन्दकी उपासनामें रत हैं। आनन्दसे उत्पन्न इस विश्वका अस्तित्व और पर्यवसान सतत आनन्दमय है।

"ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्यस्विद् धनम्।" (ईशोपनिषद्)

"विश्वमें जो कुछ भी जड़ चेतन पदार्थ हैं वे सब ईश्वरसे व्याप्त हैं, अतः उस परमसत्ताकी इच्छासे प्रस्तुत (दी गई) वस्तु या स्थितिका आनन्द लेना चाहिए, किसीके धनका लोभ नहीं करना चाहिए।" इस श्रुतिकी ध्वनि यह है कि "जीवनमें कर्तव्य कर्मोंको (अनाग भावसे) करते हुए सुख-दुःख, जय-पराजय, जो भी मिले उसे उस परमशक्तिका प्रसाद समझकर उसका आनन्द लेना चाहिए, उसका आस्वादन करना चाहिए, अप्राप्यके लिए (अर्थात् जो दूसरोंको मिला है उसके लिए) लोभ नहीं करना चाहिए (इस श्रुतिका अर्थ विद्वानोंने अन्य प्रकारसे भी किया) है।" यही जीवनकी रसात्मक अनुभूति है। हम काव्य-वर्णित प्रत्येक भावका आस्वादन करते हैं, उसी प्रकार आनन्दवादी कर्मयोगी प्रत्येक जीवन स्थितिका आस्वादन करता है।

कहा जा चुका है कि भारतमें विद्याको शक्तिके रूपमें तभी माना जाता रहा है जब वह मनुष्यके सम्पूर्ण व्यक्तित्वके साथ एक हो उठती है, जब कथनी और करनी, ज्ञान और कर्मका पूर्ण सामंजस्य होता है। इसीलिए ऋषि विद्या और अविद्या दोनोंको ग्रहण करने और उनका सामंजस्य करनेका परामर्श देते थे—

"विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयम् सह
अविद्यया मृत्यु तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते।" (ईशोपनिषद्)

"जो (परा) विद्या और अपराविद्या (अर्थात् लौकिक कर्म करानेवाली विद्या) दोनोंको जान लेता है वह अविद्या (कर्मोंके अनुष्ठान) द्वारा मृत्युको पार करके (अर्थात् लौकिक जीवनको सुख-समृद्धिसे सुखी बना करके) ज्ञानके अनुष्ठान (विद्या) द्वारा अमृतको (*आनन्दमय ब्रह्मको*) प्राप्त कर लेता है।"

"अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते
ततो भूय इव ते तमो य उ सम्भूत्या रताः।" (ईशोपनिषद्)

"जो मनुष्य विनाशशील स्त्री, पुत्र, धन, मान आदि भौतिक वस्तुओं (सम्भूति) की उपासना करते हैं वे घोर अन्धकारमें प्रविष्ट होते हैं, और जो संसार जीवनकी उपेक्षा करते हुए केवल परमार्थ (असम्भूति)की उपासनामें लीन रहते हैं वे मानो अधिकतर अन्धकारमें प्रवेश करते हैं।" तात्पर्य यह है कि हमें न तो केवल लोक राग के जीवनमें लीन रहना चाहिए, और न केवल परमार्थकी साधनामें। मंगल और ज्योतिका मार्ग इन दोनोंके, राग विरागके, सामंजस्यमें है। आनन्दवादमें इन्हीं दोनों का सामंजस्य किया जाता है। प्रसादजीने इच्छा, कर्म और ज्ञानका जो समन्वय कराया है वह इस ऋषि मत द्वारा समर्थित है।

भारतीय वैदिक ऋषि कभी भी जीवनसे पलायन करनेके हामी नहीं थे। समृद्ध जीवन उनका काम्य था। ऊषस्, पूषा, इन्द्र, अग्नि, वरुण आदिकी स्तुतियोंमें उनकी भूति प्राप्तिकी प्रबल आकांक्षा व्यक्त हुई है। आनन्द, उल्लास और प्रमोदसे जीवनको परिपूरित देखना इन वैदिक आर्योंकी चरम अभिलाषा थी। उनकी यह दृढ़ आस्था थी कि "आनन्द (ब्रह्म को जाननेवाला व्यक्ति बहुत अन्नों (भोग्य वस्तुओं) वाला और उनके भोगकी शक्तिवाला होता है। वह महान् होता है, पशुओं, सन्तानों, और ब्रह्मतेजसे सम्पन्न होकर वह महान् हो जाता है। उसकी कीर्ति महान् होती है—"महानभवति प्रजया, पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन, महानन्कीर्त्या" (तैत्तिरीय०)। यह 'आनन्द' क्या है, इसे वहींपर यह कहकर स्पष्ट कर दिया गया है कि यह वह अवस्था है जिसमें भोक्ता और भोग्य, अन्नाद और अन्नम् अर्थात् व्यक्ति और शेष विश्व (अहं और इदम्) में अभेद स्थापित हो जाता है। इस अभेदावस्थामें भोक्ता कह उठता है—"अहमन्नम् अहमन्नाद" अर्थात् मैं ही भोग्य वस्तु हूँ और मैं ही भोक्ता हूँ। यह अभेद, अद्वैत, निस्तरंग समरसताकी स्थिति है। 'भूमैव सुखम्' (अर्थात् विराटता ही सुख है)की यही उपयुक्त भूमि है। आनन्दवादी विश्वको परम शक्तिकी मंगल-अभिव्यक्ति मानकर जीवनकी प्रत्येक वस्तु, परिस्थिति और भोग्य फलको आस्वाद्य समझता है तथा अपने कर्तव्य मार्गपर चलता हुआ समरस आनन्द लेता है।

मैं कई स्थलोंपर इस आनन्द मार्गको 'विदेह-मार्ग' बता आया हूँ। इस मार्ग पर आरूढ़ जनकको जब यह सूचना दी गयी कि उसकी राजधानी, मिथिला, जल रही है तो उसने यह कहकर कि "प्रदीप्तायाम् मिथिलायाम् न मे दह्यति किंचन" (अर्थात् इस जलती हुई मिथिलामें मेरा कुछ नहीं जल रहा है) अपनी आनन्द-समरस असंग चित्त वृत्तिका ही स्वरूप निर्देश किया [परन्तु इसका अभिप्राय यह नहीं है कि विदेह-मार्ग निष्कर्मणताका मार्ग है, हम आगे इसपर विचार करेंगे]।

जीवनकी इस आस्वादमूलक स्वीकृतिके कारण ही प्रसादजीको वैदिक संस्कृति अधिक स्पृहणीय जँची थी। 'रहस्यवाद'की विवेचनामें उन्होंने लिखा है कि "प्राचीन आर्य लोग सदैवसे अपने क्रिया-कलापमें आनंद, उल्लास और प्रमोद के उपासक रहे, और आजतक भी अन्यदेशीय तरुण आर्य-संघ आनंदके मूल संस्कारसे संस्कृत और दीक्षित हैं। आनंद-भावना, प्रिय-कल्पना और प्रमोद हमारी व्यवहार्य वस्तु थी। आजकी जातिगत निर्वीर्यताके कारण उसे ग्रहण न कर सकने पर 'यह सेमेटिक है' कह कर सन्तोष कर लिया जाता है। × × × सप्तसिंधु के तरुण आर्योंने आनंदवादी धाराका अधिक स्वागत किया क्योंकि वे स्वत्वके उपासक थे।"

'इन्द्रजाल'में संकलित कहानी 'सालवती'में सालवतीका पिता कहता है—

"आर्योंका यह दल, जो माधवके साथ शतकी अग्नि मुँहमें रखकर सदानीराके इस पार पहले-पहल आया, विचारोंकी स्वतन्त्रताका समर्थक था। कर्मकाण्डियोंकी महत्ता और उनकी पाखण्ड प्रियताका विरोधी यह दल, सब प्रकारकी मानसिक या नैतिक पराधीनताका कट्टर शत्रु था।"

"जीवन पर उसने नये ढगसे विचार करना आरंभ किया। धर्मका ढोंग, उसके लिए कुछ अर्थ नहीं रखता था। वह आर्योंका दल दार्शनिक था। उसने मनुष्योंकी स्वतंत्रताका मूल्य चारों ओरसे आकना चाहा। और आज गगाके उत्तरी तट पर विदेह, वज्जि, लिच्छवि और मल्लोंका जो गणतंत्र अपनी ख्यातिसे गर्वोन्नत है वह उन्हीं पूर्वजोंकी कीर्तिलेखा है।"

प्रसादजी इसी गणतत्रकी जीवन-व्यवस्थाको आनदवादी जीवन-व्यवस्था स्वीकार करते थे।

वैदिक युग में जहाँ एक ओर हमें अद्वैतमूलक इस आनदवादी धाराका दर्शन होता है, वहीं भेदोपासनाका दर्शन भी होता है। इसमें माया (प्रकृति), जीव और परमेश्वर तीनोंको अनादि माना गया है। इसके अनुसार जीव और परमात्मा दोनों नित्य, चेतन और आनदमय हैं, परन्तु अन्तर यह है कि जीवात्मा अल्पज्ञ और भोक्ता है, और परमात्मा सर्वज्ञ तथा केवल साक्षी—

"द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।"

इस उपासना-पद्धतिमें सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य और सायुज्य चार प्रकारकी मुक्तिकी कल्पना की गयी। प्रथम तीन प्रकारकी उपासना पद्धतियाँ साधन और साध्य दोनों स्थितियोंमें भेदमूलक हैं; और अन्तिम उपासना पद्धति केवल साधनामें भेदमूलक है, साध्यकी दशामें वह अभेदमूलक होती है। परन्तु आनंदवादी उपासना साधन और साध्य दोनों दशाओंमें अभेद-अद्वैतमूलक होती है। वह भोक्ता और द्रष्टा दोनोंको एक मानती है। जैसा कि कहा जा चुका है, निगमोंके उपरान्त आगमोंमें और आगमानुयायी सिद्ध-साहित्यमें इस अनन्दवादकी मूल धारा अपनी अभिव्यक्ति पाती रही है। प्रसादजीने लिखा है :—"आनन्दका स्वभाव ही उल्लास है, इसलिए साधना प्रणालीमें उसकी मात्रा उपेक्षित न रही। आगमानुयायियोंने निगमके आनदवादका विचारों और क्रियाओंमें अनुसरण किया। आगमोंमें अद्वैतकी भूमिकापर प्रेम-भक्ति प्रारभ हुई। तैत्तिरीय आदि श्रुतियोंमें इसके लिए आधार मिला। धीरे-धीरे इसमें पाशुपत योगकी प्राचीन साधना पद्धतिके साथ आनद-योजनाके लिए काम-उपासना भी सम्मिलित कर ली गयी। 'तद्यथा प्रियया स्त्रिया सपरिष्वक्तो न बाह्यं किंचन वेद नान्तरम्' (बृहद०) आदि श्रुतियोंके आधारपर रति प्रीति आनदवादी अद्वैत भक्तिमें भरती गई।"

प्रसादजीका अभिमत है कि "इस दार्शनिक सत्यको व्यावहारिक रूप देनेमें किसी विशेष अनाचारकी आवश्यकता न थी। अद्वैतमूलक रहस्यवादके व्यावहारिक रूपमें विश्वको आत्माका अभिन्न अंश शैवागमोंमें मान लिया गया है।" सिद्धोंने यह अनुभूति दृढ़ताके साथ उपलब्ध कर ली थी कि :—

"विषयेषु च सर्वेषु इन्द्रियार्थेषु च स्थितम्।
यत्र यत्र निरूप्येत नाशिवं विद्यते क्वचित्॥"

इसकी ध्वनि यह है कि सर्वत्र 'शिव'की अनुभूति उदय होनेपर, अद्वैत-समरसताकी प्राप्ति होनेपर, व्यक्ति इन्द्रियोंके विषयोंमें रमण करता हुआ भी अकर्तव्य नहीं कर सकता है।

आनन्दवादकी ऐतिहासिक विवेचनाको विस्तार देनेकी आवश्यकता नहीं है। अबतक जो कुछ कहा गया है उससे निम्नांकित महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकालकर हम 'कामायनी'के आनन्दवाद (जो पूर्वोक्त आनन्दवादसे भिन्न नहीं है)की व्याख्या करते हुए उसे ठीकसे समझनेकी स्थितिमें आ गये हैं :—

(क) आनन्दवाद चराचर विश्वको एक आत्माकी अभिव्यक्ति स्वीकार करता है; वह आत्मा एक और 'सर्वान्तर' है। अनेकमें इसी 'सर्वान्तर' आत्मा (विश्वकी आन्तरिक संगति)की अनुभूति ही *ब्रह्मानुभूति है, आनन्द है, रस है।*

(ख) विश्व सत्, चित् और आनन्द है; इसलिए इसकी सभी परिस्थितियों, रूपों, में आनन्द और मंगलका निवास है।

(ग) परम शक्तिके विश्व-नृत्यकी सम-विषम स्थितियोंमें प्रवाहित उसकी आनन्द धाराका आस्वादन करना मानवका परम लक्ष्य है।

(घ) आनन्दवाद भोग, प्रेम और प्रमोदको स्वीकार करता है। वह कामकी व्यापक भावनापर अवस्थित है।

(ङ) आनन्दवाद निष्काम कर्मका दर्शन है; कर्तव्य कर्मकी साधना इसकी सहज प्रकृति है; लोक-कर्मसे वह कभी भी विरत नहीं हो सकता है।

'कामायनी'में आनन्दवाद

परम सत्ता और उसका विश्व-नृत्य

कामायनीकारने उपर्युक्त निगमागम सम्मत आनन्दवादकी मूल विचारधाराका अनुसरण करते हुए एक सत्-चित्-आनन्द आत्माको 'सर्वान्तर' माना है। यह समस्त गोचर विश्व उसीकी आनन्दमयी अभिव्यक्ति है। उसकी सर्जनात्मिका शक्ति उसके विश्व-रूपकी अभिव्यक्ति करती है; वह शक्ति *'लीलामय आनन्द महाचिति'* है :—

"कर रही लीलामय आनन्द, महाचिति सजग हुई सी व्यक्त,
विश्व का उन्मीलन अभिराम इसी में सब होते अनुरक्त।"—(श्रद्धा)

आमोद, प्रमोद, उल्लास उसका वैशिष्ट्य है; क्योंकि वह प्रेम-कला है—

"वह लीला जिसकी विकस चली, वह मूल शक्ति थी प्रेम-कला।"

यह शक्ति रुद्र भी है। मनुके दुराचारपर कुपित होकर उसने अपना रुद्र रूप प्रकट किया :—

"धूमकेतु सा चला रुद्र-नाराच भयंकर, लिये पूँछ में ज्वाला अपनी अति प्रलयंकर।
अंतरिक्ष में महाशक्ति हुँकार कर उठी, सब शस्त्रों की धारें भीषण वेग भर उठीं।"

ऋग्वेदमें रुद्र एक भयंकर देवताके रूपमें माने गये हैं। इस वेदमें एक स्थलपर (१०।९२।९) रुद्रके लिए 'शिव' विशेषण भी आया है, पर यहाँ 'शिव'का अर्थ स्तुत किया जानेवाला (देवता) है। फिर भी ऋग्वेदमें रुद्रके विषयमें ऐसी कई बातें आयी हैं जिनमें वे सभी विशेषताएँ हैं जो उन्हें आगे चलकर 'शिव' रूपमें परिवर्तित होनेपर मिलीं। 'वृषभ' शब्द उनके लिए एक स्थलपर (२।३३) पाँच बार आया है। इसी मन्त्रमें उन्हें धनुष-बाणधारी कहा गया है, और इसी मन्त्रमें 'कुमार' शब्द भी आया है। स्पष्ट है कि शिव-विषयक अधिकांश मताधार ऋग्वेदमें ही मिल जाते हैं। यजुर्वेद (तैत्तिरीय संहिता-६।२।३) में कहा गया है कि रुद्रने असुरोंका वध विध्वंस करके 'त्रिपुर'का दाह किया। शतरुद्रीयमें रुद्र-शिवविषयक सभी मतोंको संग्रहित करके उस ईश्वरवादी वेदान्तका आधार तैयार कर दिया गया जिसकी स्थापना 'श्वेताश्वतर उपनिषद्'में की गई। शतरुद्रीयमें रुद्रको 'पशूनामपतिः' कहा गया है। आगे चलकर शिव-रुद्रविषयक विपुल साहित्य और मतमतान्तर बनते रहे। पर, जैसा कि कहा जा चुका है, शिवमतके प्रमुख मूल तत्व वैदिक युगमें उपलब्ध थे। अतः 'कामायनी'में व्यक्त शिव-रुद्र-भावना शैवागमकी शिव-रुद्र-भावनाका आरोप नहीं, वरन् कथाकी ऐतिहासिक भूमिसे उद्भूत है। रुद्र-शिवकी एक संज्ञा महाकाल भी है। 'रहस्य' सर्गमें कविने लिखा :—

"शक्ति-तरंग प्रलय-पावकका, उस त्रिकोणमें निखर उठा-सा
शृंग और डमरू-निनाद बस सकल विश्वमें बिखर उठा-सा
चितिमय चिता धधकती अविरल महाकालका विषम नृत्य था;
विश्व-रंध्र ज्वालासे भरकर करता अपना विषम कृत्य था।"

फ्रांसीसी दार्शनिक बर्गसाँ मूल सत्ता[1]को चित्, मूल स्फुरणा, गति, क्रिया या कालसे अभिन्न माना है। वैज्ञानिक दृष्टिके कारण वे, (शैव शब्दावलीमें) सक्रिय शक्ति तक ही जान पाये, उसके अव्यक्त रूपको नहीं। वैदिक (और शैवागमकी) भावनामें अव्यक्त और व्यक्त दोनों शक्ति-रूपोंमें एक ही आत्मसत्ता मानी गई है। अतः वह काल नहीं, महाकाल है; उसका नृत्य विराट है। वह नटराज है। वह व्यक्त (अर्थात् काल) रूपमें निरन्तर स्फुरित, गतिशील है; और अव्यक्त (महाकाल) रूपमें स्थिर-समरस, शान्त-निस्तरंग महोदधि।

'आनन्दवाद' इस परम सत्ता महाकाल शिवको मानता है। 'कामायनी'का मुख्यदेव यही महाकाल शिव है जिसको सम्बोधित करती हुई श्रद्धाने कहा था :—

"अचल अनन्त नील लहरोंपर बैठे आसन मारे
देव ! कौन तुम झरते तनसे श्रम कणसे ये तारे"

× × ×

1. Elan Vital.

"प्रखर विनाशशील नर्तनमें विपुल विश्वकी माया
क्षण-क्षण होती प्रकट नवीना बनकर उसकी काया"

× × ×

"यह व्यापार महाबलशाली कहीं नहीं रुकता क्या
क्षणिक विनाशोंमें स्थिर मंगल चुपकेसे हँसता क्या।" ('कर्म' सर्ग)

महाकाल शिवके 'नटराज' रूपकी कल्पना भारतीय (या मानवीय) चिन्तनकी अपूर्व उपलब्धि है। अत्यधिक प्राचीन कालसे यह कल्पना चली आ रही है, और इसने भारतीय धर्म, साहित्य, संस्कृति और कलाको सर्वाधिक रूपसे प्रभावित किया है। सुख-दुःख, उत्थान-पतन, अच्छाई-बुराईके चक्रोंमें विकसित और गतिशील विश्वके व्यक्त रूप और उससे परे अव्यक्त रूप दोनोंमें एक परम सत्ता शिव अवस्थित है। वह देश-कालमें स्थित प्राणियोंके समूहको नष्ट करके अपनेमें समाहित कर लेता है। उसीका नृत्य विश्वका उत्थान-पतनमय इतिहास है। नीचेकी पंक्तियोंमें प्रसादजीने महाकालके नृत्यको प्रस्तुत किया है :—

"वह शून्य असत या अन्धकार, अवकाश-पटल का वार पार;
बाहर-भीतर उन्मुक्त सघन, था अचल महा नीला अंजन
भूमिका बनी वह स्निग्ध मलिन, थे निर्निमेष मनुके लोचन;
इतना अनन्त था शून्य-सार, दीखता न जिसके परे पार।" ('दर्शन' सर्ग)

ऋग्वेद (१०।७२।२)में बृहस्पतिने कहा है कि 'असतः सदजायत' अर्थात् असत् (अव्यक्त)से सत् (व्यक्त) उत्पन्न हुआ। ऋग्वेद (१०।१२९)में सृष्टिकी मूल सत्ताके विषयमें जिज्ञासा करते हुए उसे 'तदेकम्' कहा गया है, और यह माना गया है कि उसे किसी भी विशिष्टता—गुणसे युक्त नहीं कहा जा सकता है। उसके विषयमें कुछ नहीं कहा जा सकता है। उसकी इस स्थितिको असत्, शून्य, अशून्य, अंधकार आदि सब कहा जा सकता है, और नहीं भी कहा जा सकता है। उपर्युक्त पंक्तियोंमें यही अव्यक्त-अनिर्वचनीय सत्ता प्रस्तुत है। उसे शून्य, असत् या अंधकार जो चाहो कहो। वह बाहर-भीतर उन्मुक्त है, और सघन भी। उससे परे कुछ नहीं है। इसी भूमिका पर :—

"सत्ताका स्पन्दन चला डोल, आवरण-पटलकी ग्रन्थि खोल;
तम-जलनिधिका बन मन्थन, ज्योत्स्ना-सरिताका आलिंगन;
वह रजत गौर, उज्ज्वल जीवन, आलोक पुरुष ! मंगल चेतन !
केवल प्रकाशका था कलोल, मधु किरणोंकी थी लहर लोल।"

यह उस अव्यक्त सत्ताकी प्रथम व्यक्त होनेकी दशा है। वह विशुद्ध चेतना-आलोक था :—

"बन गया तमस था अलक जाल, सर्वांग ज्योतिमय था विशाल;
अन्तर्निनाद ध्वनिसे पूरित, थी शून्य-भेदिनी सत्ता चित्;

नटराज स्वयं थे नृत्य निरत, था अंतरिक्ष प्रहसित मुखरित
स्वर लय होकर दे रहे ताल, थे लुप्त हो रहे दिशाकाल।"

शून्यको भेदकर सत्ता आलोक-घन हो उठी, पर उसका अव्यक्त रूप मानो अलक-जाल बन उठा था। अव्यक्तसे व्यक्त होनेका अन्तर्निनाद निकल रहा था; अभी दिशा-काल व्यक्त नहीं हो पाये थे: अंतरिक्ष उल्लासपूर्ण था। नव-सृष्टिका उल्लास-पूर्ण नृत्य होने लगा। इसीसे गोचर विश्वका सृजन-संहारमय निर्माण होता है। उस गत्यात्मक (व्यक्त मूल सत्ता), चेतन-शक्ति,के नित्य-नृत्यका बिम्ब नीचेकी पंक्तियोंमें प्रस्तुत है:—

"लीलाका स्पंदित आह्लाद वह प्रभापुञ्ज चितिमय प्रसाद
आनन्दपूर्ण ताण्डव सुन्दर, झरते थे उज्ज्वल श्रम सीकर
बनते तारा, हिमकर दिनकर, उड़ रहे धूलि-कणसे भूधर
संहार सृजनसे युगल पाद गतिशील अनाहत हुआ नाद।"

× × ×

"विद्युत कटाक्ष चल गया जिधर, कम्पित संसृति बन रही उधर;
चेतन परमाणु अनन्त बिखर, बनते विलीन होते क्षण भर;
यह विश्व झूलता महादोल, परिवर्तन का पट रहा खोल।"

× × ×

"उस शक्ति शरीरीका प्रकाश, सब शाप-पापका कर विनाश—
नर्तनमें निरत, प्रकृति गलकर, उस कांति सिंधुमें घुल मिलकर
अपना स्वरूप धरती सुन्दर, कमनीय बना था भीषणतर।
हीरक गिरिपर विद्युत-विलास, उल्लसित महा हिम धवल हास।"

परम सत्ता, महाकाल शिव,का यह नृत्य-बिम्ब अध्यात्म, विज्ञान और इतिहासका भव्य संश्लिष्ट प्रतीक है। उपर्युक्त पंक्तियोंको ध्यानपूर्वक देखनेसे इस मतकी सत्यता प्रमाणित हो जायगी। 'सर्वान्तर' एक आत्माका दर्शन अध्यात्मकी उपलब्धि है; विज्ञान यह मानता है कि संहार और सृजन विश्वकी अनिवार्य शाश्वत प्रक्रिया है; इतिहास भी जीवनके उत्थान-पतनमय स्वरूपोंका उदाहरण है। उपर्युक्त पंक्तियोंमें इन सबकी संश्लिष्ट भावना ही प्रतीक रूपमें प्रस्तुत की गयी है। महाकाल शिवके इस नृत्यमें एक और भावना बिम्ब दर्शनीय है। एक ओर उसमें (ताण्डव-नृत्यमें) सृजन और संहारका उतार-चढ़ाव (विषमता) है, तो दूसरी ओर एक अखण्ड समरसता, एकलयता, अखण्ड शान्तता है। एक भयंकर है, तो दूसरा कमनीय। एक ओर उस परम सत्ताके भीतरसे निकलकर यह विश्व महादोलके समान झूलता है, परिवर्तनके नियमोंमें गति-शील रहता है; तो दूसरी ओर वह निरन्तर उस 'कान्तिसिंधु'में (आत्मामें) घुलता-मिलता भी रहता है। इसमें एक ओर विषमताका महाविष है, तो दूसरी ओर समता (समरसता)

का अमृत। वह महाविष इस अमृतके साथ शाश्वत, आनन्दमय ही है। इसीलिए तो श्रद्धा कहती है :—

"नील गरलसे भरा हुआ यह चन्द्र कपाल लिये हो;
इन्हीं निमीलित ताराओंमें कितनी शांति पिये हो।
अखिल विश्वका विष पीते हो सृष्टि जियेगी फिरसे;
कहो अमर शीतलता इतनी आती तुम्हें किधरसे !"

'आनन्दवाद' इसी अमर शीतलता (अखण्ड समरस अनुभूति)के द्वारा 'विश्व-विष' (दुःख)के आस्वादनका आकांक्षी है। यही शिवका विषपान है, यही उसका नीलकण्ठत्व है। नीलकण्ठ महाकाल शिवका बिम्ब भी अपूर्व है। विषका स्थान केवल कण्ठ है, हृदय उससे अछूता है। तात्पर्य यही है कि परम तत्त्व नटराज शिवके आनंदपूर्ण नृत्यमें काल-प्रवाह और इतिहासके परिवर्तन केवल बुलबुलेके समान हैं; उनका ऊपर (परम सत्तापर) कोई प्रभाव नहीं है। वे भी उसकी लीलाके आह्लाद हैं।

नृत्यका मूल है लय, वही उसकी आत्मा है। लयसे तनिक भी स्खलन नृत्यके आनन्दको नष्ट कर देता है। अतएव नटराजके विश्व-नृत्यके लयका अनुसरण न करना आनन्दसे हाथ धोना ही है। इडा मनुसे इसी लय-निर्वाहका परामर्श देती हुई कहती है :—

"देश-कल्पना काल जलधिमें होती लय है,
काल खोजता महाचेतनामें निज क्षय है।
यह अनन्त नचता है उन्मद गतिमें,
तुम भी नाचो अपनी द्रुततामें विस्मृतिमें।"

×　　　　×　　　　×

"ताल तालपर चलो नहीं लय छूटे जिसमें
तुम न विवादी स्वर छेड़ो अनजाने इसमें।"—(स्वप्न)

इस नृत्य-शक्तिको कोई ठुकरा भी नहीं सकता है, इसकी सर्वांगीणता व्यापक है:—

"युगोंकी चट्टानोंपर सृष्टि डाल पद-चिह्न चली गम्भीर;
देव, गंधर्व, असुरकी पंक्ति अनुसरण करती उसे अधीर।"—(श्रद्धा)

इसलिए, जैसा कि कहा जा चुका है, इस दर्शनमें विश्वास और श्रद्धा रखकर कर्तव्य कर्मोंकी साधनामें निरत रहना ही मानवके कल्याणका मार्ग है।

चूँकि काव्यके अब तकके अध्ययनमें कई स्थलोंपर 'आनन्दवाद'की अनु-कल्पनाकी चर्चा की गयी है, अतएव इस प्रसंगमें अब और अधिक कहनेकी आवश्यकता नहीं रह जाती। परन्तु इतना अवश्य कहना है कि चूँकि कविने 'शिव' (महाकाल)को रुद्र रूपमें प्रस्तुत किया है जो कि शैवागमकी रुद्र भावनाका शिव है, अतः यह नहीं मानना चाहिये कि 'कामायनी'का दर्शन शैवागमका ही दर्शन है। यह अवश्य शैवागमका

भी दर्शन है, परन्तु उसका स्रोत सम्पूर्ण वैदिक साहित्यमें प्रतिपादित 'आत्मवाद'की व्यापक भावना ही है।

बताया जा चुका है कि रुद्र शिव विषयक मतोंने सारे प्रमुख तत्त्व वैदिक ऋषियोंको ज्ञात थे। शैवागमोंमें उन्हींका पल्लवन है। स्वभावतः शैवागमोंमें प्रतिपादित विभिन्न मतवादोंमें अन्य कई तत्त्वोंका समावेश भी होता गया। तपाचरणको प्रमुखता मिलती गयी। अतएव उनकी शिव शक्ति भावना वही नहीं रह गई जो वैदिक कालमें थी। हाँ, यह ठीक है कि उसे भी अक्षुण्ण रखा गया। वह मूल भावना बनी रही। आगे चलकर आगमोंकी शिव शक्ति भावनामें इतने बाह्य प्रभाव आ गये कि उसमें वह मूल भावना क्षीण प्राय हो चली।

यही सब कारण है कि एक ओर श्रीकण्ठने, ब्रह्मसूत्रके अपने भाष्यमें, लिखा है कि (मेरे मतानुसार) वेद और शिव आगममें कोई अन्तर नहीं है, वेदको भी शिवागम कहा जा सकता है क्योंकि आगमोंके रचयिता स्वयं शिव (ब्रह्म) हैं। ये आगम दो प्रकारके हैं एक त्रिवर्णके लिए और दूसरा 'सर्वविषय' अर्थात् सर्वसामान्यके लिए। दूसरी ओर अप्पय दीक्षितने अपने भाष्यमें महाभारत और पुराणोंके कई उद्धरण प्रस्तुत करते हुए श्रीकण्ठके मतको गलत कहा है। उनका कहना है कि ये प्रमाण शिव आगमोंको वेदेतर 'मोहशास्त्र' ठहराते हैं। यद्यपि अप्पय दीक्षितका यह निष्कर्ष ठीक नहीं है क्योंकि महाभारत ही में कई स्थलोंपर स्पष्ट रूपसे योग, पाञ्चरात्र और वेदोंके साथ आगमोंको भी आदर दिया गया है, फिर भी यह तो माना जा सकता है कि आगमोंको सभी लोग स्वीकार नहीं करते थे। आगमोंमें ज्यों ज्यों विविध मतोंका प्रभाव भरता गया और उनकी मूल वैदिक भावना उन प्रभावोंमें सिमटती रही, त्यों-त्यों उनके प्रति लोगोंका मतभेद बढ़ता गया। पर जहाँतक आगमोंकी मूल भावनाका प्रश्न है वहाँतक वह वैदिक अवश्य है, यह ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है। कुछ लोग भ्रमसे इसे अनार्य भावना या मत कह उठते हैं। पर वास्तवमें वह आर्य-मत ही है। श्रीकृष्णको भी शिव पूजक कहा गया है। प्रशस्तपादने अपने भाष्यमें वैशेषिक दर्शनकारको महेश्वरका उपासक कहा है। जैन लेखक हरिभद्रने माना है कि गौतम और कणादके अनुयायी शैव थे।

कामायनीकारने उसी वैदिक रुद्र शिव भावनाको प्रस्तुत किया है जो आर्यावर्तक तरुण आर्योंको मान्य थी। ये तरुण आर्य वे ही थे जिनके वंशज, जैसा कि कहा जा चुका है, वज्जिसंघके स्वतंत्र चेता नागरिक थे, माधव विदेह उनका एक नेता था। आगमों और कामायनी दर्शनको एकदम अभिन्न कर देनेपर 'कामायनी'का वास्तविक मूल्य हाथ नहीं लगेगा।

विश्वका स्वरूप

ऊपर जो कुछ कहा जा चुका है उसके द्वारा विश्वके स्वरूपका पता चल जाता

है। विश्व नटराज महाकाल शिवका व्यक्त स्वरूप ही है, वह उसके उत्थान-
नृत्यकी सृष्टि है —

"यह लोचन गोचर सकल लोक, ससृतिके कल्पित हर्ष-शोक,
भावोदधिसे किरणोंके मग, स्वाती कन से बन भरते जग,
उत्थान-पतनमय सतत सजग, झरने झरते आलिंगित नग,
उलझन की मीठी रोक-टोक, यह सब उसकी है नोंक-झोंक।"

'दर्शन' सर्गमें श्रद्धा विश्वके स्वरूपकी विवेचना करती हुई कहती है —

"इसके स्तर-स्तरमें मौन शान्ति, शीतल अगाध है ताप भ्रांति,
परिवर्तनमय यह चिर मंगल, मुस्क्याते इसमें भाव सकल
हँसता है इसमें कोलाहल, उल्लास भरा सा अन्तस्तल,
मेरा निवास अति मधुर कान्ति, यह एक नीड है सुखद शान्ति।"

ऊपर हमने नटराजके नृत्यका जो वर्णन देखा, उसीकी प्रतिध्वनि इस उक्ति
है। विश्वके स्तर-स्तरमें, कोलाहल-उल्लासमें, ताप भ्रांतिमें, एक मौन शीतलताव
अनुभूतिका इसमें उद्घाटन है। विश्वके चिर परिवर्तनमें चिरमगलका दर्शन किया गय
है। और इसलिए यह विश्व सुखद शाति का नीड है। विश्व रूपकी इसी अनुभूतिके
आयत्त कर लेनेपर मनुने कहा था —

"अपने दुख-सुख से पुलकित यह मूर्त विश्व सचराचर
चिति का विराट वपु मगल, यह सत्य सतत चिर सुदर।"—(आनद)

पहले ही कहा गया है कि आनदवाद विश्वको परमसत्ताका व्यक्त स्वरूप
मानकर उसे सत्, चित् और आनद मानता है, 'विश्व स्वय ही ईश्वर है'। 'काम'ने
कहा था कि

" 'कल्याण भूमि यह लोक' यही श्रद्धा रहस्य जाने न प्रजा।
अतिचारी मिथ्या मान इसे परलोक वचनासे भर जा।"

विश्व 'कल्याण भूमि' है, यह आनदवादकी अनिवार्य मौलिक सम्मति है।
जिस दिन वैदिक ऋषियोंने 'मोक्ष'को भी इसी जीवनका प्राप्य साध्य ठहराया, उस दिन
दार्शनिक क्षेत्रमें एक महान् क्रान्ति प्रस्तुत हो उठी। मानव जीवनके चार लक्ष्यों,
पुरुषार्थों (काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष)में, पहले यह माना जाता रहा कि प्रथम तीन
जीवन मूल्योंको इस लोक जीवनमें प्राप्त किया जा सकता है, और अन्तिम लक्ष्यको
जीवनके उपरात (अर्थात् जीवनका अतिम साध्य विश्वके परे मिलता है)। किंतु
(आत्मवादी) वेदान्तने यह माना कि यदि मनुष्य चाहे तो वह इस अतिम साध्यको
इसी लोकमें, इसी जीवनमें, पा सकता है। यहीं आनदवादकी अवतारणा हो उठी,
अपने समस्त जीवन मूल्योंको इसी 'लोक-जीवन'में पा लेनेके विश्वास और आशाने
आर्यावर्तके जन तरुण आर्योंको उल्लास, प्रमोद और आनदसे भर दिया। 'परलोक'

साधनाको वे 'प्रवचना' मानने लगे। 'वे सत्यके उपासक थे' और उसके द्वारा ही जीवनकी पूर्णताका मार्ग उनके सम्मुख प्रशस्त हो उठा था, वे 'विदेह मार्ग'पर वीरता, दृढ़ताके साथ कर्त्तव्य निरत हो उठे।

इसीलिए 'आनंदवाद' लोक भोगके द्वारा ही लोक-मुक्ति उपलब्ध करनेका विश्वास रखता है। वह प्रकृतिके त्याग द्वारा नहीं, वरन् उसके सम्यक् (रसात्मक) ग्रहण द्वारा परमार्थ प्राप्त करनेकी साधना करता है। कुलार्णव तन्त्रमें ठीक ही लिखा है कि जिस प्रकार पृथ्वीपर गिरे हुए व्यक्तिको पृथ्वीका सहारा लेकर ही ऊपर उठना पड़ता है, उसी प्रकार प्रकृतिमें, मन इन्द्रियोंके व्यापारोंमें, भाव-लोकमें, पड़े हुए प्राणीको उन्हींके सहारे ऊपर उठना चाहिए। मानवीय भावोंका आनंद आदिशक्तिके मंगल नृत्यका ही आनंद है।

काम

इसलिए आनंदवादीकी आँखमें 'काम'की सर्वाधिक महत्ता है। लोक भोगका वही देवता है, वह सृष्टि शक्ति या महाचितिकी 'मंगलसे मंडित श्रेय सर्ग इच्छा'का प्रथम पुष्प है। सुनिए 'काम' स्वयं अपने इस मूल रूपकी व्याख्यामें कहता है —

"उस प्रकृति लताके यौवनका, उस पुष्पवतीके माधवका
मधु हास हुआ था वह पहला, दो रूप मधुर जो ढाल सका।"

सर्गशक्तिने जिन दो रूपोंको सर्वप्रथम प्रस्तुत किया वे काम और रति थे, इसीलिए वे 'मंगल और श्रेयसे मण्डित' हैं, उनका त्याग करना विश्व नृत्यका विरोध करना है और साथ ही आत्महनन भी। श्रद्धाने ठीक ही मनुसे कहा था —

"काम मंगलसे मंडित श्रेय सर्ग, इच्छाका है परिणाम,
तिरस्कृत कर उसको तुम भूल बनाते हो असफल भवधाम।"

मैं 'काम' सर्गमें और कई अन्य स्थलोंपर कामके प्राथमिक (संभोगात्मक) रूप तथा उसके विकासशील (प्रगतिशील) स्वरूपकी चर्चा कर आया हूँ। और यह बता आया हूँ कि आनन्दवादी कामायनीकारके अनुसार कामके ये दोनों स्वरूप मांगलिक हैं यदि उसे उसके प्रथम रूपमें ही बाँध रखा जाय तो वह वात्याचक्र समान जीवनको भटकाता ही रहेगा, जैसा कि देव-सृष्टिमें हुआ। यह भोगवादी काम है। दूसरी ओर यदि उसे इस रूपसे एकदम काट दिया जाय तो जीवन शक्तिकी इच्छाका विरोध होनेके कारण विकास असम्भव रहेगा, जीवन रस ही सूख जायगा। 'रहस्य' सर्गके राग लोककी विवेचनामें यही तथ्य प्रस्तुत किया गया है।

अतएव ये दोनों मार्ग (भोगवादी और निवृत्तिमूलक विवेकवादी), राग-मार्ग और विराग मार्ग, आनन्दवादको अस्वीकार है। वह चाहता है कि कामकी वह भूख प्यासमय मूलधारा (जो 'सर्ग इच्छाका परिणाम' है) राग और विराग दोनोंसे निरन्तर सम्पृक्त

होती रहे। यही विकासका पथ है। गार्हस्थ्य जीवन इसकी सुदृढ आधार शिला है, जो व्यक्तिकी पर-चेतना (इदम् चेतना)का निरन्तर प्रसार करती हुई अन्ततोगत्वा 'वसुधैव कुटुम्बकम्'की व्यापक भूमिकामें परिणत हो जाता है। 'कामायनी' इसी मार्गका निदर्शन करती है। चूँकि हमने अपने पूर्व-अध्ययनमें इन सब बातोंपर कई बार विचार कर लिया है, अत इस स्थलपर अब और अधिक कुछ कहना प्रसगको व्यर्थका विस्तार प्रदान करना होगा।

'कामायनी'की काम भावना वैदिक आर्योंकी काम भावना ही है। अथर्ववेद (९।२।२५) म कहा गया है :—

> "यास्ते शिवास्तन्व कामभद्रा याभि सत्यं भवति यद् वृणीषे।
> ताभिष्ट्वमस्मा अभिसंविशस्व अन्यत्र पापीरपवेशया धिय.॥"

अर्थात् "कामका जो शिव-स्वरूप है उसे अपनाकर मानव अपना अभीष्ट सिद्ध कर लेता है, अत कामके शिव स्वरूपोंको ही स्वीकार करना चाहिये, पापीयसी बुद्धि एव क्रियाओंको उत्पन्न करनेवाले उसके अशिव रूपोंको दूर कर देना चाहिये।" इसी वेदमें कामको अध्यक्ष, उग्र और वाजी (अर्थात् सबका नियत्रण करनेवाला, तेजस्वी और बलवान्) कहा गया है। इसी सदर्भम (अथर्व० ९।२।११) कहा गया है कि "काम (प्रमाद, आलस्य, अज्ञान, द्वेष आदि) मानव-शत्रुओंको मारकर मनुष्यके विकासके लिए विस्तृत क्षेत्र तैयार कर देता है। कामकी इस शक्तिके साथ पुरुष सर्वत्र पूजित होता है।" मत्र १७ म लिखा है कि "इसी (वीर) कामकी सहायतासे देवोंने असुरोंको मार भगाया और इन्द्रने दस्युओंको परास्त किया।"

कहा जा चुका है कि इन्द्रने प्रलय पूर्व असुरोंको हराकर 'आत्मवाद'की स्थापना की। उपर्युक्त उद्धरणके आधारपर यह अनुमान किया जा सकता है कि इन्द्रने पूर्वोक्त कामके शिव-स्वरूपोंको स्वीकार करके ही 'आत्मवाद'की स्थापना की होगी। 'कामायनी'म इस काम भावनापर 'आनद'की उपलब्धि करायी गयी है।

यहाँपर हमें एक प्रश्नपर विचार कर लेना वाछनीय है। क्या आनन्दवादकी इस 'काम भावना', या कामको प्रधानता देनेके सिद्धान्तसे, समाजमें अनाचार फैलनेकी आशका नहीं है। उत्तरमें 'नहीं' कहकर हम इस 'नहीं'के औचित्यपर विचार करेंगे।

भोगवाद और आनन्दवाद

इन्द्रियके विषय भोगोंको भोगवादी (लोकायतनवादी, चार्वाक मतानुयायी) और आनन्दवादी दोनों मानते हैं। दोनों मानते हैं कि 'अखिल मानवीय भाव' चेतनाकी उपलब्धियाँ हैं, अत. वे वरेण्य हैं। हमें उनका उपयोग करना चाहिए। परन्तु अन्तर यह है कि भोगवादी मनुष्य अहमूमूलक व्यक्तिवादी होता है और आनन्दवादी मानव विश्व चेतना सपृक्त व्यक्तिवादी। भोगवाद भोग्य और भोक्ता (इदम् और अहम् अर्थात् शेष विश्व और भोगी व्यक्ति)म भेद मानकर चलता है, इसलिए वह उच्छृखल,

नियमहीन, होकर समाजके जीवनको भय प्रदान करता है। विश्वको धारण करनेवाली ऋतका (नियम और व्यवस्थाका), जो कि शाश्वत सत्य है, वह उल्लंघन करता है। और आनन्दवादी अपनी व्यक्ति-चेतनाको विश्व चेतनाके साथ समन्वित रखकर उसका भोग करता है। इसलिए उसके द्वारा ऐसा कुछ भी नहीं हो सकता है, जिससे ऋतका उल्लंघन हो। उसकी प्रकृति ही इस प्रकारकी हो जाती है।

इस तथ्यको स्पष्ट रूपसे समझनेके लिए हमें प्रसादजीके 'इरावती' उपन्यासके निम्नांकित उद्धरणोंसे पर्याप्त सहायता मिलेगी—

ब्रह्मचारी—अग्निमित्र, अच्छा क्या है और बुरा क्या है, इसका निर्णय एकांगी दृष्टिसे नहीं किया जा सकता। विष चिकित्सक द्वारा अमृत कल्प हो जाता है। भगवान्‌की विराट विभूतिमेंसे हम निस्संदिग्ध वस्तुका चुनाव नहीं कर सकते, उसकी मात्राको समझ लेना ही हमारा पुरुषार्थ साधारण है। किन्तु एक अति दिव्यभाव है। वह है आत्माकी अग्नि, जिसमें अन्धकार ईंधन बनकर जलता है। उस तेजमें सब विशुद्ध, दिव्य और ग्राह्य हो जाते हैं। आनन्दकी यही योजना अपनी विचार-पद्धतिमें है अनेकी आवश्यकता है। × × × हम आत्मवान् हैं, हमारा भविष्य आशामय है, इस आर्य भावका प्रचार आवश्यक है।"

× × ×

भिक्षुणी संघके जीवनसे ऊबी हुई इरावतीसे उसी ब्रह्मचारीने कहा—अनात्मवादके वातावरणमें पला हुआ यह क्षणिक विज्ञान (यहाँ तात्पर्य बौद्धमतसे है) उस शाश्वत सत्तामें अविश्वास करता है। माँ, तुम शक्ति स्वरूपा हो। आनन्दके उल्लासकी मात्रा ही जीवन है, यह क्यों भूल गयी?

इरावती—परन्तु मुझे अपने कर्मोंपर पश्चात्तापकी ज्वालामें जलनेकी आज्ञा मिली है। और इस यातनाका कभी अन्त होगा या नहीं, नहीं कह सकती।

ब्रह्मचारी—कौन-से ऐसे कर्म हैं देवि, जिन्हें हम आनन्दकी भावनामें भस्म नहीं कर सकते। माँ, तुम शक्ति स्वरूपा हो, अन्तर्निहित आनन्दकी अग्नि प्रज्वलित करो। सब मलिन कर्म उसमें भस्म हो जायँगे। इस आनन्दके समीप पाप आनेसे डरेगा।

"आनन्दके समीप पाप आनेसे डरेगा", यह आनन्दवादियोंका दृढ़ विश्वास है। भगवान् कृष्णने गीतामें इसी आनन्दवादकी व्याख्या की है। उपनिषदोंके सार तत्त्वकी अभिव्यक्ति होनेके नाते वह औपनिषदिक आनन्दवादकी, भगवान्‌के मुखसे की गयी व्याख्या ही है। प्रसादजीने भी श्रीकृष्णको आनन्दवादके पुनर्प्रतिष्ठापक रूपमें स्वीकार किया है। उनके अनुसार 'इन्द्रकी पूजाका प्रत्याख्यान करके श्रीकृष्णने आनन्दवाद ही का प्रतिपादन किया है (देखिए 'रहस्यवाद'), परन्तु बादमें लोगोंने कृष्णकी ही पूजा आरम्भ कर दी।' श्रीकृष्णने अर्जुनको समझाया कि—

"यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन ।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।"

अर्थात् हे अर्जुन ! जैसे प्रज्वलित अग्नि ईंधनको भस्म कर देती है उसी प्रकार ज्ञान रूप अग्नि सम्पूर्ण कर्मोंको भस्म कर देती है ।

"न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति ।"

"अर्थात् इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसन्देह कुछ भी नहीं है; योग-प्राप्त व्यक्ति इस ज्ञानको स्वयं अपनी आत्मामें अनुभव करता है ।" हम जानते हैं कि गीतामें ज्ञानका तात्पर्य है सर्वान्तर आत्मके स्वरूपका सम्यक् बोध; जिसके लिए ग्यारहवें अध्यायमें भगवान्ने अपने 'महाकाल' रूपको साक्षात् प्रस्तुत किया है। 'महाकाल'की अनुभूति ही आनन्दवादकी अनुभूति है, यह हम कह आये हैं। अतएव यह कहना गलत न होगा कि उपर्युक्त श्लोकोंमें भगवान्ने जिस ज्ञानग्निको सम्पूर्ण कर्मोंको भस्म करनेवाली कहा है, या जिस ज्ञानको सर्वाधिक पवित्र करनेवाला बताया है, वह प्रसादजीके ब्रह्मचारी पात्रके उपर्युक्त कथनोंमें प्रयुक्त 'आनन्दकी अग्नि' और 'आनन्द' ही है ।

निष्कर्ष यह रहा कि आनन्दकी भावना उपलब्ध कर लेनेपर व्यक्ति अपुण्य कर ही नहीं सकता है, विशुद्ध आत्म चेतनासे जो होगा वह भय-पापका नहीं, अभय-पुण्यका कार्य होगा । इसलिए आनदवादके द्वारा 'काम'की प्रतिष्ठासे भोगमूलक अनाचारके फैलनेकी आशका निराधार है । 'काम' जैसे ही 'आनन्द'के सामने पहुँचता है (अर्थात् जैसे ही वह आत्मवादी अनुभूतिसे प्राणवान् होता है) उसी क्षण उसकी ज्वालामे तपकर, भस्म होकर, वह अनग (विदेह) हो जाता है। 'आनन्दवाद' इसी विदेह (असंग) कामको स्वीकार करता है। गीतामें 'योगःकर्मसु कौशलम्' कहकर इसी विदेह कामको महत्त्व दिया गया है। दुःख-सुख, लाभ हानि, जय-पराजय सबको समत्व-बुद्धिसे ग्रहण करता हुआ कर्तव्य कर्म करते रहना ही वह 'कर्मसु कौशलम्' है जिसे योग कहा गया है; और हमने देखा कि 'काम'की व्यापक भावना इसी समत्व-बुद्धि द्वारा निर्धारित कर्म भावना है ।

कर्म

कामने इसीलिए मनुको अपने मूल भोगपरक स्वरूप (जो जीवनमें केवल वात्याचक्रके समान ही आवर्तनमें भटकता और भटकाता रहता है) और श्रेय कर्मसे दीपित प्रगतिपरक स्वरूपके समन्वयकी प्रेरणा देते हुए कहा था कि—

"आरंभिक वात्या उद्गम मैं अब प्रगति बन रहा संसृति का;
मानव की शीतल छाया में ऋण शोध करूँगा निज कृति का।
दोनों का समुचित प्रतिवर्तन जीवनमें शुद्ध विकास हुआ;
चेतना अधिक अब स्पष्ट हुई जब विप्लव में पड़ ह्रास हुआ ।"

कर्मकी महत्ताका प्रतिपादन करते हुए उसने कहा—

"यह नीड़ मनोहर कृतियों का यह विश्वकर्म रंगस्थल है;
है परंपरा लग रही यहाँ ठहरा जिसमें जितना बल है"

इसके उपरान्त वह मनुको दो प्रकारके कर्मों और कर्ताओंका बोध कराते हुए कहता है कि संसारमें कर्ता दो प्रकारके होते हैं; साधन-कर्ता और साधक-कर्ता अर्थात् एक वे लोग हैं जो निजी आत्म-ज्वालासे ज्योति न ग्रहण करके अन्योंसे प्रेरित (प्रकृतिकी अवशक्ति या अन्य मनुष्योंके सकेतपर) कार्य करते हैं; और दूसरे वे हैं जो आत्मालोकके सहारे कर्मकी साधना करते हैं। ये स्वतन्त्र-चेता साधक होते हैं; वास्तवमें ये ही कर्ता हैं, और इन्हींके द्वारा प्रतिपादित कार्य सृष्टिको आलोक प्रदान करते हैं। काम मनुको इसी दूसरे प्रकारका, मनोहर कृतियोंका, कर्ता बननेकी प्रेरणा देता है।

श्रद्धाने भी मनुसे मनोहर कर्मोंको (जो कामका प्रगतिशील रूप है) सम्पन्न करनेका मधुर आग्रह किया था। सम्पूर्ण काव्य इसी कर्म-योगकी प्रेरणासे अनुप्राणित है, जैसा कि हमारे पूर्व-अध्ययनसे स्पष्ट हो गया है। 'कर्म' सर्गमें श्रद्धाने कर्म-योगकी स्पष्ट व्याख्या इन उक्तियोंमें की है—

"औरों को हँसते देखो मनु हँसो और सुख पाओ
अपने सुख को विस्तृत कर लो सबको सुखी बनाओ।
रचनामूलक सृष्टि यज्ञ यह यज्ञ पुरुष का जो है
संसृति सेवा भाग हमारा उसे विकसने को है।"

विश्वको पुरुष (परमसत्ता)का रचनामूलक सृष्टि-यज्ञ मानकर, उसके विकासके लिए संसृतिकी सेवा करना कर्म-योगकी साधना है, ऐसा साधक अपने सुखको इतना विस्तृत कर लेता है कि उसमें सभीको सुख मिले। अन्योंको आनन्दित देखनेमें स्वय आनन्द लेना इस आनन्दवादी कर्म मार्गकी अपूर्वता है। उपर्युक्त कथनके सदर्भमें श्रद्धाकी मनुके प्रति कही गयी यह उक्ति भी उद्धरणीय है—

"निर्जनमें एक अकेले क्या तुम्हें प्रमोद मिलेगा?
नहीं इसीसे अन्य हृदय का कोई सुमन खिलेगा।
सुख समीर पाकर, चाहे हो वह एकान्त तुम्हारा,
बढ़ती है सीमा संसृतिकी बन मानवता धारा" ('कर्म' सर्ग)

'पंत, प्रसाद और गुप्त' नामक अपनी पुस्तकमें श्री 'दिनकर'जीने इन पक्तियोंपर विचार किया है, और अपना मत इस प्रकार व्यक्त किया है —"तीसरी पक्तिका संगत अर्थ निकालनेका चूँकि कोई उपाय नहीं है, इसलिए में उसे दूसरी पक्तिके साथ मिला देता हूँ। अब अर्थ होगा कि सुख समीर चाहे केवल तुम्हारा ही हो, किन्तु उसे पाकर दूसरोंके हृदयके फूल भी विकसित होंगे। लेकिन यह अर्थ कुछ अच्छा नहीं लगता। और तब चौथी पक्तिका अर्थ क्या होगा! 'विश्वका विकास तब होता है जब मानवताके गुण धार बाँधकर,बहते हैं', इस अर्थको व्यक्त करनेके लिए क्या यह

शैली यथेष्ट है जो चौथी पंक्तिमें बरती गयी है ? आश्चर्य नहीं कि कविताके साधारण रसिक 'कामायनी' काव्यको छूनेमें घबराते हैं।"

और यह पद लेनेके उपरान्त श्री 'दिनकर'जीने यह निष्कर्ष भी निकाला है (जिसके लिए उन्होंने और कई उद्धरण ढूँढ लिये हैं) कि "जिस ऊँचाईपर वह (अर्थात् कवि) पाँव रखता है उसकी स्पष्ट और पूर्ण अभिव्यक्ति देनेमें वह असमर्थ है। उसके विचार ऊँचे, किन्तु भाषा कमजोर है। उसके भाव सूक्ष्म, किन्तु अभिव्यक्तियाँ उलझी हुई हैं।"

हम इस निष्कर्षकी परीक्षा तो यहाँपर नहीं कर सकते हैं क्योंकि प्रसग दूसरा है, परन्तु उपर्युक्त पंक्तियोंके अर्थकी व्याख्या करना आवश्यक है। मेरे विचारमें श्री 'दिनकर'जीकी कठिनाईका कारण यह है कि उन्होंने इस उक्तिके पूर्वकी पंक्तियोंके सदर्भका ध्यान नहीं रखा। यह उक्ति तो एक पूरे कथनका अन्तिम अंश है, इसका आरभ छ पंक्तियों पूर्व, 'ये मुद्रित कलिया दलम सब सौरभ बन्दी कर लें', से होता है। यदि व्याख्याताका ध्यान पूर्वकी इन पंक्तियोंपर रहेगा तो उसे वह कठिनाइ नही होगी जो 'दिनकर'जीको हुइ है। एक बात और, वह यह है कि इन पंक्तियोंमें आनदवादका सहज कर्म प्रकृतिका स्पष्टीकरण किया गया है। इसलिए यदि व्याख्याता इसे समझनेम चूक जायगा तो वह कई भूलें कर सकता है। अब इस निवेदनके उपरान्त मैं इन पंक्तियोंके आशयपर विचार कर रहा हूँ —

इसके पूर्व श्रद्धा मनुको यह बता चुकी है कि "यदि कलियाँ अपने दलोमे सौरभको बदी रखें, और खुलकर मकरद बिन्दुसे सरस न हों तो इनका विनाश निश्चित है। वे सूखेंगी, झड़ेंगी और फिर कुचली जायेंगी, और फिर पृथ्वीपर सरस, सौरभ नहीं प्राप्त होगा। इसलिए वास्तवमें सुख (आनद)का सग्रह केवल अपने सतोषके लिए नहीं किया जाना चाहिए, यह सुख (आनद)की प्रकृति ही नहीं है। सुख (आनद)में प्रदर्शनका भाव होता है, उसमें यह भाव होता है कि उससे औरोंको भी आनद मिले।" इसी प्रसगमे उसने उपर्युक्त पंक्तियोंमे मनुको बताया कि "निर्जनमें, जहाँ तुम्हारे सुख (आनद)को देखकर (अर्थात् उसे पाकर) किसी अन्यका हृदय पुष्प न खिले, क्या तुम्हें प्रमोद (आनद) मिलेगा ? (अर्थात् तुम्हारे जिस आनदसे अन्योंको आनद नहीं मिलेगा, उससे तुम्हें भी सुख नहीं प्राप्त होगा, कलियोंका उदाहरण ऊपर दिया जा चुका है)। चाहे व्यक्तिका एकात जीवन (उसका निजी ससार) ही क्यों न हो, परन्तु आनदरूपी समीर पाकर उसकी सीमा, मानवताकी धाराके रूपमें, बढ जाती है।"

इसका तात्पर्य यही है कि जिस प्रकार कलियोंका सौरभ, जो उनकी निजी सम्पत्ति (और प्रमोद) है, समीर पाकर दूर दूरतक फैल जाता है, लोगोंको प्रमोद देता है और इस प्रकार कलियोंके छोटेसे (सीमित) ससारकी सीमा भी बढ जाती है, उसी प्रकार हमारे व्यक्तिगत जीवनमें हम जो आनद मिलता है वह मानवता धाराके रूपमें हमारे जीवनकी क्षुद्र सीमाको विस्तृत कर देता है। अर्थात् हम उस अपने आनद

प्रमोदसे अन्योंको भी आनंदित कर देते हैं, अन्योंको आनंद देनेमें ही अपने व्यक्तिगत जीवनका हम आनंद ले सकते हैं। इस प्रकार व्यक्तिगत आनंद प्रवृत्तितः उदार मानवताका जनक होता है।

इसी आशयको जब मनुने अन्ततोगत्वा सम्यक् रूपसे ग्रहण कर लिया, तो उन्होंने भी कहा :—

"सबकी सेवा न पराई वह अपनी सुख-संसृति है।
अपना ही अणु अणु कण-कण द्वयता ही विस्मृति है।" (आनंद)

सबकी सेवाको 'अपनी सुख-संसृति' मान लेना आनंदवादका ग्राह्य सिद्धान्त है। श्रद्धाने मनुसे कहा था :—

"एक तुम, यह विस्तृत भूखण्ड, प्रकृति वैभवसे भरा अमंद,
कर्मका भोग, भोगका कर्म यही जड़का चेतन आनंद।" ('श्रद्धा' सर्ग)

इस उक्तिपर कुछ विचार किया जा चुका है। प्रसंगवश इसपर यहाँ भी हम विचार करेंगे, क्योंकि आनंदवादमें 'कर्म'की महत्ताके प्रतिपादन स्वरूप और उसके (कर्मके) विवेचनके निमित्त यह उक्ति कही गयी है। यहाँपर हम केवल अन्तिम पंक्तिपर विचार करेंगे। हम जानते हैं कि जड़तामें चेतनाकी स्थापनासे जीवन स्फुरित होता है; कर्म या भोगकी सम्भावना भी इसी स्थितिमें होती है। चेतन ही जड़का आनंद ले सकता है, केवल चेतन या केवल जड़में न क्रिया होगी, न भोगका प्रश्न ही उठेगा। जड़-चेतनके मिलनेपर ही क्रिया और भोगका प्रश्न उठता है। चेतन भोक्ता है, जड़ उसका भोग्य है। परन्तु (आनंदवादके अनुसार) यह आनंद चेतनको किस प्रकार मिलता है? इसीके उत्तरमें उपर्युक्त अंतिम पंक्ति कही गयी है। इस सूत्रमें दो बातें हैं। एक तो यह कि कर्मके फल भोगमें आनंद है। कर्म किये बिना भोग चाहनेवालेको वास्तविक आनंद नहीं मिलता। तात्पर्य यह है कि (रचनात्मक) श्रमका भोग आनंदप्रद होता है। जो लोग कर्म न करके केवल भोग चाहते हैं उन्हें आनंद नहीं मिलता, वरन् उनका पतन होता है। दूसरे यह कि मनुष्य 'भोगका कर्म' करके आनंद पा सकता है। तात्पर्य यही है कि कर्मका फल भोग ही साध्य नहीं होना चाहिए, वरन् उस भोगके द्वारा पुनः कर्तव्य कर्मका निर्धारण और उसका पालन करना चाहिए। यही 'कर्मका भोग और भोगका कर्म' होता है, यही चेतन द्वारा प्राप्त जड़का आनंद है। जड़को चेतन अपने कर्मसे भोगके योग्य बनाकर उसका भोग करता है, वह जड़ प्रकृतिके वैभवोंका उद्घाटन करके उसका आस्वादन करता है, जैसे अन्न उत्पन्न करके मानव-चेतना उसमें अपनी क्षुधा तृप्ति करती है। परन्तु इस भोगसे उसे जो बल प्राप्त होता है, उसके द्वारा पुनः चेतनको नये कर्ममें प्रवृत्त होना चाहिए और इस प्रकार अपना जीवन विकास करना चाहिए। सष्टिका विकास ऊर्ध्वमुख होता है; अतएव अपने 'कर्म, भोग और पुनः कर्म'के प्रशस्त मार्गपर मानव-चेतन जब ऊर्ध्वमुख होकर चलता है तो उसे आनंदवादी 'आनंद' प्राप्त होता है। इस प्रकार जड़ताका ग्रहण भी होता

है, और वह चेतनकी ऊर्ध्वगामी प्रवृत्तिकी बाधिका नहीं, वरन् सहायिका हो जाती है, जडताके इसी पावन सहयोगसे आनद उत्पन्न होता है। यही 'जडताका चेतन आनद है'।

जडता बाधक तब होती है, जब वह चेतनको या तो आत्म-उन्नयनसे रोकती है या उसे निम्नताकी ओर, क्षुद्रताकी ओर ले जाती है, जब वह चेतनको केवल अपने तममें तिरोहित करना चाहती है। परन्तु जब उसीको 'कर्म भोग-कर्म'के द्वारा चेतन अपनी सहयोगिनी बना लेता है तो वह लोक-जीवनका पूरा पूरा आनद पाता है। जडतासे मुक्ति ही आनद है, परन्तु यह मुक्ति जडताका त्याग नहीं वरन् उसका चेतनकी ज्वालासे भस्म होकर विभूति हो जानेमें है। जडताका पूरा आनद विदेह ही पा सकता है, जो उसका स्वामी होता है न कि सेवक।

निष्कर्ष यह रहा कि इस कर्म-सूत्रके अनुसार कर्म, फल भोग और पुन कर्तव्य कर्मकी अनिच्छिन्न श्रृखलामें जीवनका (अखण्ड रूपसे) स्पदित रहना ही चेतनका आनद है जो वह इस लोकमें पाता है। कर्मकी इस श्रृखलासे भगनेसे यह आनद नहीं मिल सकता है।

कर्मकी श्रृखला एक जीवनकी चीज नहीं है, वरन् भारतीय पुनर्जन्मवादी दर्शनके अनुसार जीवनके साथ वह भी आरभ होती है और विलीन होती है। कर्मका यह सिद्धान्त भारतीय दर्शनकी एक भव्य उपलब्धि है। इसके अनुसार यह विश्वास किया जाता है कि मनुष्य अपने कर्मोंका फल पाता है; कर्म भोगसे छुटकारा नहीं है। साथ ही यह भी माना जाता है कि मनुष्य अपनी बुद्धि, मनन शक्ति द्वारा 'भोग'का विश्लेषण करता हुआ अपने कल्याणका मार्ग निधारित कर सकता है, तात्पर्य यह है कि मनुष्य अपने पूर्व कर्मका जो फल पाता है उसको सम्यक् रूपसे समझकर भावी श्रेयके लिए कर्तव्य कर्मको निश्चित कर सकता है। मनुष्य कर्मके फलमें परतत्र है, न कि कर्तव्य कर्मको समझनेमे। वर्तमानका (जो कि अतीतका फल है) विश्लेषण करता हुआ ही वह भावीको ठीकसे बना सकता है। उसने अतीतमें जो कुछ किया है, और उसका उसे जो फल मिला है वह सब उसकी भावी श्रेय प्राप्तिका साधन होता है।

इसी अर्थमें मनुष्य अपना भाग्य विधाता माना जाता है। वह अपनी दुर्बलतासे भी बल प्राप्त कर लेता है और असफलतासे सफलताकी ओर बढता है। इसीमें चेतनका आनद है, यही मानवताकी विजय है। श्रद्धाने इसीलिए मनुसे कहा था—

"विश्वकी दुर्बलता बल बने, पराजयका बढता व्यापार
हँसाता उसे रहे सविलास, शक्तिका क्रीडामय सचार।" ('श्रद्धा' सर्ग)

× × ×

शक्तिके विद्युत्कण जो व्यस्त विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय
समन्वय उनका करे समस्त, विजयिनी मानवता हो जाय।

मनुष्यके भीतर 'शक्तिका क्रीडामय सचार' उसकी दुर्बलतासे बल लेता हुआ

तथा उसकी पराजयसे जयका आशा-उल्लास लेता हुआ, निरंतर समृद्धिके समस्त उपकरणोंका समन्वय करता हुआ मानवताकी विजय उपलब्ध करता है; यही उपर्युक्त कृतियोंका अभिप्राय है।

अद्वैतवादी आनंदवाद मनुष्यको अक्षय शक्तिका आगार मानता है, इसीलिए वह मानव जीवनमें क्लीवता, निराशा, अवसाद आदिकी कटु भर्त्सना करता हुआ ओजस्विता, आशा और उल्लासको वरण करता है। 'इरावती' उपन्यासमें आनंदवादी ब्रह्मचारी अग्निमित्रसे कहता है कि "मुझे अपनी आँखोंसे देखना है कि आर्यावर्तमें कहीं पौरुष बच गया है, कहीं तेज किसी राखमें छिपा तो नहीं है। इन कई महीनोंमें शास्त्रोंका अध्ययन करके जो रहस्य मैं समझ पाया हूँ, उसका प्रचार करनेके लिए कहीं क्षेत्र है कि नहीं।"

इसपर अग्निमित्रने पूछा—किन्तु क्या वह कोई नया रहस्य है भगवन्! —

ब्रह्मचारी—नहीं, है तो वह चिरन्तन, किन्तु अब वह जीर्ण हो चला है। नवीनताका उसपर आवरण चढ़ाना होगा। आर्यधर्मका आरंभिक उल्लासमय स्वरूप यद्यपि अभी एक बार ही नष्ट नहीं हो पाया है, फिर भी उसे जगाना ही पड़ेगा। × × × मुझे ऐसा मालूम होता है कि प्राचीन आर्य वीर संस्कृतिको लौटानेके लिए, प्राचीन कर्मोंको फिरसे आरंभ करना होगा, जिन्हें विवेकके अतिवादके कारण मानवताके लिए हमने हानिकर समझ लिया था। + + + सर्वसाधारण आर्योंमें अहिंसा, अनात्म और अनित्यताके नामपर जो कायरता, विश्वासका अभाव और निराशाका प्रचार हो रहा है उसके स्थानपर उत्साह, साहस और आत्मविश्वासकी प्रतिष्ठा करनी होगी।

जीवनमें 'उत्साह, साहस और आत्म विश्वासकी प्रतिष्ठा'के द्वारा (कर्तव्य) कर्म-निरत होना आनन्दवादकी कर्म साधना है। आत्म विश्वास सफलताकी सुदृढ़ आधार शिला है। जिसे आत्म रूपकी अनुभूति प्राप्त हो जाती है, उसे परिस्थितियोंसे ऊपर उठनेसे कोई रोक नहीं सकता है। मनुष्यको परिस्थितियोंका दास वहींतक माना जायगा जहाँतक उसमें आत्म शक्तिका पूर्ण सचरण नहीं हो पाता है। निर्वीर्यताके कारण इसे कोई थोथा आदर्शवाद भले कह ले, परन्तु वैदिक तरुण आनंदवादी आर्योंके लिए यह भावना व्यवहारकी वस्तु थी, वह जीवन मुक्त विदेहोंकी क्षमताके लिए यथार्थ थी। गीतामें 'कर्मणैव ससिद्धिमास्थिता जनकादय' कहकर आनंदवादियोंके ही कर्म-साफल्यका निदर्शन भगवान् श्रीकृष्णने किया।

प्रसादजीने लिखा है कि "मगधकी पूर्वी सीमापर भी उसके दुःख और अनात्मवादी राष्ट्रके एक छोरपर विदेहोंकी बस्ती थी, जो सम्पूर्ण अद्वैतवादी थे। ब्राह्मण-ग्रंथमें सदा नीराके उस पार यज्ञकी अग्नि न जानेकी जो कथा है उसका रहस्य इन्हीं ब्रात्य-सघोंसे (यहाँ तात्पर्य उन लोगोंसे है जो आर्य होते हुए भी आनंदवादी विचार धाराको न मानकर विवेकवादके मार्गपर चलते थे) संबंध रखता था। किन्तु

माधव विदेहने सदा नीराके पार अपने मुखमें जिस अग्निको ले जाकर स्थापित किया था, वह विदेहोंका आत्मवाद ही था।"

अब निष्कर्ष यह रहा कि 'कामायनी'में 'कर्म' (विदेह-कर्म)की उल्लासपूर्ण स्थापनाका प्रयत्न किया गया है। 'रहस्य' सर्गमें जिस 'कर्म'की श्यामलताकी कुत्सा की गयी है, वह उसके राग विराग समन्वित न होनेके कारण ही। जीवनकी मूल कामधारा (इच्छा),से राग प्रेरित 'कर्म' और विराग प्रेरित 'ज्ञान'का समन्वय स्थापित हो जानेपर जो कर्म किये जाते हैं उसे कामायनीकारने आनदके लिए न केवल आवश्यक वरन् अनिवार्य माना ही है। अतएव यह कहना भूल है कि इस काव्यमें 'कर्म'की उपेक्षा की गयी है, जबकि वास्तविकता यह है कि इस काव्यका प्रणयन, जैसाकि अबतककी विवेचनासे स्पष्ट हो चुका है, स्वस्थ, राग विराग समन्वित, कामकी स्थापनाके लिए ही किया गया है।

मैं यह स्पष्ट कर आया हूँ कि आनदवाद जीवनकी रसात्मक अनुभूति है। इसका तात्पर्य यही है कि जिस प्रकार चलचित्र या अभिनय देखते समय हम भोक्ता और द्रष्टा दोनों रहते हैं, हम एक ओर नायकके दु ख सुखमे रोते और हँसते है तो दूसरी ओर हम उससे अपनेको अलग भी समझकर उसके कार्योंके द्रष्टा भर रहते हैं, उसी प्रकार परमशक्ति की इस विश्व लीलामें आनदवादी अपनेको भोक्ता और द्रष्टा दोनों एक साथ ही मानता है। यही जीवनकी रसानुभूति है, इसीमे आनद अवस्थित है श्रद्धा इसी 'विदेह मार्ग'पर अवस्थित होकर जीवनकी एकरस (समरस) अनुभूति लेते हुई कहती है ,—

"मैं लोक अग्नि में तप नितान्त आहुति प्रसन्न देती प्रशान्त"

× × ×

"मैं हँसती हूँ रो लेती हूँ मैं पाती हूँ खो देती हूँ
इससे ले उसको देती हूँ मैं दुख को सुख कर लेती हूँ
अनुराग भरी हूँ मधुर घोल चिर विस्मृति-सी हूँ रही डोल।" (दर्शन)

इन पक्तियोंमें उसी निष्काम, अनासक्त कर्मकी व्यजना है, जिसका समर्थन गीतामें किया गया है। मनुकी यह उक्ति विचारार्थ प्रस्तुत है —

"जग ले ऊषा के दृग में, सो ले निशि की पलकों में,
हाँ स्वप्न देख ले सुन्दर उलझन वाली अलकों में
चेतन का साक्षी मानव हो निर्विकार हँसता सा
मानस के मधुर मिलन में गहरे-गहरे धँसता सा
सब भेद भाव भुलवा कर दुख-सुख को दृश्य बनाता
मानव कह रे! 'यह मैं हूँ' यह विश्व नीड़ बन जाता।"

पहली दो पक्तियोंमें जीवनके राग-पक्षकी स्वीकृति है। बीचकी दो पक्तियों आत्म साक्षात्कार (विरक्ति)का समर्थन है, और अतिम दो पक्तियोंमें उस राग विर

समन्वित कर्म करनेका संकेत है जिसमें कर्ता सुख-दुःखको समान समझता हुआ, निजको विश्व-लीलाका द्रष्टा बनाता हुआ, 'अहम् इदम् अस्मि' (मैं यह विश्व हूँ)की अनुभूति प्राप्त करके विश्वको एक नीड (एक कुटुम्ब) समझकर, कर्माचरणमें प्रवृत्त होता है। यही गीतामें प्रतिपादित 'समत्व योग' है।

'मानव'को सारस्वत प्रदेशमें कर्म नियोजित करके श्रद्धा मनुको लेकर साधना मार्गपर बढ़ी और उसने मनुको आनन्दानुभूति प्रदान की, इसे कुछ लोग कर्मसे पलायन मान लेते हैं। परन्तु सभी साधनाओंको कर्मसे पलायन मानना ठीक नहीं है। मनु श्रद्धाकी साधना कर्मसे पूरित थी। उसके इसी कर्म पक्षकी ओर संकेत करती हुई इड़ाने कहा था—

"वे युगल वहीं अब बैठे संसृति की सेवा करते
संतोष और सुख देकर सब की दुख ज्वाला हरते।"

श्री 'दिनकर'जीका कहना है कि "विचारनेकी बात यहाँ यह है कि हिमालयके शिखरपर कितनी आबादी थी जिसकी सेवा मनु और श्रद्धा कर रहे थे। कविका भाव, कदाचित्, यह है कि जो तीर्थयात्री वहाँ पहुँचते थे उन्हें दम्पतियुगल धर्मोपदेश दिया करते थे। उपदेश देना भी सेवाके अन्दर गिना जा सकता है, किन्तु, सेवाका यह कर्म नहीं, ज्ञान पक्ष है।" इस मतके सामने यह कहा जा सकता है कि सेवाका कर्म-पक्ष उसके ज्ञान-पक्षकी ही अभिव्यक्ति होता है। इस अर्थमें साहित्य साधना भी मानव सेवाका ज्ञान-पक्ष ही है, तो क्या साहित्यकारोंको कर्मसे पलायन करता हुआ ही माना जाय? क्या 'उर्वशी' 'कर्म'से पलायन है? हमारे राष्ट्रीय आन्दोलनोंमें सक्रिय (प्रकट) भाग न लेनेवाले साहित्यकारोंने जन चेतनाको जाग्रत करनेमें जो साधना की है क्या वह कर्म-पलायन ही रहा?

दूसरी बात यह भी कही जा सकती है कि मनु और श्रद्धाके युगमें प्रलयके कारण आबादी क्षीण हो चुकी थी (कामायनीकारकी कल्पनाके अनुसार कमसे कम)। केवल सारस्वत प्रदेशकी आबादीका इस काव्यमें उल्लेख है, सम्भव है कि कुछ और आबादी रही हो। 'मानव' उसके बीच श्रद्धाके बताये उसी मार्गपर विश्वासके साथ कर्म-रत था जिसपर मनन चिन्तनके सहारे चलकर मनुको आनन्द मिला। कैलास शिखरपर जो व्यक्ति पहुँचते रहे उन्हें मनु-श्रद्धा ज्ञान-संतोष प्रदान करते रहे, और 'मानव'के आनेकी प्रतीक्षा भी उन्हें रही होगी, यह भी अनुमान किया जा सकता है। 'दर्शन' सर्गमें हमें इसका संकेत दिया जा चुका है। मनुको जैसे ही आनन्दकी उपलब्धि हुई उसके थोड़े समय बाद ही 'मानव' भी उसी भूमिकापर आ गया। अतः मनुपर कर्मसे विरत होकर सन्यास लेनेका आरोप कैसे लगाया जा सकता है, जब उन्होंने अन्तमें सभीको अपना अवयव स्वीकार किया। आगे चलकर उन्होंने उस राष्ट्रका नेतृत्व किया होगा, यह भी तो अनुमानके भीतर ही है?

उसी प्रसंगमें 'दिनकर'जीका यह कथन भी पढ़ने योग्य है कि "आजका श्रेष्ठ

सन्यासी वह है जो एक रास्तेसे निकलकर दूसरे रास्तेसे उसमें वापस आ जाय।" यह वाक्य वास्तवमें श्रेष्ठ सन्यासीके विषयमें नितान्त उपयुक्त है, इससे किसीका विरोध नहीं हो सकता है। क्या हमने अपने अबतकके अध्ययनमें यह नहीं देख लिया कि मनु ऐसे ही सन्यासी थे जो सघर्षमें घायल होकर जीवनसे 'एक रास्तेसे' भग गये और फिर 'आनन्द' सर्गमें 'दूसरे रास्तेसे उसमें वापस' आ गये, और यह कहकर 'विश्वनीड' म रम गये (कर्म प्रवृत्त हो गये) कि—

"सब भेदभाव भुलवा कर दुख-सुख को दृश्य बनाता
मानव कह रे! 'यह मैं हूँ' यह विश्व नीड़ बन जाता।"

अन्तमें, अब यह कहकर मैं आगे बढ रहा हूँ कि आनन्दवाद चूँकि इसी जीवनमें तथा इसी लोकमें अपनी मुक्ति (परम पुरुषार्थकी प्राप्ति) समझता है, चूँकि वह यह मानता है कि 'कल्याण भूमि यह लोक', चूँकि वह निराशा, विषाद, निर्वीर्यताके स्थानपर जीवनमें आशा, उत्साह-उल्लास और ऊर्जस्विताका आकांक्षी है, अतएव उसपर पलायनवाद या प्रतिगामिताका दोष नहीं मढा जा सकता है। 'इरावती'में अग्निमित्रने जब आनन्दवादी ब्रह्मचारीसे कहा कि "ब्रह्मचारिन्, मैं तुम्हारी बात समझ रहा हूँ, तुम प्रत्येक स्थितिसे तादात्म्य कर लेना चाहते हो?" तो ब्रह्मचारीने कहा कि —"हाँ मेरी विचारधारा पशु नहीं है, उन्मुक्त नील आकाशकी तरह विस्तृत, सबको अवकाश देनेके लिए प्रस्तुत। चारो ओर आनन्दकी सीमामें प्रसन्न। और वह प्रसन्नता प्रत्येक अवस्थामें रहनेवाले किसी भी प्राणीके विरुद्ध न होगी। चारों ओर उजला उजला प्रकाश जैसा, जिसमें त्याग और ग्रहण अपनी स्वतन्त्र सत्ता बनाकर लडते नहीं। विश्वका उज्ज्वल पक्ष अन्धकारकी भूमिकापर नृत्य करता हुआ-सा दीख पडे। सबको आलिंगित करके आत्माका आनन्द स्वस्थ, शुद्ध और स्ववश रहे यह स्थिति क्या अच्छी नहीं है?" "गुरुदेवने बताया है कि कहीं अशिव नहीं, सर्वत्र शिव, सर्वत्र आनन्द है।"

मनु काव्यके अन्तमें ब्रह्मचारीकी इसी स्थितिम पहुँच चुके थे। तभी वे यह कह सके—

"शापित न यहाँ है कोई तापित पापी न यहाँ है,
जीवन-वसुधा समतल है समरस है जो कि जहाँ है।"

कि "मैं इसीलिए प्रयत्न करूँगा कि इनकी (आर्योंकी) वाणी शुद्ध, आत्मा निर्मल और शरीर स्वस्थ हो", जो यह मानता था कि "हम आत्मवान् हैं, हमारा भविष्य आशामय है, इस आर्य भावका प्रचार करना आवश्यक है।"

प्रसाद-साहित्यका प्रत्येक अध्येता उसमें प्रतिपादित कर्म-महत्ता और कर्म सौन्दर्यसे भली भाँति परिचित है। 'कामायनी'के उपरान्त रची गयी अधूरी कृति 'इरावती'के पर्याप्त उद्धरण दिये जा चुके हैं जिनसे प्रसादजीकी कर्म भावनापर प्रकाश पड ही रहा है। इन पूर्वापर कृतियोंके बीचमें रखकर ही हम कामायनीकारके 'कर्म' विषयक मतको समझ सकते हैं।

काव्यके अन्तमें ('आनन्द' सर्गमें) जहाँ कविने विशुद्ध समाधिगत आनन्द-अनुभूतिका वर्णन किया है, वहींपर उसने प्रकृतिके बाह्य उल्लास, क्रियाशीलता और मधुचर्याका भी उल्लेख किया है—

"अति मधुर गंध वह वहता परिमल बूँदों से सिंचित
सुख स्पर्श कमल-केसर का कर आया रज से रंजित;
जैसे असंख्य मुकुलों का मादन विकास कर आया
उनके अछूत अधरों का कितना चुंबन भर लाया।"

× × ×

"उन्मद माधव मलयानिल दौडे सब गिरते पड़ते
परिमल से चली नहा कर काकली सुमन थे झड़ते,
सिकुडन कौशेय वसन की थी विश्व-सुन्दरी तन पर
या मादन मृदुतम कंपन छायी संपूर्ण सृजन पर।" (इत्यादि)

विश्व सुन्दरी प्रकृति, या सम्पूर्ण सृजनपर 'मादन मृदुतम कम्पन' (मदपूर्ण कोमल सिहरन)का छा जाना, कितने उल्लास, मधु, प्रमोदकी व्यंजना करनेमें समर्थ है! उपर्युक्त तीसरी और चौथी पंक्तियोंमें पवन द्वारा 'असंख्य मुकुलों'के 'अछूत अधरोंका कितना चुम्बन' कराकर उनका 'मादन विकास' सम्पन्न कराया गया। और यह सब उसी आनन्द भूमिपर हो रहा है जहाँ मनु-श्रद्धा इडा मानव आदि लोग रहते हैं। फिर भी लोग कह देते हैं कि 'कामायनी'का आनन्द केवल अन्तर्मुख है।

उल्लास, प्रमोद, शालीन मधुचर्याका जिस 'आनन्द'में समावेश है (और प्रसादजीने इसे स्पष्ट माना भी है, यह कहा जा चुका है) उसे कर्म विरत कहना, या अन्तर्मुख ही कहना निरा भ्रम होगा। कविने उपर्युक्त प्रकृति-वर्णनसे यह संकेत प्रदान कर दिया है कि मनु मानव सभी इसी जीवनसे भरपूर थे, क्योंकि वहाँपर जड चेतन सभी समरस थे, अर्थात् एक ही आनन्द उन सबमें (मानव प्रकृति और बाह्य प्रकृति दोनोंमें) प्रवाहित था।

"समरस थे जड या चेतन सुन्दर साकार बना था
चेतनता एक विलसती, आनन्द अखण्ड घना था।"

सन्यासी वह है जो एक रास्तेसे निकलकर दूसरे रास्तेसे उसमें वापस आ जाय।" य वाक्य वास्तवमें श्रेष्ठ सन्यासीके विषयमें नितान्त उपयुक्त है, इससे किसीका विरो नहीं हो सकता है। क्या हमने अपने अबतकके अध्ययनमें यह नहीं देख लिया कि मनु ऐसे ही सन्यासी थे जो सघर्षमें घायल होकर जीवनसे 'एक रास्तेसे' भग गये और फिर 'आनन्द' सर्गमें 'दूसरे रास्तेसे उसमें वापस' आ गये, और यह कहकर 'विश्वनीड' में रम गये (कर्म प्रवृत्त हो गये) कि—

"सब भेदभाव भुलवा कर दुख-सुख को दृश्य बनाता
मानव कह रे! 'यह मैं हूँ' यह विश्व नीड़ बन जाता।"

अन्तमें, अब यह कहकर मैं आगे बढ़ रहा हूँ कि आनन्दवाद चूँकि इसी जीवनमें तथा इसी लोकमें अपनी मुक्ति (परम पुरुषार्थकी प्राप्ति) समझता है, चूँकि वह यह मानता है कि 'कल्याण भूमि यह लोक', चूँकि वह निराशा, विषाद, निर्वीर्यताके स्थानपर जीवनमें आशा, उत्साह-उल्लास और ऊर्जस्विताका आकांक्षी है, अतएव उसपर पलायनवाद या प्रतिगामिताका दोष नहीं मढ़ा जा सकता है। 'इरावती'में अग्निमित्रने जब आनन्दवादी ब्रह्मचारीसे कहा कि "ब्रह्मचारिन्, मैं तुम्हारी बात समझ रहा हूँ, तुम प्रत्येक स्थितिसे तादात्म्य कर लेना चाहते हो!" तो ब्रह्मचारीने कहा कि —"हाँ मेरी विचारधारा पगु नहीं है, उन्मुक्त नील आकाशकी तरह विस्तृत, सबको अवकाश देनेके लिए प्रस्तुत। चारों ओर आनन्दकी सीमामें प्रसन्न। और वह प्रसन्नता प्रत्येक अवस्थामें रहनेवाले किसी भी प्राणीके विरुद्ध न होगी। चारों ओर उजला उजला प्रकाश जैसा, जिसमें त्याग और ग्रहण अपनी स्वतत्र सत्ता बनाकर लड़ते नहीं। विश्वका उज्ज्वल पक्ष अन्धकारकी भूमिकापर नृत्य करता हुआ सा दीख पड़े। सबको आलिंगित करके आत्माका आनन्द स्वस्थ, शुद्ध और स्वच्छ रहे यह स्थिति क्या अच्छी नहीं है!" "गुरुदेवने बताया है कि कहीं अशिव नहीं, सर्वत्र शिव, सर्वत्र आनन्द है।"

मनु काव्यके अन्तमें ब्रह्मचारीकी इसी स्थितिमें पहुँच चुके थे। तभी वे यह कह सके—

"शापित न यहाँ है कोई तापित पापी न यहाँ है,
जीवन वसुधा समतल है समरस है जो कि जहाँ है।"

आनन्दकी इसी उच्च भूमिपर मनुको पहुँचाकर कविने कथा समाप्त कर दी, जो कथा-योजना और रस-योजना के अनुकूल ही है। इसके बाद मनुने किस प्रकारके कर्म किये होंगे, यह ध्वनित रहा। कदाचित् लोगोंके द्वारा इस ध्वनिको ठीकसे ग्रहण करते न देखकर (या पूर्व-आशयासे ही) प्रसादजीने 'इरावती'के ब्रह्मचारीकी अव तारणा की, जो यह जाननेके लिए उत्सुक और प्रयत्नशील था कि क्या 'आर्यावर्तमें कहीं पौरुष बच गया है', और जिसने यह महसूस किया कि "प्राचीन आर्य और सस्कृतिको लौटानेके लिए प्राचीन कर्मोंको फिरसे आरम्भ करना होगा", जिसका यह कहना था

को भी मांगलिक ही मानता है। उसके लिए नियति विश्वकी मांगलिक नियामिका शक्ति है।

मनुने 'चिंता' सर्गमें अपनी प्रलय-सुरक्षाको इसी नियतिका कार्य बताया—

"लगते प्रबल थपेड़े, धुँधले तट का था कुछ पता नहीं
कातरता से भरी निराशा देख नियति पथ बनी वहीं।"

इसी नियतिका प्रसाद था कि प्रलयकी उस विनाश-लीलामें मनु सुरक्षित रह सके, यह भी उसीका अनुशासन था कि यद्यपि 'महामत्स्यका एक चपेटा' वास्तवमें मनुके 'दीन पोतका मरण रहा', 'किन्तु उसीने ला टकराया इस उत्तर गिरिके शिरसे।' नियतिकी शक्ति जल प्लावनकी भी नियामिका थी। उसकी इच्छासे

"देव सृष्टि का ध्वंस अचानक श्वास लगा लेने फिर से।"

और, मनु उसके शासनमें ठीक उसी प्रकार चल पड़े, जिस प्रकार सागरके अन्तर्स्पंदनसे परिचालित लहरें (विवश) तटका स्पर्श करती रहती हैं—

"उस एकान्त नियति शासन में चले विवश धीरे धीरे
एक शान्त स्पन्दन लहरों का होता ज्यों सागर तीरे।"

श्रद्धा और मनुका प्रथम मिलन भी इसी नियतिका कार्य था, उसीने श्रद्धाकी चेतनाको उस दिशामें चलनेकी प्रेरणा भर दी जिस दिशामें मनु तप निरत थे। दोनोंका नर नारी मिलन भी नियतिकी इच्छाका फल रहा—'दो अपरिचितसे नियति अब चाहती थी मेल'। मनुके विकृत काम या उनकी आत्मवादके प्रति विश्वासहीनताके लिए शाप देते हुए कामने कहा था—

'व्यापकता नियति प्रेरणा बन अपनी सीमामें रहे बन्द', अर्थात् नियतिकी प्रेरणासे तुम लोग 'व्यापकता'को छोटी सीमामें बन्द करके रखो, तुम्हें व्यापक भावना न उपलब्ध हो।

इन उपर्युक्त उद्धरणोंसे यह स्पष्ट हो गया कि प्रसादजीने 'नियति'को पूर्वोक्त आनन्दवादी अर्थमें प्रयुक्त किया है। उनके अनुसार यह 'महाकाल आनन्द'की स्पन्दनशक्ति ही है। श्रुतियोंमें ऋतको विश्व व्यास नियम या व्यवस्था माना गया है, और उसे सत्य भी कहा गया है, वह धर्मका पर्याय भी है। नियति यही महाचितिकी ऋत् शक्ति है, वह विश्वमें एक नियम, एक व्यवस्था स्थापित रखती है, और जो अपने कर्मोंसे इस नियमको व्याघात पहुँचाता है उसे वह नष्ट कर देती है।

यहाँ एक प्रश्न उठता है। नियतिके आगे व्यक्ति विवश क्यों है, और व्यक्तिकी स्वतन्त्रता रहस्य क्या है? जैसा कि कहा जा चुका है, नियति महाचितिकी समष्टिगत स्पन्दनशक्ति (या गति) है। महान्-से महान् व्यक्ति भी पूरे ब्रह्माण्ड रूपी चक्रको संचालित करनेवाली शक्तिसे छोटा होता है। अपने भाग्यका विधाता होता हुआ भी, इसके आगे वह लघु वामन ठहरता है। आत्मवादकी अनुभूति प्राप्त करके जब वह

तो फिर यह कैसे हो सकता है कि एक ही आनन्दमे पूरित होनेपर प्रकृति तो इस कोटिके उल्लास प्रमोद-मधु भरे कम्पनोंमें हो और 'मनु' जीवनसे पलायन कर चले या अन्तर्मुख रहे ! काव्यके इस अशको अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानना चाहिए, इसके प्रत्येक सकेतको हमे ठीकसे ग्रहण करना चाहिए। कविने स्पष्ट कर दिया है कि कैलास शिखरकी यह भूमि निवृत्तिकी नहीं, वरन् उत्कृष्टतम प्रवृत्तिकी भूमि है। हमें इस तथ्यको समझनेमें तनिक भी प्रमाद नहीं करना चाहिए।

नियतिवाद

कर्मसे कोई रहित हो भी नहीं सकता है। विश्व-शक्तिकी महान् स्फुरणा सर्वोपरि है, वह किसीको एक क्षण भी कर्म रहित (स्पन्दन-रहित) नहीं रहने दे सकती। तन्त्रालोकमे अभिनवगुप्ताचार्यने लिखा है—'नियतिर्योजना धत्ते विशिष्टे कार्यमण्डले' अर्थात् नियति कार्यकी योजना करनेवाली (शक्ति) है। प्रसादजीके साहित्यमे इस कर्म नियामिका (या सयोजिका) शक्ति, नियतिका प्रचुर उल्लेख हुआ है। इसके स्वरूपको ठीकसे न समझनेके कारण, लोग प्राय इसे भाग्यका पर्याय मान बैठते हैं (पता नहीं वे भाग्यका क्या अभिप्राय समझते हैं)। अतएव आनन्दवादकी विवेचनाके इस प्रसगमें अब हम इसी नियतिवादके स्वरूपपर विचार करेंगे।

प्रसादजीके अनुसार, वैदिक तरुण आर्योंमें आत्मवाद (आनन्दवाद)की प्रतिष्ठा हो जानेपर भी कुछ आर्य उसे स्वीकार करनेमें असमर्थ थे, वे व्रात्य कहलाये। ये लोग प्राचीन चैत्य पूजामे ही प्रवृत्त थे, इन्हें आत्मवादमें विश्वास नहीं था। इन्होंने उत्तराधिकारी थे तीर्थंकर हुए जिन्होंने विश्वको तथा जीवनको दुखमय बताया। मस्करी गोशालकी साधना दुखवादी साधना ही थी। वे मानते थे कि जब प्राणी नियतिके क्रूर हाथोंका कठपुतला ही है, तो मुक्तिके लिए हमें प्रयत्न करनेसे क्या लाभ ! सारे कर्मोंको उसीकी इच्छापर छोड देना चाहिए। यह दुखवादी नियतिवाद या जो व्यक्तिको निराशा, निष्कर्मण्यताके गर्भमें डाल देता है। (आधुनिक युगमे 'अज्ञेय'जी भी नियतिका लगभग यही रूप स्वीकार करते प्रतीत होते हैं।)

आनन्दवादी नियतिवाद ठीक इसके विपरीत आशाप्रद और कर्म प्रेरणाका मार्ग है। हम कह आये हैं कि आनन्दवादके अनुसार 'महाकाल शिव'का महानृत्य ही विश्व है। इस महाकालके महानृत्यकी स्पन्दन शक्ति ही वह नियति है जिसे आनन्दवाद अप्रतिहत मानता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, वह सबोंको कार्योंमे नियोजित करती है। इसीके अनुशासनमें प्राणी अपने कर्मोका फल पाता है, इसके कारण एक ओर न तो प्राणी कर्मसे रहित हो सकता है, और न अपने किसी कर्मके फलसे बच सकता है। कर्म और कर्म फलकी सारी योजना इसी महास्पन्दन शक्तिके कारण होती रहती है। अब चूँकि आनन्दवादी यह मानता है कि 'महाकाल' स्वय शिव है, उसका नृत्य आनन्द पूरित है, अत यह उसकी इस महास्पन्दन शक्ति, नियति

सिद्धिके लिए आवश्यक प्रथम चार हेतु मानवीय शक्तिकी 'क्रियमाण'-सीमाके वशमें रहते हैं और अंतिम हेतु दैव है जो अदृष्ट या 'प्रारब्ध' कर्मकी संज्ञा है। वह दैव सर्वदा अदृष्ट रहता है, कार्यके शुभाशुभ फलसे ही हमें उसे समझनेका प्रयत्न नहीं करना चाहिए, और न उसी 'दैव' (भाग्य)के नामपर बैठे रहना चाहिए। उपर्युक्त प्रथम चार हेतुओंको निरन्तर उपयुक्त बनानेको प्रयत्न (तदबीर) कहते हैं, उन्हींको सुधारना हमारा काम है। इसीलिए गीताका यह महामन्त्र है कि—

"कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।'

"अर्थात् मनुष्यका अधिकार काम करनेमें (पूर्वोक्त चार हेतुओंको उपयुक्त बनाकर काम करनेमें) है, फल पाना (सफलता सिद्धि) मनुष्यके अधिकारमें नहीं है। (क्योंकि दैव उसकी शक्तिके बाहर है), इसलिए मनुष्यको कर्म फलके निमित्त (अर्थात् इस आसक्तिके साथ कि उसे निश्चित रूपसे सफलता प्राप्त होकर रहे) काम नहीं करना चाहिए, और न उसे कर्म करनेसे (पूर्वोक्त चार हेतुओंको सुधारकर कर्म करनेसे) विरत ही होना चाहिए।" इसलिए भगवान्ने अर्जुनसे कहा कि "सङ्ग त्यक्त्वा (फलमें आसक्तिको त्यागकर) सिद्धि और असिद्धिमें समान बुद्धिवाला होकर कर्म करो, इसीको 'समत्व योग' कहते हैं—

"योगस्थ कुरु कर्माणि सङ्ग त्यक्त्वा धनंजय
सिद्ध्यसिद्ध्यो समो भूत्वा समत्व योग उच्यते।"

वास्तविक भारतीय भाग्यवादकी यह व्याख्या पूरी तब होती है जब हम भगवान् श्री कृष्णका यह मत भी समझ लें—

"अपि चेदसि पापेभ्य सर्वेभ्य पापकृत्तम
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सतरिष्यसि।"

अर्थात् यदि तू सब पापियोंसे भी अधिक पाप करनेवाला है तो भी ज्ञान नौका द्वारा तू सम्पूर्ण पापोंको तर सकता है। ज्ञानकी अग्नि सब कर्मों (प्रारब्ध, संचित और क्रियमाण)को जला देती है। ज्ञानका तात्पर्य, जैसा कि बताया जा चुका है, राग विराग समन्वित कर्म, या समत्व बुद्धिसे है। आत्मरूपका बोध ही उस ज्ञानका आधार है। इस आत्मरूपके स्पष्ट बोधके लिए श्रीकृष्णने अपना 'महाकाल' रूप सामने प्रस्तुत किया जिसका उल्लेख हम कर आये हैं। अब भाग्यवादका स्वरूप विश्लेषण पूरा हो गया। आगेकी कुछ पंक्तियोंमें हम इसकी उपलब्धियोंपर विचार करेंगे।

पुनर्जन्मवादकी मान्यताके अनुसार, कर्मका फल मिलकर रहता है, उसे कोई टाल नहीं सकता। किन्तु इस अनिवार्यतासे दुःखी या निराश होनेकी आवश्यकता नहीं है। इस नियमके अनुसार मुक्तिकी प्राप्ति भी सुगम हो जाती है और वह भी इसी जीवनमें, इसी लोकमें। आवश्यकता केवल दो बातोंकी है, एक तो यह कि मनुष्य कर्तव्य कर्मोंको निरन्तर करता रहे और दूसरे यह कि वह आत्म रूप (या

विराट चेतनाका सबोध उपलब्ध कर लेता है, तब वह स्वतन्त्र होता है, उस समय उसकी आत्म-स्फुरणा और नियतिमें अभेद स्थापित हो जाता है।

इसलिए उससे डरनेकी आवश्यकता नहीं है। श्रद्धाने मनुको इसी शक्तिके सकेतको सुनने या ग्रहण करनेका परामर्श देते हुए कहा था—

"और यह क्या तुम सुनते नहीं विधाता का मगल वरदान—
'शक्तिशाली हो विजयी बनो' विश्व में गूज रहा यह गान।"

आनन्दवाद नियतिको इसी रूपमें देखता है। वह चाहती है कि व्यक्ति शक्तिशाली बने, विजयी बने।

नियतिवाद और भाग्यवाद

'नियतिवाद' और भाग्यवादमें समानता भी है और अन्तर भी। पहले अन्तरको समझ लीजिये। भाग्यवादके अनुसार यह माना जाता है कि 'अवश्यमेव भोक्तव्यम् कृत कर्म शुभाशुभ', किये हुए शुभ अशुभ कार्योंका फल अवश्य मिलता है। ये कर्म तीन प्रकारके होते हैं प्रारब्ध, सचित और क्रियमाण। प्रारब्ध वह कर्म है जिसे भोगनेके लिए एक जीवन काल प्राप्त होता है, पूर्व कर्मोंके शेष अशको सचित कर्म कहते हैं, जिनका फल अन्य जीवन-कालमें भोगना पड़ेगा, और क्रियमाण कर्म वह है जो इस जीवनमें नया किया जाता है। फिर प्राय इससे यह निष्कर्ष भी निकाल लिया जाता है कि हमारे क्रियमाण कर्म वस्तुत प्रारब्धसे ही सम्पन्न होते हैं। जो हमने पहले कर लिया है, उसीके अनुसार हमारी प्रकृति बनेगी, फिर उसी प्रकृतिके अनुसार हम कर्म करेंगे, और इस प्रकार प्रारब्धका भूत ही जीवनको छायावृत किये रहेगा। यह सोचकर मनुष्य अपनी स्थितिका उत्तरदायित्व 'दैव' (भाग्य)के मत्थे ही थोपता है और अपनी नियतताम विषादमग्न, कर्म निश्चेष्ट और जड़ताको प्राप्त होता है। यदि यही भाग्यवाद है तो निश्चित रूपसे यह उस आनन्दवादी नियतिवादसे भिन्न है जिसके मागलिक एव आशाप्रद स्वरूपकी कुछ चर्चा ऊपर हो चुकी है। *अधिक-से अधिक इस कोटिका भाग्यवाद मस्करी गोशालके पूर्वोक्त दु खमूलक निष्क्रिय* नियतिवादका पर्याय ठहरेगा।

परन्तु यह वास्तविक भाग्यवाद नहीं है, यह भाग्यवादका गलत रूप है। वास्तवमें भाग्यवाद पुनर्जन्मवादी भारतीय दर्शनकी उस अपूर्व उपलब्धिका रूप है जिसे 'कर्म सिद्धान्त' कहा जाता है (जिसकी कुछ चर्चा पहले की जा चुकी है)। भगवान् श्रीकृष्णने गीताम बताया है कि—

"अधिष्ठान तथा कर्ता करण च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक्चेष्टा दैवं चैवात्र पचमम्।"

"सम्पूर्ण कर्मोंकी सिद्धिके लिए आधार, कर्ता, विविध साधन, विविध चेष्टाएँ और (पाँचवाँ) दैवके अनुकूल होनेकी आवश्यकता रहती है।" तात्पर्य यह है कि कार्य

यह विश्वनर्तक नटराजका स्पन्दन है, अतएव इसकी गति निरन्तर आनन्दोन्मुख, शिवोन्मुख रहती है। यह व्यक्तिको नटराज आनन्दतक ले जानेका साधन भी है।

और जैसे आत्म ज्ञानकी अग्निमें सब कर्म नष्ट हो जाते हैं, उसी प्रकार शिवत्व-तक पहुँच जानेपर प्राणी नियतिके कर्म-चक्रकी पीडासे मुक्त हो जाता है। अतएव हम इस निष्कर्षपर आये कि प्रसादकी आनन्दवादी नियति-भावना एक ओर दुःखवादी मक्खरी गोशाल आदिकी नियति-भावनासे भिन्न है, तो दूसरी ओर दुःखवादी अदृष्ट-मूलक भाग्यवादसे भी भिन्न है।

परिवर्तन

यत महाकाल निरन्तर स्पन्दित रहता है, अतः वह चिर नवीन रहता है। परिवर्तन उसका शाश्वत और अटूट नियम है। आनन्दवाद इस परिवर्तनको आनन्द-मय, इसीलिए, स्वीकार करता है—

> "प्रकृति के यौवन का शृंगार करेंगे कभी न बासी फूल
> मिलेंगे वे जाकर अति शीघ्र आह उत्सुक है उनकी धूल।
> पुरातनता का यह निर्मोक सहन करती न प्रकृति पल एक
> नित्य नूतनता का आनन्द किये है परिवर्तन में टेक।" (श्रद्धा)

इस परिवर्तनको, एक स्थितिसे दूसरी स्थितिमें जानेको, नाश नहीं समझना चाहिए। परिवर्तन 'अनन्त अमरत्व' है [अर्थात् परिवर्तनका न होना (स्थिरता) मृत्यु है] कामने मनुको इसी मंगल ज्ञानको भूल जानेका शाप दिया—

> "तुम जरा मरण में चिर अशान्त
> जिसको अब तक समझे थे सब जीवन में परिवर्तन अनन्त
> अमरत्व वही अब भूलेगा तुम व्याकुल उसको कहो अन्त।"
> ['इडा' सर्ग में इसकी व्याख्या देखिए]

इस उक्तिमें गीताके 'वासांसि जीर्णानि यथा विहाय'की ध्वनि है। निष्कर्ष यह रहा कि आनन्दवाद परिवर्तनको मंगलपूर्ण एवं काम्य मानता है।

दुःख

इसके साथ यह भावना भी सम्बद्ध है, कि दुःखका जीवनमें उतना ही महत्त्व है जितना सुखका। इन दोनोंका सम्बन्ध अविच्छेद्य और आनन्दमय है। न केवल सुखमें आनन्द है, न केवल दुःखमें। चूँकि जीवनमें इन दोनोंकी अवस्थिति होती है, इसीलिए जीवनमें आनन्द पाया जा सकता है। जो केवल सुखमें आनन्द पाना चाहते हैं और इसलिए दुःखसे भागते हैं, वे अन्ततोगत्वा सुख न पाकर तथा चारों ओर दुःखका ही दर्शन करके, जीवनसे पलायन कर जाते हैं। ऐसे लोग दुःखवादी या विवेकवादी होते हैं। आनन्दवाद मानता है कि—

'महाकाल' शिवके रूप)का पूर्ण बोध प्राप्त करता चले। जिस दिन वह 'आत्म'का बोध प्राप्त कर लेगा, उस दिन उसके द्वारा किये गये कर्म उसकी मुक्ति उसे इसी जीवनमें प्रदान कर देंगे (और प्रारब्ध तथा सञ्चित कर्म तो भस्म ही हो जायँगे), वह मुक्ति जो जगत्-जीवनकी रसात्मक दशा, आनन्द होती है। इसीलिए कृष्णने कहा था कि 'मामनुस्मर युद्ध च', मेरे रूपकी अनुभूति प्राप्त करो और संघर्ष (कर्म) करते रहो।

इस प्रकार हमने देखा कि भारतीय दर्शनमें 'भाग्यवाद'को एक सीमाके भीतर ही रखा गया, और अन्तमें उसे एवं उसके मूल 'कर्म सिद्धान्त'को साधन बनाकर आत्माकी ज्वालामें संस्कारोंको भस्म करके उन्हें जीवन-मुक्तकी विभूतिके रूपमें परिणत कर दिया गया।

इस प्रकारका 'भाग्यवाद' नियतिवादका समानार्थी होगा। परन्तु भारतीय चिन्तनमें सर्वत्र इस रूपमें उसे नहीं माना गया है। भाग्यको अदृष्टमूलक मानवीय विवशता ही मानकर व्यक्तिके त्राण या मुक्तिके लिए विधि निषेधमय कर्मकाण्डकी योजना की गयी अथवा भगवान्‌की कृपा निमित्त भक्ति (उपासना)को वाञ्छनीय समझा गया। कर्मकाण्डीय और भक्ति सम्बन्धी भाग्यवाद दुःखानुभूतिपर ही आधारित हैं, और अन्ततोगत्वा व्यक्तिको निवृत्ति मार्गपर ही अग्रसर करते हैं। ऐसे दुःखमूलक अदृष्टवाद या भाग्यवादसे आनन्दमूलक नियतिवाद निश्चित रूपसे भिन्न है।

प्रसादजी और उनकी मान्य वैदिक विचारधारा (आनन्दवाद) दोनों ही पुनर्जन्मवादी हैं। 'इरावती'में अग्निमित्रने एक भिक्षुसे कहा "ठहरो भिक्षु। हम पुनर्जन्मवादी हैं, हम जीवन चाहते हैं, निर्वाणको हम तब चाहेंगे जब हम जीवनसे निराश हो जायँगे।" जिस प्रकार ऊपर कहे गये पुनर्जन्मवादी (अदृष्टमूलक) कर्म सिद्धान्तमें यह माना जाता है कि कर्मोंसे कोई बच नहीं सकता है, उसी प्रकार पुनर्जन्म वादी आनन्दवाद यह मानता है कि नियति (जो कर्म नियोजिका और नियामिका शक्ति है)से कोई भग नहीं सकता है। अशुभ, अकर्तव्य, कर्मोंका वह भयंकर परिणाम प्राणियोंको दिया करती है, यह उसका एक रूप है। तृष्णाके पीछे भगनेवालोंको यही नियति दण्डस्वरूप भटकाती रहती है—

'नियति चलाती कर्म-चक्र यह तृष्णा जनित ममत्व वासना।' (रहस्य)

× × ×

'यहाँ सतत संघर्ष, विफलता कोलाहल का यहाँ राज है।'

इस रूपमें नियति पूर्वोक्त 'कर्म सिद्धान्त'के (दुःखमूलक अदृष्ट) 'दैव'के समान ही है, प्रसादजीने इसी अधम इसे एक अन्य स्थलपर प्रस्तुत किया है। काम मनुको शाप देते हुए कहता है—

'मानव संतति ग्रह-रश्मि रज्जु से भाग्य बाँध पीटे लकीर'

परन्तु अपने दूसरे रूपमें यह उस भाग्यवाद या (अदृष्ट) दैववादसे भिन्न है।

आदि)के होते हुए भी यह बौद्ध सम्प्रदाय एक बार फैलकर पुनः समाप्त-प्राय हो गया। वह केवल कुछ भिक्षुओंके विहारोंमें रह सका। यह दशा अन्ततोगत्वा बुद्धके द्वारा सम्पन्न काम-विजयकी 'हार'में परिणति रही। कामको गौतम बुद्ध भले ही जीत सके पर कामने अन्तमें उनके सम्प्रदायपर अपनी विजय स्थापित ही कर ली। यह बौद्धधर्मकी हार और कामकी जीत है।

आनन्दवादियोंके सामने भी 'काम'की यही समस्या उपस्थित हुई। उन्होंने भी 'काम'को ही जीवनका उद्भव और आधार मानकर उसकी अतृप्तिको दुःख ठहराया। कामकी अतृप्ति ही दुःख है। परन्तु उन्होंने बुद्धसे भिन्न मार्ग स्वीकार किया। उन्होंने यह समझ लिया कि 'काम'का हनन ठीक नहीं है; उसके अभावमें जीवनका उल्लास भी समाप्त हो जायगा। अतएव उन्होंने कामको आत्मकी ज्वालामें भस्म करके, उसे 'अनंग' (विदेह) कर दिया, उसके अहम्‌को मर्यादित कर दिया। फिर तो वह आनन्दकी विभूतिके रूपमें स्वीकृत हुआ। उसके योनिमूलक रूपको दाम्पत्य जीवनमें स्थापित करके आनन्दवादी वैदिक आर्य कर्म-साधनामें अग्रसर हुए और कामके अन्य रूपोंको 'पर' (इदम्)की चेतना (या सामाजिक चेतना)से संयमित करके मुक्तिका मार्ग उन्होंने प्रशस्त किया। फिर तो 'काम'की उपासना भी प्रारम्भ हो चली। 'काम'को इस उदात्त भूमिकापर स्थापित करके, तथा उसीके द्वारा, जीवनका आनन्द (मुक्ति) पानेके विश्वास और श्रद्धाके कारण यह आवश्यक था कि दुःखको भी स्वीकार किया जाय। क्योंकि दुःख और सुख, जैसा कि कहा जा चुका है, जीवनसे अविच्छेद्य हैं, और जीवनसे काम अविच्छेद्य है। यही कारण कि आत्मवाद निर्वाणकी नहीं वरन् लोक-जीवनके समग्र आनन्दकी कामना करता है।

परन्तु आवश्यकता इस बातकी है कि मनुष्य जीवनके प्रति, उसके सुख-दुःखके प्रति, आनन्दवादी दृष्टि अपनाये। वह यह विश्वास करे कि इस जीवन-प्रवाहमें, महाकालके विश्व-नृत्यमें जो कुछ हो रहा है वह आनन्दमय है; वह प्रत्येक स्थितिमें, प्रत्येक व्यापारमें उसी आनन्द, शिवका दर्शन करे। अतएव आनन्दवादने दुःखको भी सुख मान लिया; उसके लिए उन दोनोंमें, द्वन्द्वोंमें, कोई विरोध नहीं; विषमता न रह गयी। श्रद्धाके उपर्युक्त उद्गारमें यही आशय व्यक्त किया गया है।

प्रसादजीकी ये पंक्तियाँ भी यहाँपर उद्धरणीय हैं—

> "जीवन की बलि वेदी पर परिणय है विरह-मिलन का
> सुख-दुख दोनों नाचेंगे है खेल आँख का मन का।" (आँसू)

बस यही आनन्दवादी दृष्टि है जग-जीवनको देखने की। जीवनको, उसमें होनेवाले विरह-मिलन एवं सुख-दुःखके आवर्तनको, 'आँख और मन'का खेल मानकर 'आत्म'को निर्लिप्त रखना आनन्द-मार्ग है। तात्पर्य यह हुआ कि मन तथा इन्द्रियों द्वारा जीवनका भोग करता हुआ, 'आत्म' रूपमें द्रष्टा भर रहना आनन्दवादियोंको अभीष्ट है। अपने इस द्रष्टा रूपमें वे दुःख-सुखके प्रभावसे परे चले जाते हैं। अतएव

"दुखकी पिछली रजनी बीच विहँसता सुख का नवल प्रभात
एक परदा यह झीना नील छिपाये है जिसमें सुख गात।" (श्रद्धा)

दुख ही सुखके विकासका सत्य है। इसलिए सुखके आकांक्षीको दुख स्वीकार करना अनिवार्य है। परन्तु दुखको स्वीकार करनेका अर्थ यह नहीं है कि सुखकी आशासे उसे रो धोकर स्वीकार करना चाहिए। इसका तात्पर्य है दुख और सुखको समभावसे स्वीकार करना। गोसाईंजीने लिखा है—

"प्रसन्नता या न गताभिषेकतस्तथा न मम्ले वनवास दुखतः
मुखाम्बुजश्री रघुनन्दनस्य मे सदास्तु सा मञ्जुलमंगल प्रदा।"

"अर्थात् अभिषेककी सूचनासे जो प्रसन्न नहीं हो उठी, तथा वनवासके दुखद समाचारसे जो म्लान नहीं हुई, रामके मुख-कमलकी वह श्री मेरा सदा कल्याण करे।" आनन्दवादी दुख-सुखमें सम रहनेवाली इसी मनोदशाकी कांक्षा करते है। श्रद्धाकी ये उक्तियाँ उद्धरणीय हैं—

'सुख दुख की मधुमय धूप छाँह, तूने छोड़ी यह सरल राह।' (दर्शन)

× × ×

"मैं हँसती हूँ रो लेती हूँ, मैं पाती हूँ खो देती हूँ,
इससे ले उसको देती हूँ, मैं दुखको सुख कर लेती हूँ।" (दर्शन)

दुखको स्वीकार न करनेपर, अर्थात् दुखकी स्थितिमें भी सोल्लास, आशापूर्ण, रहकर कर्तव्य कर्म करनेमें सन्तुष्ट न रहनेपर, व्यक्तिको कहीं भी शान्ति नहीं मिल सकती है। शान्ति तभी मिलती है जब मनुष्यमें दुखके समय धैर्य और भगवान्की मंगलेच्छाके प्रति अडिग आस्था हो। आनन्दवाद इसीलिए यह मानता है कि मनुष्यका कल्याण इसीमें है कि वह दुखसे तनिक भी विचलित न हो।

वास्तवमें जीवन दुख और विषादसे निरन्तर पीडित रहता है। विविध शारीरिक तथा मानसिक व्याधियाँ जीवनको व्यथित करती रहती हैं। प्रत्येक मनुष्यको किसी न किसी प्रकारका अभाव व्याकुल किये रहता है। प्रसादजीकी यह उक्ति प्रत्येक हृदयकी उक्ति है कि 'सुख चपला सा दुख घनमें'। संक्षेपमें, यह निर्विवाद रूपसे माना जायगा कि जीवन दुखसे कभी मुक्त नहीं हो सकता। गौतम बुद्धने इसीसे निर्वाणका मार्ग ढूँढनेका प्रयत्न किया, और उन्हें वह मार्ग मिला काम दमनका, इच्छाओंके निग्रहका। न इच्छा होगी, न कोई एषणा होगी और तब हमें उसकी अतृप्तिका दुख भी न होगा। तर्क शास्त्र (Logic)के अनुसार यह उपलब्धि गलत नहीं कही जा सकती है। यदि शरीरकी भूखको, मनकी उमगोंको, हृदयकी माँगोंको, कोई मार सके तो फिर दुख कैसे आतका! बौद्ध मार्ग इसी लक्ष्यकी ओर चला। गौतम बुद्धकी काम विजय भी बौद्ध-सम्प्रदायकी आदर्श कहानी है। परन्तु वास्तवमें यह आदर्श मिथ्या रहा। कामका दमन जीवनके दमनका पर्याय है, कामको छोड़कर जीवन उभर ही नहीं सकता है। यही कारण था कि अनेक पवित्र सिद्धान्तों (करुणा, मैत्री, विश्व बन्धुता, मानव-सेवा

आदि)के होते हुए भी यह बौद्ध सम्प्रदाय एक बार फैलकर पुन समाप्तप्राय हो गया। वह केवल कुछ भिक्षुओंके विहारोंमें रह सका। यह दशा अन्ततोगत्वा बुद्धके द्वारा सम्पन्न काम विजयकी 'हार'में परिणति रही। कामको गौतम बुद्ध भले ही जीत गये पर कामने अन्तम उनके सम्प्रदायपर अपनी विजय स्थापित ही कर ली। यह बुद्धधर्मकी हार और कामकी जीत है।

आनन्दवादियोंके सामने भी 'काम'की यही समस्या उपस्थित हुई। उन्होंने भी 'काम'को ही जीवनका उद्भव और आधार मानकर उसकी अतृप्तिको दु ख ठहराया। कामकी अतृप्ति ही दु ख है। परन्तु उन्होंने बुद्धसे भिन्न मार्ग स्वीकार किया। उन्होंने यह समझ लिया कि 'काम का हनन ठीक नहीं है, उसके अभावमें जीवनका उल्लास भी समाप्त हो जायगा। अतएव उन्होंने कामको आत्मकी ज्वालामें भस्म करके, उसे 'अनग' (विदेह) कर दिया, उसके अहम्को मर्यादित कर दिया। फिर तो वह आनन्दकी विभूतिके रूपमें स्वीकृत हुआ। उसके योनिमूलक रूपको दाम्पत्य जीवनमें स्थापित करके आनन्दवादी वैदिक आर्य कर्म साधनामें अग्रसर हुए और कामके अन्य रूपोंको 'पर' (इदम्)की चेतना (या सामाजिक चेतना)से संयमित करके मुक्तिका मार्ग उन्होंने प्रशस्त किया। फिर तो 'काम'की उपासना भी प्रारम्भ हो चली। 'काम'को इस उदात्त भूमिकापर स्थापित करके, तथा उसीके द्वारा, जीवनका आनन्द (मुक्ति) पानेके विश्वास और श्रद्धाके कारण यह आवश्यक था कि दु खको भी स्वीकार किया जाय। क्योंकि दु ख और सुख जैसा कि कहा जा चुका है, जीवनसे अविच्छेद्य हैं, और जीवनसे काम अविच्छेद्य है। यही कारण कि आत्मवाद निर्वाणकी नहीं वरन् लोक जीवनके समग्र आनन्दकी कामना करता है।

परन्तु आवश्यकता इस बातकी है कि मनुष्य जीवनके प्रति, उसके सुख दु खके प्रति, आनन्दवादी दृष्टि अपनाये। वह यह विश्वास करे कि इस जीवन प्रवाहमें, महाकालके विश्व नृत्यमें जो कुछ हो रहा है वह आनन्दमय है, वह प्रत्येक स्थितिमें, प्रत्येक व्यापारमें उसी आनन्द, शिवका दर्शन करे। अतएव आनन्दवादने दु खको भी सुख मान लिया, उसके लिए उन दोनोंमें, द्वन्द्वोंमें, कोई विरोध नहीं विषमता न रह गयी। श्रद्धाके उपर्युक्त उद्गारमें यही आशय व्यक्त किया गया है।

प्रसादजीकी ये पंक्तियाँ भी यहाँपर उद्धरणीय हैं—

> "जीवन की वलि वेदी पर परिणय है विरह मिलन का
> सुख-दुख दोनों नाचेंगे है खेल आँख का मन का।" (आँसू)

बस यही आनन्दवादी दृष्टि है जग-जीवनको देखने की। जीवनको, उसमें होनेवाले विरह मिलन एवं सुख दु खके आवर्तनको, 'आँख और मन'का खेल मानकर 'आत्म'को निर्लिप्त रखना आनन्द मार्ग है। तात्पर्य यह हुआ कि मन तथा इन्द्रियों द्वारा जीवनका भोग करता हुआ, 'आत्म' रूपमें द्रष्टा भर रहना आनन्दवादियोंको अभीष्ट है। अपने इस द्रष्टा रूपमें वे दु ख-सुखके प्रभावसे परे चले जाते हैं। अतएव

गौतम बुद्धके समान उन्हें जीवन देवताको न कुचलनेकी आवश्यकता पड़ती है, और न दुःखसे निर्वाणकी कामना होती है। इसीलिए श्रद्धाने मनुसे कहा—

> "दुःख से डर कर तुम अज्ञात जटिलताओं का कर अनुमान
> काम से झिझक रहे हो आज भविष्यत् से होकर अनजान।" (श्रद्धा)

मृत्यु

दुःखके हेतुओंमें मृत्यु सबसे प्रबल है, आजतक मानव इसपर विजय न पा सका। इसीके 'नीले अंचल'में जीवनका उद्भव, विकास और अन्त होता रहता है। शरीरमें होनेवाले विविध परिवर्तन, उसकी सभी अवस्थाएँ, इसीके कार्य हैं। प्राणीको इससे छुटकारा नहीं है। इसने जीवनको क्षण भंगुर, 'दो दिनका', बना दिया है। और दूसरी ओर मानवके मनमें जीवनके प्रति अपार ममता, अमरत्वकी अदम्य स्पृहा भी होती है। अस्तु, अमरत्वकी स्पृहा और मृत्युकी इस प्रबलताके कारण, जीवन चिन्तकोंके सामने यह समस्या खड़ी होती है कि फिर जीवनका मूल्य क्या है? यदि जीवन *नाशवान्*, विवश, है तो उसकी उपयोगिता क्या है। मानवने मृत्युपर विजय पानेका प्रयत्न कम नहीं किया, पर वह सफल न हुआ। अब उसका यह पूछना स्वाभाविक है कि 'इस जीवनका उद्देश्य क्या है'। इसके कई उत्तर प्रस्तावित हुए हैं और आजतक होते चले रहे हैं। हम यहाँपर उन सबकी चर्चा नहीं कर सकते। परन्तु प्रस्तुत प्रसंगमें कुछका संक्षिप्त उल्लेख आवश्यक है।

जब जीवन दो ही दिनका है, तो जितना सुख मिल सके उसका अहम्मूलक भोग करना ही जीवनका मूल्य है, यह एक मत है जिसे प्राचीन भारतमें लोकायतनवादी (आज भोगवादी) कहा जाता रहा। मनुने 'ईर्ष्या' सर्गमें इसी जीवन मूल्यको काम्य बताया है।

वे श्रद्धासे कहते हैं—

> "देखा क्या तुमने कभी नहीं
> स्वर्गीय सुखों पर प्रलय नृत्य?
> फिर नाश और चिर निद्रा है
> तब इतना क्यों विश्वास सत्य?"

'कर्म' सर्गमें उन्होंने इसी लोकायत (भोगवादी) भावनामें श्रद्धासे कहा था—

> "तुच्छ नहीं है अपना सुख भी
> श्रद्धे वह भी कुछ है
> दो दिन के इस जीवन का तो
> वही चरम सब कुछ है।"

दूसरा मत यह है कि 'येनाहम् नामृतास्या किमहम् तेन कुर्याम्', जिससे हम अमरत्व न प्राप्त हो उसे लेकर ही हम क्या करेंगे। और फिर 'अमृत' होनेके प्रसंगमें

मृत (अर्थात् जीवन)को त्याग देना ही श्रेय मान लिया गया, जो केवल तपका मार्ग है, विरागका मार्ग है। ये दोनों मार्ग अस्वस्थ हैं; यह कहा जा चुका है। आनन्दवाद भी उपर्युक्त औपनिषद् वाक्यमें निहित सत्यको अपना सिद्धान्त मानता है; परन्तु उसका मार्ग 'मृत (जीवन)को ही अमृत' रूपमें उपलब्ध करनेका है।

अतएव उसने मृत्युको सुन्दर और शिवसे अभिन्न माना। स्वयं मृत्युदेवसे आनन्दका, अमृतका, मार्ग पूछा गया; और मौतके देवताने नचिकेताके माध्यमसे भी मनुष्योंको यह स्पष्ट शब्दोंमें बता दिया कि 'यदि अमृत (आनन्द)को पाना हो तो मृत्युसे अभय बन जाओ; मुझको न डरो'। आनन्दवाद मृत्युसे अभय होनेकी अनुभूतिपर खड़ा होता है। वह मृत्युको, महाकाल (अपने महादेव शिव)के विश्व-नृत्यकी पदचाप मानकर उसमें वही आनन्द देखता है जो उसे चराचर विश्वमें व्यक्त दिखायी देता है।

> "महानृत्य का विषम सम, अरी अखिल स्पन्दनों की तू माप
> तेरी ही विभूति बनती है सृष्टि सदा होकर अभिशाप।"

मृत्युके द्वारा किये गये संहारकी भूमिकापर नव सृजन होता है, और यह नवसृजन पुनः मृत्युकी छायामें क्षीण होता रहता है (यही उसकी विभूति और उसका अभिशाप है)।

> "अंधकार के अट्टहास-सी मुखरित सतत चिरंतन सत्य
> छिपी सृष्टि के कण में तू यह सुन्दर रहस्य है नित्य।"

मृत्यु अन्धकारका (अव्यक्तका) मुखरित अट्टहास है, (अर्थात् मृत्युके अतिरिक्त और कुछ व्यक्त नहीं है, क्योंकि यह जीवन उसीकी सृष्टि है)। वही सतत, चिरन्तन, सत्य है; वह सृष्टिके कण-कणमें है। यह रहस्य (तथ्य) सुन्दर है, शाश्वत है। शाश्वत तो वह इसलिए है कि वह 'महाकाल' (आनन्दके देवता)के विश्व-नृत्यका अंश है, वह उसकी नर्तन-शक्तिका अंश है। और वह सुन्दर इसलिए है कि उसकी गोद जीवनको सम्पूर्ण चिन्ताओंसे मुक्त कर देती है। वह प्राणीको नवीन अवसर देती है, वह प्राणीकी पूर्णताप्राप्तिमें सहायिका होती है। वह काल-जलधिकी सहज हलचल है—

> "मृत्यु, अरी चिर-निद्रे! तेरा अंक हिमानी-सा शीतल
> तू अनंत में लहर बनाती काल-जलधि की सी हलचल।"

यहाँपर यह बता देना अप्रासंगिक न होगा कि 'कुछ लोगोंके मतानुसार प्रकृति ही विश्व (और जीवन)का मूल कारण है; पदार्थोंमें प्रसुप्त शक्ति ही उनके व्यक्त रूपका कारण है। बीजमें निहित शक्ति ही वृक्षको उत्पन्न करती है। उसी प्रकार विश्व अपनी प्रकृति-शक्तिका कार्य है। कुछ लोग यह मानते हैं कि 'काल' ही पदार्थोंका कारण है। विशेष कालमें ही कोई पदार्थ उत्पन्न होता है; काल ही में उसका पोषण और संवर्धन होता है। कालका योग न होनेपर शक्ति कुछ नहीं कर सकती है। अन्य वे

लोग हैं जो यह मानते हैं कि विश्वका, उसके सभी पदार्थोंका, मूलकारण 'महा (कालका भी काल) है—

"स्वभावमेके कवयो वदन्ति काल तथान्ये परिमुह्यमाना।
देवस्यैष महिमा तु लोके येनेदं भ्राम्यते ब्रह्मचक्रम्।
येनावृतं नित्यमिदं हि सर्वं ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः
तेनेशितं कर्म विवर्तते ह पृथ्व्यप्तेजोऽनिलखानि चिन्त्यम्।"
(श्वेताश्वतरोपनिषद)

"यह महाकाल ज्ञानस्वरूप, सवगुण सम्पन्न, एव सर्वज्ञ है, उससे शासित हुआ यह जगत्‌रूप कर्म विभिन्न प्रकारसे यथा योग्य (नियमपूर्वक) चल रहा है। वही पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाशपर शासन करते हुए इनको अपना अपना कर्म करनेकी शक्ति देता है। उसकी शक्तिके बिना ये कुछ नहीं कर सकते।"

'कामायनी'के आनन्दवादका देवता यही 'महाकाल' है और वह कालको (मृत्युको) अपनी इच्छासे जगत्‌रूप कर्मको नियमपूर्वक चलानेमें नियोजित करता है। अतएव वह (काल, मृत्यु) शाश्वत और सुन्दर ही है। इसका एक नाम, इसीलिए, 'यम' (नियामक) है। वह धर्मराज भी है।

आत्मवादी 'आनन्द'का स्वरूप और मूल्य

उपर्युक्त विवेचनाके उपरान्त अब सक्षेपमें 'आनन्द'के स्वरूप और मूल्यकी भी स्पष्ट व्याख्या वाछनीय है। आनन्दका अर्थ, मेरे विचारमें, दुखानुभूतिका अभाव नहीं है। दुखका विलोम तो सुख होता है और 'आनन्द' (दुखके विलोम) सुखसे भिन्न होता है, उसे कभी भी सुख (लौकिक माँगकी तृप्ति) नहीं मानना चाहिए। जैसा कि मैं कह आया हूँ, आनन्द जीवनकी रसात्मक अनुभूति है, 'रसो वै स' वह रस है। जिस प्रकार नाना भावोंका आस्वादन काव्य-रस कहलाता है, उसी प्रकार जीवनके सुख दुखका आस्वादन ही 'आनन्द' है। जिस प्रकार काव्यगत जीवनका हम आस्वादन करते हैं, उसी प्रकार आनन्दवादी इस विश्व-काव्यका आस्वादन-आनन्द प्राप्त करता है।

यदि कोई निरन्तर काव्यका आस्वादन करता रहे (जो सम्भव नहीं है, क्योंकि जीवनमें अन्य काय भी सम्पन्न करते रहते हैं) तो उसे निरन्तर वही आनन्द मिलता रहेगा जो जीवन मुक्त विदेह आनन्दवादीको मिलता है। प्रश्न किया जा सकता है कि क्या जीवन मुक्तकी कल्पना निरा यथार्थ नहीं है? क्या यथार्थसे उसका सम्पर्क रहता है? उत्तरमें केवल यह निवेदन किया जा सकता है कि यह साधना और विश्वासके द्वारा ही उपलब्ध होनेवाला आदर्श है। मनकी चचलताके निग्रहके लिए भगवान्‌का परामर्श है कि—

'अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते'। (गीता)

अभ्यास और वैराग्यसे मनका निग्रह होता है। फिर निर्विकार, चित्त वृत्ति निरोधकी, स्थिति यथार्थ ही हो जाती है। 'आनन्द' इसी निर्विकार स्थितिकी उपलब्धि है, अत उसे अभ्यास और संयम द्वारा ही यथार्थ बनाया जा सकता है। वह निश्चित रूपसे साधारण, नित्य प्रतिके यथार्थसे भारी है। उसे पानेके लिए विश्वास एवं श्रद्धा पूर्वक कुछ साधना करनी होगी। अपनी निर्वीर्यताके कारण हमें उसे अयथार्थ या थोथा आदर्श नहीं कहना चाहिए; वह आदर्श वास्तवमें मानवीय शक्ति द्वारा उपलब्ध किये जानेवाला सम्भवतम उच्च यथार्थ ही है।

जो जीवनमें उल्लास, आशा, प्रमोद और शक्तिकी आकांक्षासे अनुप्राणित है, वह आनन्दवादी व्यक्ति यथार्थको कभी छोड कैसे सकता है? जो 'काम'के हननका किसी भी स्थितिमें और किसी भी स्तरपर समर्थन नहीं करता, जो जीवनकी सभी माँगोंकी रसात्मक तृप्तिका हामी है, जो 'सत्व'का उपासक है, वह यथार्थसे विमुख कैसे हो सकता है? जो यह मानता है कि 'कल्याण भूमि यह लोक' है, वह लोक यथार्थसे आँख किस प्रकार बन्द कर सकता है?

मनोविज्ञानकी दृष्टिसे भी इस 'आनन्द'का सर्वाधिक मूल्य ठहरता है। मनोविज्ञानकी यह स्पष्ट स्थापना है कि मस्तिष्क (जो कि स्नायुओंका केन्द्र है, जो सारी क्रियाओंका सचालन केन्द्र है) विविध विरोधी वृत्तियों (संवेदनाओं)के पारस्परिक संघर्षोंके दूर हो जानेपर जब एक सन्तुलितावस्था उत्पन्न हो जाती है तब उससे व्यक्तित्वके स्वस्थ विकास में अत्यन्त सहायता प्राप्त होती है। असन्तुलित मस्तिष्कका व्यक्ति जीवनका स्वस्थ विकास नहीं कर सकता है। मस्तिष्ककी वही अवस्था मनोविज्ञानको स्पृहणीय जँचती है जिसमें अधिक-से अधिक माँगोंकी तृप्ति हो और कम से-कम (अपेक्षाकृत कम महत्त्वकी) माँगोंका दमन या नियमन हो। काव्य रस ऐसी अवस्था उत्पन्न करनेमें समर्थ होता है, इसीलिए वह मूल्यवान् है। श्री आइ० ए० रीचर्ड्सने इसीके आधारपर काव्यका मूल्य और लक्ष्य ठहराया है।

इस सन्तुलन अवस्थाको उन्होंने निष्क्रियावस्था (शून्यावस्था)से भिन्न माना है। बात ठीक भी है। मस्तिष्कका सन्तुलन वास्तवमें कार्य शक्तिसे भरपूर रहता है, वह सक्रियताकी सर्वाधिक सशक्त स्थिति होती है। आनन्दवादकी समरस स्थिति, मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे सक्रियताकी ऐसी ही सशक्त अवस्था है। उसमें कर्म सम्पन्नताकी जो स्फूर्ति, उल्लास, शीलता, क्षमता होती है, वह अन्य किसी स्थितिमें सम्भव नहीं है। और इसीलिए उसे जो सिद्धि मिलती है वह अन्यको नहीं। यह भी एक कारण है कि 'आनन्द'को अमृत कहा गया है। अमृतम स्वादके अतिरिक्त अपूर्व स्वास्थ्यका गुण भी होता है जो सारे क्रिया-कलापोंका सर्वाधिक समर्थ हेतु कहा गया है। यह स्वास्थ्य शरीर और मन दोनोंका है। आत्मामृतम अवगाहन करके, व्यक्तिका तन-मन अनुपम कान्ति, स्वास्थ्य, प्रफुल्लतासे दीपित हो उठता है। और 'इरावती' उपन्यासके ब्रह्मचारीकी यह आकांक्षा पूरी हो जाती है कि 'इनकी (आर्योंकी) वाणी शुद्ध, आत्मा निर्मल और शरीर स्वस्थ हो।"

इसीलिए मैंने कहा था कि कामायनीकारने 'आनन्द' सर्गमें मनुको निर्विकार आनन्दकी भूमिकापर पहुँचाकर, हमें यह संकेत प्रदान कर दिया कि आनन्दवादकी प्रकृतिके अनुसार मनु इस समयसे, निःसन्दिग्ध रूपसे, कर्ममें प्रवृत्त हुए। विकृत कामके कारण वे जीवनसे पलायन करके साधनाकी शरणमें गये, तो आनन्दकी भूमिकापर कामकी व्यापक भावना उपलब्ध करके, आनन्दामृतमें रमण करके, पुनः जीवनमें नूतन मनु बनकर लौट आये; ऐसे ब्रह्मचारी बनकर लौट आये 'जिसकी वाणी शुद्ध, आत्मा निर्मल और शरीर स्वस्थ' था। निष्कर्ष यह रहा कि आनन्दवाद सक्रिय यथार्थका विशिष्ट जीवन दर्शन है। वह विरक्ति लेकर जीवनमें प्रवृत्त होता है। संक्षेपमें यही उसका मूल्य है।

परन्तु 'कामायनी' काव्यके 'आनन्द' के स्वरूपको समझनेमें प्रायः विद्वानोंको एक महान् भ्रम हो चला है। डॉ० नगेन्द्र 'कामायनीके अध्ययनकी समस्याएँ' में लिखते हैं—"कामायनीमें आनन्दके जिस रूपकी प्रतिष्ठा है, वह स्पष्टतः आत्मस्थ है। वह अन्तर्मुख आनन्द या आत्मानन्द है—बाह्यगोचर, विश्व-रूपमें प्रसरित आनन्द नहीं है।" आगे उनका कहना है कि "यह आनन्द औपनिषदिक परम्परासे प्रभावित शैवाद्वैत प्रतिपादित अभेदमय आत्मवाद है जिसमें आत्म और परमात्मका ही नहीं, वरन् आत्म और जगत्के भी पूर्ण ऐक्यकी भावना निहित है।" और अन्तमें उनका निष्कर्ष है कि "कामायनीका आधारभूत दर्शन शैवाद्वैत—काश्मीरी शैवदर्शन—प्रत्यभिज्ञादर्शन ही है।" "यह आनन्द अद्वैतजन्य है; किन्तु यह अद्वैत वेदान्त प्रतिपादित अद्वैत नहीं, शैवाद्वैत ही है।"

स्पष्ट है कि श्रीनगेन्द्रजीने 'कामायनी' के 'आनन्द' को शैवाद्वैत-दर्शनका वह अन्तर्मुख आनन्द या आत्मानन्द माना है जो 'बाह्यगोचर विश्व-रूपमें प्रसरित आनन्द नहीं है', जो वेदान्त प्रतिपादित अद्वैत नहीं है। परन्तु यह मत केवल इसलिए गलत नहीं है कि इसके द्वारा 'कामायनी' के 'आनन्द' का सम्यक् स्वरूप नहीं स्पष्ट हो सका, वरन् इसलिए भी कि इसमें 'आनन्द' को (शैवाद्वैतके आनन्दको भी) खण्डित रूपमें (अन्तर्मुख-बहिर्मुख) देखा गया है। इस मतका आशय तो यह हुआ कि 'विश्वरूपमें प्रसरित आनन्द' (अर्थात् जीवनके आनन्द) से 'कामायनी' का प्रतिपाद्य 'आनन्द' भिन्न है। ऐसा 'आनन्द' तो केवल साधनागत अन्तर्मुख आनन्द होगा, केवल तप निरत योगियोंका आनन्द होगा।

प्रसादकी श्रद्धाने तो 'तप नहीं केवल जीवन सत्य' का सिद्धान्त स्वीकार किया था; फिर उसका अभीष्ट आनन्द केवल 'तप' का कैसे हो सकता है! मैं स्पष्ट कर आया हूँ कि वैदिक आनन्दवादी दर्शन लोक-भोगके द्वारा ही जीवन-मुक्ति पानेका मार्ग स्वीकार करता है, वह विदेह-मार्गका हामी है। 'विदेह' ही 'आत्मवाद' के आदर्श हैं, और प्रसादजीने भी उन्हें 'आत्मवादी' आर्योंकी मूल आनन्दवादी धाराका आदर्श व्यक्ति माना है। 'विदेहों' का 'आनन्दवाद' और 'कामायनी' का आनन्दवाद अभिन्न है (इसकी

चर्चा मैं कई स्थलोंपर कर आया हूँ)। अन्तर केवल 'शिव', 'महाकाल' 'त्रिपुर', 'शक्ति' तथा (श्रीनगेन्द्रजीके शब्दोंमें) 'प्रचुर पारिभाषिक' (शैवाद्वैत या प्रत्यभिज्ञा दर्शनकी) शब्दावलीका है।

बात यह है कि प्रसादजीका ब्रह्म, विश्व, आत्मा और जीवनविषयक मत किसी साम्प्रदायिक दर्शनमें बद्ध नहीं था। उनकी दार्शनिक भावना अत्यन्त उदार थी। कहा जा चुका है कि आगमोंमें प्रतिपादित मतोंके मूल तत्त्व वैदिक साहित्यमें उपस्थित रहे शब्दावलीमें परिवर्तन होता रहा, मतोंका सम्मिश्रण-संश्लेषण होता रहा; परन्तु वैदिक साहित्यकी मूल आनन्दधारा और आगमोंकी आनन्दधारामें मौलिक अन्तर नहीं रहा। 'प्रसादजी'ने ही माना है कि "आगमानुयायियोंने निगमके 'आनन्दवाद'के विचारों और क्रियाओंमें अनुसरण किया ('रहस्यवाद')।" प्रसादजीने इन्द्रको आनन्दवादका प्रथम स्थापक कहा है तथा यह भी माना है कि श्रीकृष्णने इन्द्रकी पूजाका प्रत्याख्यान करके 'आत्मवाद'की ही प्रतिष्ठा की ('रहस्यवाद')।

इस 'आत्मवाद'की प्रतिष्ठा, प्रसादजीके मतसे (और वह ठीक भी है) आदिम बहुदेवोपासनाके उपरान्त एकेश्वरवादके साथ ही प्राचीन वैदिक युगमें ही हो चुकी थी। हमने यह भी देखा कि 'आत्मवादी' संस्कृतिकी स्थापना ही कामायनीका 'कार्य' है, अतः उसका 'आनन्द' इन्द्र द्वारा जल प्लावन-पूर्व सारस्वत प्रदेशमें स्थापित (परन्तु देव जातिकी विकृतियोंके कारण अपूर्ण-अविकसित) आत्मवादी संस्कृतिके श्रद्धा-मानव-मनु द्वारा पुनर्स्थापित स्वरूपसे ही उत्पन्न 'आनन्द' हो सकता है। तात्पर्य यह है कि 'एक सर्वान्तर आत्मा' (आत्मवाद)की अनुभूति ही उस 'आनन्द'के मूलमें है; विश्वको परम सत्ताका व्यक्त रूप मानना ही 'एक सर्वान्तर आत्मा'की अनुभूति है। 'कामायनी'-में 'आनन्द'की यही भूमिका है।

हमने देखा कि त्रिपुरकी (इच्छा, कर्म और ज्ञानकी) व्याख्या प्रसादजीने शैवागमके अनुसरणपर ही न करके स्वतन्त्र रूपसे की है। उसी प्रकार शैव मतके उन सभी सिद्धान्तोंको उन्होंने कथामें स्वीकार किया है जो मूल वैदिक 'आनन्दवाद' या आत्मवादको व्यक्त करनेमें पाठकोंकी सहायता कर पाते हैं। दूसरे शब्दोंमें यह कहा जा सकता है कि शैवागमोंसे उन्होंने शब्द लिये, कई सिद्धान्त लिये, केवल इसलिए कि वैदिक 'आत्मवाद'का स्पष्ट बोध कराया जा सके। उनका मुख्य लक्ष्य वैदिक 'आत्मवाद'को समझाना और उसके आधारपर 'आनन्द-उल्लास प्रमोद'से पूरित जीवनके कर्म मार्गकी प्रतिष्ठा करना था।

संक्षेपमें मैं कहना यह चाहता हूँ कि प्रसादजीने सम्प्रदायके घेरेमें न बँधकर आगमसे सामग्री ली है। वे तुलसीके समान ही सम्प्रदाय-मुक्त होकर विश्वकी मूल सत्ताका दर्शन कर और करा रहे थे। उन्होंने अखण्ड आनन्द देना चाहा, न कि अन्तर्मुख और बहिर्मुखके वर्गोंमें उसे बाँट कर। 'कामायनी'का 'आनन्द' अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी एक साथ ही दोनों है; वह साधना और कर्म दोनोंका समन्वयात्मक आनन्द है। वह 'विदेहों'के कर्मठ ब्रह्मानन्दसे अभिन्न है [देखिये 'रहस्य' सर्ग]।

आनन्दकी प्रकृति : मानवतावाद

कहा जा चुका है कि आनन्द प्रकृतितः मानवता-धाराका प्रवर्तक होता है। इदम् और अहम्‌की समन्वित चेतना उसका स्वभावगत वैशिष्ट्य है। यही कारण है कि आरम्भसे अन्ततक 'कामायनी' काव्य मानवतावादी मतोंकी अभिव्यक्ति करता है। हम उन सबको अपने अबतकके काव्य अध्ययनके बीच देख आये हैं; फिर भी इस स्थलपर उनकी संक्षिप्त चर्चा अनावश्यक न होगी।

मानवतावादके कई रूप हमें देखनेको मिलते हैं। इसका एक रूप विज्ञानके आधार और उपादानसे निर्मित है। *वह मानवको केवल प्रकृतिकी सृष्टि मानता* है। वह यह मानता है कि मनुष्यके भीतर अक्षय्य शक्ति और विकासकी सभी सम्भावनाएँ निहित हैं। प्रकृतिसे संघर्ष करते हुए तथा उसके द्वारा प्राप्त उपलब्धियोंके सहारे, मानव एक ऐसी स्थिति, ऐसी व्यवस्थाको प्राप्त करनेमें समर्थ हो सकता है जहाँ प्रत्येक व्यक्तिको सुख ही सुख मिलेगा। रूसके समाजवादी यथार्थवादकी (जो द्वन्द्वात्मक भौतिकवादके सिद्धान्तपर स्थापित है) यही चेष्टा है। वह 'नवीन मानव' और 'नयी मानवता'की स्थापनाको अपना लक्ष्य बनाकर चल रहा है। परन्तु रूसके *इस समाजवादी (साम्यवादी)* सिद्धान्तमें कई प्रकारकी विसंगतियाँ हैं जिनकी चर्चा करनेपर अत्यधिक विस्तार हो जानेकी आशंका है; अतएव मैं केवल दो निम्नांकित उद्धरणोंको प्रस्तुत कर देना *ठीक समझ रहा हूँ (क्योंकि मेरे विचारमें इनमें जो निष्कर्ष* है वह सर्वथा ठीक है) :—

(१) "द्वन्द्वात्मक भौतिकवादमें कई विभिन्न सिद्धान्तोंका समावेश किया गया है। उसमें कई तत्त्व चिन्तकोंसे ऐसी सामग्रियाँ उधार ली गयी है जो सर्वथा एक दूसरेकी विरोधिनी है। उनमें कुछ तो ऐसी हैं जो प्रत्यक्ष सत्य हैं, कुछ ऐसी हैं जो पूर्णतः ठोस दार्शनिक सत्य प्रस्तुत करती हैं, परन्तु कुछ बातें ऐसी हैं जो गम्भीर दार्शनिक परीक्षणपर खरी नहीं उतर पाती हैं।"—[Bochenski]

(२) "*विरोधी तत्त्वोंकी एकता तभी सम्भव है जब वह देश और कालकी* सीमाके परे हो। परन्तु यदि इसे स्वीकार कर लिया जाय, तो इससे एक आदर्श सत्ताकी सम्भावना निश्चित हो जाती है। इस प्रकार आन्तरिक विरोधोंकी एकताका सिद्धान्त, यदि इसकी तहतक जाकर विचार किया जाय, द्वन्द्वात्मक भौतिकवादकी समस्त बौद्धिक पद्धतिको नष्ट करके स्वयं व्यर्थ हो जाता है।"—['*दी क्राइसिस इन* सोवियट फिलासफी': Prokofiev]।

विज्ञानका मानवविषयक एक दृष्टिकोण यह भी है जो यह मानता है कि यह समस्त विश्व एक स्वचालित महायन्त्र मात्र है। न इसका कोई चालक नियता है, और न इसका कोई स्थिर नियम है। सृष्टि नियमहीन, विशृङ्खल, है। 'कामायनी'के 'दर्शन' सर्गमें मनुने भी सृष्टिको इसी रूपमें देखा था—

"विश्व एक बंधन-विहीन परिवर्तन तो है
इसकी गतिमें रवि शशि-तारे ये सब जो हैं :—
रूप बदलते रहते वसुधा जलनिधि बनती
उदधि बना मरुभूमि जलधिमें ज्वाला जलती।"

इस जीवन-मतकी चर्चा मैं पहले कर आया हूँ और श्री बर्ट्रेण्ड रसलको इस वर्गके मतानुयायियोंका प्रतिनिधि कह आया हूँ। इसके अनुसार मानव केवल प्रकृतिका दास है; वह वही करता है जो प्रकृति उससे करा ले। ऐसा मत अन्ततोगत्वा (विवेकवाद या) भोगवादमें परिणत हो जाता है, और अपनी निर्बलताओंका सारा उत्तरदायित्व प्रकृतिकी यान्त्रिकतापर थोपकर मानवके प्रति दया, माया, ममता आदिकी माँग करता है।

कुछ ऐसे भी विचारक हैं जिन्होंने मानवकी मूल प्रकृतिको उदात्त स्वीकार करते हुए यह बताया है कि यदि इसपरसे समाज या वर्ग द्वारा लगाये गये बन्धन उठा दिये जायें तो समाज और व्यक्तिका परम कल्याण होगा। व्यक्ति अपनी मूल-प्रकृतिके निर्देशपर सर्वथा मंगल मार्गपर ही बढ़ेगा। इसे प्राकृतिकवादी मानवतावाद कहा जा सकता है। रूसोने इसी मतको बल दिया और इसीके आधार-पर उसने 'समता, स्वतन्त्रता और विश्व-बन्धुता'का सिद्धान्त स्वीकार किया जिसका अन्य लोगोंपर पर्याप्त प्रभाव पड़ा। जबतक प्रकृतिको पूर्ण मुक्त नहीं किया जाता है तबतक, इस मतके अनुसार, मानवमें अनिवार्यरूपसे निर्बलताएँ, बुराइयाँ, बनी रहेंगी। अतएव उनका उत्तरदायित्व सामाजिक या राजनीतिक दबावोंके ऊपर है, न कि व्यक्तिपर। इस विचार धारासे प्रभावित साहित्यमें मानवतावादी विचारोंकी पर्याप्त अभिव्यक्ति की गयी है। निर्बलताओंके लिए व्यक्तिपर तरस ही खाया गया है, और समाज तथा शासन-व्यवस्थाको बदलने या सुधारनेकी अपील प्रत्यक्ष या परोक्ष रूपसे की गयी है। आधुनिक मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण शास्त्र, चेतना-धारा, अभिव्यंजनावाद आदिसे प्रभावित साहित्यमें हमें यही वैज्ञानिक प्राकृतिकवादी मानवतावाद मिलता है। अति आधुनिक युगमें आस्तित्ववादियों (जिनमें ज्याँ पाल सार्त्र मुख्य हैं)का मानवता-वाद भी इसी सीमामें है।

मानवतावादका एक रूप हमें बौद्ध साहित्य और सिद्धान्तोंमें भी मिलता है। इसे नैतिक मानवतावाद कहा जा सकता है, जो दु:खानुभूति और विवेकपर आधारित है। गौतम बुद्धसे एक बार किसीने पूछा कि सृष्टिका मूल कारण क्या है, तो उन्होंने इस प्रश्नको व्यर्थ और असंबद्ध बताया। उनके कहनेका तात्पर्य यह था कि यद्यपि दर्शन या विज्ञानके क्षेत्रमें इस प्रश्नका उत्तर ढूँढना ठीक कहा जा सकता है, परन्तु मानव-कर्तव्यके क्षेत्रमें इसका कोई महत्त्व नहीं है। विश्वका कारण कुछ हो, मानवका धर्म एक है और वह है प्रेम, सहानुभूति और करुणाका। इसीलिए बौद्ध सिद्धान्तसे प्रभावित साहित्यमें सहानुभूति प्रेरित मानव-सेवाकी भावनाका सर्वाधिक महत्त्व दिखाया जाता

है। जब सभी व्यक्ति संसारकी ज्वालामें जल रहे हैं, तो त्राणका मार्ग प्रेम, करुणा और सहानुभूतिके भीतरसे ही प्राप्त किया जा सकता है। ऐसे साहित्यमें वेदनाकी विवृत्ति और करुणाका अपूर्व प्रदर्शन होता है। प्रसादके साहित्यमें इन दोनोंके अत्यधिक समावेशके कारण लोग कह उठते हैं कि प्रसादपर यह बुद्धकी वेदना और करुणाके प्रभावका फल है। परन्तु मेरा मत है कि प्रसादकी वेदना और करुणा मूलतः उनके जीवनकी ही देन रही। आत्मकी अनुभूति और चिन्तनने उन्हें घनता, तीव्रता और व्यापकता प्रदान किया। प्रसादकी करुणा आत्मवादी करुणा थी और बुद्धकी अनात्मवादी।

धार्मिक मानवतावादका भी अब उल्लेख कर देना आवश्यक है। यह मत पूर्वोक्त वैज्ञानिक और नैतिक मानवतावादी मतोंसे भिन्न है। यह मानता है कि यद्यपि व्यक्तिके भीतर भगवान्का ही निवास है, उसकी आत्मा विशुद्ध है, भगवान्का ही रूप है, परन्तु भगवान्की माया उसे आवृत किये हुए है जिसके कारण वह आत्म रूपका न दर्शन कर पाता है, और न उसे आनन्द प्राप्त होता है। यह माया इतनी प्रबल है कि इसे फाड़कर आत्म रूपका दर्शन करना साधारण मानव शक्तिकी सीमाके परेकी बात है। भगवान्की करुणासे ही यह आवरण दूर हो पाता है, अतएव उसीकी (भगवान्की) कृपा पानेका मनुष्यको प्रयत्न करना चाहिए। इस भक्ति द्वारा पाया जा सकता है। भगवान्की आराधना और उसकी सृष्टिकी सेवा करना ही भक्ति है। उसके एक पिताकी सब सन्तानें हैं, अतः सभी प्राणियोंके प्रति हममें भ्रातृत्व भाव होना चाहिए। सबके प्रति प्रेम, सहानुभूति एवं मैत्रीके कार्य हमें करने चाहिए। भक्त-साहित्यमें इसी वर्गका मानवतावाद पाया जाता है।

यह मानवतावाद व्यक्तिगत और सामाजिक कर्म क्षेत्रोंमें शुद्धाचरण, तप, त्याग, संयम, दम आदि उदात्त गुणोंपर बल देता है। यह प्रकृतिको विकारोंका घर मानता है, तथा उसके संस्कारको ही कल्याणकर समझता है। बाह्य परिस्थितियोंको यह विचार धारा भी मानवीय निर्बलताओंके लिए बहुत सामान्य उत्तरदायी ठहराती है, फिर भी इसका विशेष झुकाव अन्तःसंस्कारकी ओर ही रहता है। वैज्ञानिक (प्राकृतिकवादी) मानवतावाद प्रमुखतः बहिर्मुखी है, तो यह धार्मिक मानवतावाद अन्तर्मुखी। 'पापसे घृणा करो, पापीसे नहीं' यह मत धार्मिक मानवतावादका ही है। यह मानता है कि 'मन करि विषय अनल वन जरइ', तथा उसके दुःखके निवारण हेतु करुणासे द्रवित हो उठता है।

एक मानवतावाद विश्वमें वह भी है जो इन दोनों (प्राकृतिकवादी मानवतावाद और धार्मिक मानवतावाद)के समन्वयपर अग्रसर होता है। यह एक ओर प्राकृतिकवादको आंशिक रूपसे स्वीकार करता है तो दूसरी ओर अन्तःसंस्कार और संयमका आग्रह करता है। यह एक ओर नैतिकताको 'स्व'का अर्थहीन दमन नहीं मानता है, तो दूसरी ओर आत्यन्तिक इन्द्रिय-दमनको भी प्रोत्साहन नहीं देता। इसका विचार सन्तुलन

और अनुपातमें होता है। यूनानी चिन्तकोंने इसे ही आन्तरिक संगति कहा है। सभी व्यक्तियोंका शाश्वत संगतिपूर्ण पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित करना इस 'विवेकवादी' या विश्वकी आन्तरिक संगतिके बोधपर आधारित, मानवतावादका लक्ष्य है। यह मत स्वीकार करता है कि "मनुष्य अपूर्ण नहीं है वरन् वह पूर्ण विकसित नहीं है।" तात्पर्य यह है कि मनुष्यमें पूर्णत्वकी सभी सम्भावनाएँ होती हैं, परन्तु उनका पूर्ण उद्घाटन आजतक नहीं हो पाया है। अतएव मनुष्यकी निर्बलताओंके प्रति इस मानवतावादमें सहानुभूति होती है, और वह उसको पूर्ण विकसित होनेके मार्गपर अग्रसर करनेकी आकांक्षा रखता है। विश्वकी अनेकतामें व्याप्त आन्तरिक संगतिका बोध ही वह मार्ग है जिसपर वह मानवको चलाना चाहता है।

आनन्दवादकी चर्चा हम कर चुके हैं, और यह कह आये हैं कि 'आनन्द जीवन-की रसानुभूति है।' अतएव आनन्दवादी व्यक्ति जीवनके सभी भावोंका आस्वादन करता है। वह चेतना द्वारा प्राप्त किसी भी भावको त्याज्य नहीं समझता वरन् उसे उपयुक्त मात्रामें स्वीकार करके आत्म ज्वालासे उसे शिव-मंगल बना देता है। इसलिए वह अहिंसाको ही नहीं, मांगलिक हिंसाको भी स्वीकार करता है। श्रद्धाने मनुसे कहा था—

> "अपनी रक्षा करने में जो चल जाय तुम्हारा कहीं अस्त्र
> वह तो कुछ समझ सकी हूँ, मैं हिंसक से रक्षा करे शस्त्र।" (ईर्ष्या)

स्पष्ट है कि आनन्दवादिनी श्रद्धाने आत्म रक्षाके निमित्त हिंसाको वरण करनेका परामर्श दिया। उसके लिए 'हिंसा'की मांगलिक मात्रा काम्य है (आनन्दवादी श्रीकृष्णने भी अहिंसाकी महत्ताका प्रतिपादन करते हुए कर्तव्य 'हिंसा'को स्वीकार करनेकी प्रेरणा अर्जुनको दी)। यही बात अन्य सभी भावोंके लिए भी कही जा सकती है।

'कामायनी'में 'अहिंसा'को बडा महत्त्व प्रदान किया गया है। क्योंकि वास्तवमें अहिंसा ही सारे यम नियमोंका मूल है, यम नियम उसीकी सिद्धिके लिए हैं। यह अहिंसा व्यक्तिको विराट बनानेमें पूर्ण समर्थ है। अवसर आने पर यह 'हिंसा'को भी स्वीकार करती है। इसलिए आत्मवादी व्यक्ति अहिंसाको हिंसाका विरोधी तत्व नहीं मानता। वह शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक स्तरोंपर अहिंसामतका निश्चय पालन करता हुआ भी अपने आत्मके प्रकाशमें, आवश्यकता पडनेपर, हिंसाको भी वरण करता है। प्रसादजीने सर्वत्र वीर अहिंसाका अनुमोदन किया है।

सहानुभूति महाविभूति है, परन्तु उसका अन्ध-अनुकरण मानवताका कल्याण नहीं, वरन् अहित करता है। यदि श्री जैनेन्द्र कुमारकी मानस-सन्ततियोंके समान सभी लोग आँख बन्द करके जीवनको सहानुभूति, करुणा, दयाके हाथों छोड दे तो समाजकी प्रगति क्या हो सकती है? आत्म-ज्वालाके प्रकाशमें ही सहानुभूति मांगलिक होगी। यही कारण है कि श्रद्धाने मनुकी विक्षिप्तावस्थामें उनको आत्मसमर्पण नहीं किया। मनु भोगकी ऐकान्तिक भावनाकी ज्वालामें जल रहे थे, वे श्रद्धा 'रानी'का 'दुलार' चाहते थे। वास्तव में वे अपनी अदम्य वासनामें विवश थे। वे श्रद्धापर इतने अनुरक्त

थे, उसकी ममताके जड़ बन्धनमें इस सीमातक कस उठे थे और उस कसे जानेमें ई प्रसन्न थे कि उन्हें यह प्रतीत होने लगा था कि श्रद्धा ही उन्हें 'जीवनका वरदान' दे सकती है। 'कोयलेवाले'की जिस वेदनाको देखकर श्री जैनेन्द्रजीकी 'मृणाल'ने उसे अपना तन देकर उसको 'जीवनका वरदान' दे डाला, मनुमें उससे कहीं अधिक वासना-वेदना थी, और श्रद्धा-मनुका सम्बन्ध भी उन दोनों (मृणाल और दीन याचक कोयलेवाला)से भिन्न एवं पावन था। परन्तु आनन्दवादिनी श्रद्धाने मनुकी वेदनाके आगे समर्पण नहीं किया, वह तमसके मार्गपर किसी भी मानवीय उदात्त गुणकी आड़ चलनेको तैयार नहीं हो सकती थी। अपने ज्योति पथपर ही खड़ी होकर वह उ कामार्त (मनु) को पुकारती भर रह गयी कि—

"रुक जा, सुन ले रे निर्मोही।"

परन्तु इससे आगे वह न जा सकी। यह आनन्दवादी मानवतावादकी मौलिक विशिष्टता है। इस अर्थमें वह अन्य सभी मानवतावादी मतोंसे भिन्न होता है। ऊपरका जो प्रसंग उठाया गया था जिसमें मानवतावादके कई रूपोंकी संक्षिप्त चर्चा की गयी है, वह यही दिखानेके लिए कि प्रेम, सहानुभूति, परोपकार, मैत्री, करुणा, कर्म उल्लास अहिंसा आदिकी अभिव्यक्ति साहित्यिक कृतियोंमें देखकर यह नहीं समझना चाहिए कि सबमें एक ही प्रकारका मानवतावाद है।

मानवतावादकी उपलब्धियाँ ऊपरसे देखनेमें एक सी प्रतीत होती हैं, परन्तु आधार भिन्नताके कारण उनमें पर्याप्त भेद हो जाता है। वैज्ञानिक, बौद्धिक या मान नैतिक आधारपर प्रेम, सहानुभूति, सेवा, करुणा, मैत्री आदिकी जो मानवतावादी स्थापनाएँ की जायँगी, उनमें वह शक्ति और शाश्वतता नहीं होगी जो धर्म, अध्यात्म, या अद्वैतके आधारसे उद्भूत अनुभूतियोंमें होती है। केवल मानवतक ओर रखकर जिस मानवतावादको उपलब्ध किया जायगा, वह सुन्दर और शिवम् प्रतीत होता हुआ भी चिर स्थायी एवं दृढ़ न हो सकेगा। जबतक व्यक्ति आत्माओंमें व्याप्त, और साथ ही उनसे परम आत्ममें हम विश्वास तथा श्रद्धा न रखगे, तबतक हमारे विचारों (मानवतावादी विचारों)को न सुदृढ़ आधार मिलेगा, और इसीलिए न उनमें प्रौढ़ता स्थिरता आ पायेगी। यही कारण है कि धर्म, अध्यात्म तथा अद्वैतकी भूमिकापर उत्पन्न मानवतावाद सर्वाधिक उत्कृष्ट हो पाता है। 'कामायनी'का 'आत्मवादी' मानवतावाद इसी उत्कृष्ट भूमिकापर अवस्थित है, जहाँ पहुँचकर 'मनु' (या मानव) यह कहनेमें समर्थ होता है कि —

"सबकी सेवा न पराई, वह अपनी सुख-संसृति है;
अपना ही अणु-अणु कण-कण, द्वयता ही तो विस्मृति है।" (आनन्द)

वह सबकी सेवाको अपना सुख संसार मानता है, इसलिए परोपकारसे प्राप्त न होनेवाले अभिमानसे वह सहज ही मुक्त हो जाता है, परन्तु जो लोग केवल

बौद्धिक या नैतिक प्रेरणासे सेवामें प्रवृत्त होते हैं वे इस कोटिके अभिमानमें प्राय जाने अनजाने पड जाते हैं। श्रद्धाने मनुसे कहा था —

"औरों को हँसते देखो मनु हँसो और सुख पाओ
अपने सुख को विस्तृत कर लो सबको सुखी बनाओ।" ('कर्म' सर्ग)

दूसरोको आनन्द प्रदान करनेमें आनन्द पाना, या अपने आनन्दसे अन्योंको आनन्दित करना, आनन्दवादी सेवाका शिव मार्ग है। आनन्दवादी अपने सुख विस्तारके लिए, अपनी पूर्णताको पानेके लिए, दूसरोंको आनन्द देता है। और, इसी मौलिक भूमिपर उसके सम्पूर्ण कार्य सम्पन्न होते हैं।

अबतकको विवेचनामें हमने कामायनीकारके मानवतावादी विचारोंसे पूरा परिचय पा लिया है। अतएव पुन. उन्हीं विचारोंको प्रस्तुत करना, अनावश्यक-सा लग रहा है। प्रसादने किस कोटिके मानवकी अवतारणा करनी चाही है, इसे भी हमने देख लिया। 'मानव'का आदर्श ही आत्मवादी मानवतावादका आदर्श है। सक्षेपमें हम कहना यह चाहते हैं कि आनन्दवाद स्वय उत्कृष्ट रूपका मानवतावाद है। मानवसे परे आनन्दवाद भी नहीं जाना चाहता है, हाँ, वह मानवको महामानव (आत्मस्थित) बनाकर विदेह मानवताको परमार्थ स्वीकार करता है।

आनन्दकी उपलब्धिका साधन : इच्छा, कर्म, ज्ञानका समन्वय

'रहस्य' सर्गकी विवेचनाके अवसरपर मैं यह स्पष्ट कर आया हूँ कि इच्छा, कर्म और ज्ञानके समन्वयसे प्रसादजीका तात्पर्य है जीवनकी प्रकृत माँगों (इच्छाओं)का राग प्रेरित 'कर्म' और विरागमूलक साधना (ज्ञान)से निरन्तर सम्पृक्त रहना। और वहींपर मैंने यह भी स्पष्ट कर दिया है कि यही 'विदेह' मार्ग है। इसी मार्गपर चलकर मानव आनन्द भूमिपर अवस्थित हो सकता है। अब यहाँपर हम मनोविज्ञानके आधारपर इस इच्छा, कर्म और ज्ञानके समन्वयपर थोडा विचार करेंगे।

मनुष्य प्रारम्भमें (शैशवावस्थामें) केवल प्रकृति-चालित होता है, प्राकृतिक भूख प्यासकी धारा ही जीवनकी मूल धारा है। ऋजुता, सहजता और जीवनसे घनिष्ठ सम्बन्ध इस प्रकृतिचालित जीवनकी विशेषताएँ हैं। परन्तु मानव शिशुमें सहज ज्ञान अन्य प्राणियोंकी अपेक्षा क्षीण होता है। पशु पक्षी जिन क्रियाओंके ज्ञानको प्रकृतित उपलब्ध कर लेते हैं, उन्हें मानव शिशु बडे परिश्रमके उपरान्त प्राप्त कर पाता है। पशु पैदा होते ही तैरने लगता है, मृग शावक चौकडी भरने लगता है, पक्षी उडने लगता है। प्रकृतिने मनुष्यको इस कोटिके सहज गुण नहीं प्रदान किये हैं।

परन्तु इस क्षतिकी पूर्तिमें उसने मानवको दो विशेष गुण दिये हैं। एक तो यह कि उसने मनुष्यको सम्पूर्ण इन्द्रिय-चेतना दी है। पशु पक्षियों या मानवेतर सृष्टिमें

किसी प्राणीको सम्पूर्ण इन्द्रियोंकी पूरी चेतना नहीं मिली। किसीमे एक इन्द्रिय चेतना अधिक है तो किसीमें दूसरी। मनुष्य शरीरको उसने उचित अनुपातमें सभी इन्द्रिय-चेतनाएँ दे दीं। 'काम' सर्गकी विवेचनामें मैं ऐतरेय ब्राह्मणकी एक कथाका उल्लेख कर आया हूँ जिसमें यह कहा गया है कि देवोंकी प्रार्थनापर ब्रह्माने पहले गायका, फिर घोड़ेका, शरीर बनाया; पर देवोंने उसे भोगके लिए उपयुक्त नहीं समझा, तो उन्होंने मानव शरीर निर्मित किया जो देवोंको बडा पसन्द आया। इसका आशय यही है कि प्रकृतिकी भूख प्यास (इन्द्रियके विषयों)की तृप्तिके लिए मनुष्यका शरीर ही सर्वाधिक समर्थ ब्रह्म-सृष्टि है। यह शरीर प्रकृतिकी भूख धारा, या जीवनकी मूल काम धाराके आनन्दमय प्रवाहके लिए विशेष उपयुक्त है।

परन्तु इतना होनेपर भी केवल सहजज्ञानके द्वारा मनुष्यकी प्रकृति भूख तृप्त नहीं हो सकती। क्योंकि नितान्त सहज ज्ञानसे चालित जीवनकी सामर्थ्य-सीमा छोटी होती है। उसके द्वारा केवल परिचित और अभ्यस्त परिस्थितियोंमें काम चलाया जा सकता है। ऐसा जीवन बँधा हुआ होता है। अतएव जीवन शक्ति मनुष्यको, नवीन परिस्थितियोंमें, तथा विषम परिस्थितियोंमें, सफलतापूर्वक जीवनकी माँगोंकी तृप्ति हेतु बुद्धि प्रदान करती है। यह बुद्धि उसका मार्ग दर्शन करती है। इसी देनके कारण मानव अन्य प्राणियोसे अधिक कर्ममे और भोगमें स्वतन्त्र हुआ।

इसी स्थलपर हमे सहज ज्ञान और बुद्धिके अन्तरको ठीकसे समझ लेना चाहिए। सहज ज्ञानको मानव जीवनकी मूल काम धारा (प्रकृति माँग)के लिए क्रियात्मक रूपसे असमर्थ पाकर ही जीवन शक्ति बुद्धिको उत्पन्न करती है। अत यह बुद्धि सहज ज्ञानसे विच्छिन्न नहीं, वरन् वास्तवमें उसकी पूरक होती है। बुद्धि इस अर्थमें, साधन निर्माण करनेवाली वह शक्ति है जिसके द्वारा मानव अपनी शक्तियोंके विस्तारके लिए जड वस्तुओंको उपकरण रूपमें बदल देता है, और जीवनकी माँगकी तृप्ति करता है। अपने सामने शेर देखकर मनुष्यका सहज ज्ञान भगकर भयमुक्ति पानेकी प्रेरणा मात्र देगा, परन्तु उसकी बुद्धि इस भयसे भगनेका नहीं, वरन् चिरस्थायी मुक्तिका मार्ग ढूँढनेका प्रयत्न करेगी। वह जड परिस्थितियोंपर विजय पाना चाहेगी। इस कोटिकी सभी भयानक स्थितियोंका सामना करनेके लिए वह मनुष्यको पथ बतायेगी।

इसी शक्तिसे सभी विज्ञानोंका सृजन होता है। यह जीवन विकासके लिए सभी आवश्यक साधन चिंतन प्रदान करती है, यह कर्ममयी होती है और कर्म एव निरन्तर प्रगतिकी प्रेरणा भी देती है। जड विज्ञान ही नहीं, परमार्थ चिन्तनमें भी इसकी ज्योति जलती रहती है। 'कामायनी'की इडामें इस शक्तिके इन दोनों रूपोंकी भरपूर मात्रा देखी जा सकती है। भारतीय दर्शनकी भाषामें इसे हेतु विद्या या अपरा शक्ति कहा गया है। इसका कारण यही है कि 'परमार्थ'की उपलब्धि केवल चिन्तनसे सम्भव नहीं होती है, और बुद्धि अधिक-से-अधिक 'परमार्थ'की विवेचना चिन्तना ही प्रदान कर सकती है। इस सीमाके आगे उसकी गति ही नहीं है। अत उसका कार्य

इसका परिणाम यह होता है कि इस साधक बुद्धि (हेतु शक्ति)के द्वारा जहाँ एक ओर हमारे जीवन विकासमें महान् सहायता प्राप्त होती है, वहाँ इसका अवाञ्छनीय, अशिव, प्रभाव भी पड़ने लगता है। इच्छाओंकी तृप्तिके लिए, भाव प्रेरित, हमारी बुद्धि साधनोंके आकलनमें इस प्रकार तन्मय हो जाती है कि वह रुकना जानती ही नहीं। वह नित प्रति भाग सन्तुष्टिके नवीन उपकरण जुटा कर वासनाग्निको बढ़ाती चलती है, और इस प्रकार व्यक्तिके जीवनमें न केवल तृषा 'वैश्वानरकी ज्वाला'के समान बढ़ती है, वरन् व्यक्तियोंके समाजमें स्वार्थोंके संघर्षोंकी, भेद भावनाकी सृष्टि भी होने लग जाती है।

फल यह होता है कि जीवनकी जिन मूल प्रकृति माँगों (इच्छाओं भावों)की तृप्तिके लिए जीवन शक्तिने बुद्धिकी सृष्टि की, वे न केवल सन्तुष्ट नहीं हो पातीं, वरन् नाना प्रकारके नियमों-संघर्षोंसे उन्हें दबाया भी जाता है। राजनीति, समाजनीति आदिके द्वारा बुद्धि अपने ही द्वारा निर्मित इस 'विष', भेद विषको दूर करनेमें भी प्रवृत्त होती है, और जीवनकी प्रकृत माँग (मूलकाम के नियमन दमनका मार्ग प्रस्तुत करती रहती है। परन्तु एक ओर प्रकृतिकी भूख प्यासकी प्रबलता और दूसरी ओर बुद्धि द्वारा प्रस्तुत किये गये भेद मूलक संघर्षोंकी भीषणता सुगमतापूर्वक रोकी नहीं जा सकती। बुद्धि यहाँपर किंकर्त्तव्य विमूढ़ हो जाती है [इड़ाकी बुद्धि इसीलिए अपना साहस खो बैठी थी कि उसकी सृष्टिमें लोग एक ओर तो 'लालसा घूँट' पीकर मत्त थे और दूसरी ओर भेद भावनासे पीड़ित, संघर्ष जर्जरित।]

इस बुद्धिके कारण अन्ततोगत्वा मनुष्यकी ऋजुता, सहजता, व्यक्तित्वकी प्रकृत एकता नष्ट हो जाती है। बुद्धिके विकासके साथ ही हमारी सहज शक्ति क्षीणतर होने लगती है। और हमारे व्यक्तित्वमें जो सहज एकता मूलरूपसे होती है, वह समाप्त हो जाती है। इसी व्यक्तित्वकी एकताके कारण ही हमें सहज ज्ञान उपलब्ध होता है, अत उसके नष्ट हो जानेपर हम इस सहज ज्ञानको पुन उपलब्ध नहीं कर सकते, हम पुन शिशु भाव नहीं पा सकते। सारस्वत प्रजाने इसीलिए मनुसे कहा था —

"प्रकृत शक्ति तुमने यन्त्रों से सबकी छीनी
शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी।"

और इस प्रकार भाव (प्रकृतिकी माँग)से बुद्धिका विच्छेद हो जाता है। प्रकृतिसे अलग होकर बुद्धि प्रेरित मनुष्य ('कामायनी'के 'कर्मलोक'के प्राणी)के जीवनमें कुटिलता, कृत्रिमता, यान्त्रिक नीरसताकी सृष्टि हो जाती है। वह अनिश्चितता, सन्देहमें झूलने लगता है। उसका मूल विश्वास समाप्त हो जाता है। अतएव इस स्थितिमें, वही बुद्धि जिसे प्रकृति शक्तिने जीवन-कल्याणके लिए उत्पन्न किया और जिसने जीवन विकासमें पर्याप्त सहायता भी प्रदान की, अब अनुपयोगी और अशिव बन उठती है। [इड़ाने इसीलिए कहा था —"मैं इस जनपदकी कल्याणी प्रसिद्ध, अब बन रही हूँ निषिद्ध।"]

सन्देहकी इस स्थितिमें व्यक्तिकी बुद्धि उसे जीवनसे विरक्त हो जानेकी प्रेरणा भी दे देती है, क्योंकि उसको स्वयं यह पता नहीं चल पाता कि इस विषम स्थितिसे छुटकाराका मार्ग क्या है, यह चेतना, अखण्ड चेतनाका उपदेश देकर भी व्यक्तिको शान्ति नहीं प्रदान कर पाती है। (इडाने श्रद्धाके सम्मुख अपनी दशाका जो वर्णन किया है, उसे भी देखिए) । जीवनसे भगकर व्यक्तिकी बुद्धि किसी परोक्ष सत्तासे भय त्राणकी प्रार्थना करने लगती है, वह अजर-अमरसे शान्ति, आनन्द माँगती है। 'कामायनी'में इसी भय त्राणके निमित्त की जानेवाली साधना चिन्तनाको 'ज्ञानलोक'का 'ज्ञान' कहा गया है।

ऐसी विषम स्थितिमें आवश्यकता इस बातकी होती है कि बुद्धिको पुन जीवनकी 'मध्य भूमि' (प्रकृत माँगकी भूमि, मूल काम भूमि, या भाव भूमि)के सम्पर्कमें लाया जाय। ऊपर हमने बुद्धिके विकासमें उसके दो रूपोंको देखा : एक है राग प्रेरित कर्ममयी बुद्धि और दूसरी है विरक्तिमूलक साधना चिन्तन (या पलायन) बुद्धि। एक है भोगवादिनी बुद्धि और दूसरी है विराग बुद्धि। ये दोनों उसी एक बुद्धिके रूप हैं जिसे जीवन शक्ति मनुष्यको विकासके लिए प्रदान करती है। परन्तु अपने एक रूपमें वह बुद्धि जीवनको संघर्षों, भेद भावनासे भर देती है, और दूसरे रूपमें वह जीवनसे ही भग जाती है [यही कारण है कि प्रसादजीने जड विज्ञान, बौद्ध-अनात्मवादी विज्ञान और भागवतानुयायी भक्ति आदि सभीको (दु खवादी) बुद्धिवादके खातेमें ही रखा है।]

'कामायनी'में वर्णित कर्म लोक और ज्ञान लोक इसी बुद्धिकी सृष्टियाँ हैं। अतएव बुद्धिको प्रकृत जीवनके सम्पर्कमें लानेका अभिप्राय हुआ कि बुद्धिके इन दोनों रूपों 'कर्म' और 'ज्ञान'को प्रकृति (इच्छा या भाव)के साथ सम्बद्ध किया जाय। परन्तु यह काम करेगा कौन ? इसके लिए जीवन शक्तिने मनुष्यमें एक तीसरी शक्ति दी है। जिस प्रकार सहज ज्ञानको जीवन विकासमें असमर्थ पाकर उसने बौद्धिक ज्ञान उत्पन्न किया, उसी प्रकार कुछ सीमाके उपरान्त उसे भी असमर्थ पाकर उसने मनुष्यको प्रातिभ ज्ञान प्रदान किया है। यह आत्माकी वह आलोक शक्ति है जो बुद्धिकी उपर्युक्त दोनों अतियों (अधरागमूलक कर्म-पक्ष और प्रवचनापूर्ण विरक्ति पक्ष)को जीवनकी मूल प्रकृतधारा (*काम धारा*)*से सम्पृक्त करके जीवनको आनन्द प्रदान कर देती है। यह वह सश्लेषणात्मक शक्ति होती है जो मानवीय व्यक्तित्वकी खण्डित एकता (बुद्धि द्वारा* खण्डित एकता)को पुन अखण्ड, पूर्ण, बना देती है। इसे बुद्धिसे विच्छिन्न नहीं, वरन् उसकी पूरक शक्ति माना जाता है। जिस प्रकार सहज ज्ञानकी पूरक शक्ति बुद्धि है, उसी प्रकार बुद्धिकी पूरक शक्ति प्रातिभ ज्ञान (या आत्म ज्ञान) है।

सक्षेपमें इस विवेचनाका निष्कर्ष यह निकला कि जीवन शक्ति 'अशनायापिपासे' अर्थात् प्राकृतिक भूख प्यासकी तृप्तिके लिए ('कामायनी'की भाषामें काम पूर्णताके लिए) क्रमश तीन प्रकारके ज्ञान प्रदान करती है सहज ज्ञान, बौद्धिक ज्ञान और आत्म ज्ञान (प्रातिभ ज्ञान)। प्रातिभ ज्ञानमें प्रथम दो की असामर्थ्यकी पूर्ति हो जाती है। और,

इसके द्वारा जीवनकी मूल काम-धारा (इच्छा)का स्वस्थ विकास एवं आनन्द प्राप्त होता है। यह शक्ति एक ओर जीवनकी मूल माँगको स्वीकार करती है, अखिल मानव भावोंको चेतनाकी उपलब्धि समझकर उनका ग्रहण करती है और दूसरी ओर बुद्धिके पूर्वोक्त उभय रूपों (रागात्मक कर्म और विराग साधना)का समन्वय करके तथा उस मूल कामधाराको मर्यादित करके उसे 'आनन्द'तक ले जाती है।

यह प्रातिभ शक्ति बुद्धिकी सहायता भी करती है और स्वयं उससे सहयोग पाती रहती है। इसके सम्पर्कमें आनेपर बुद्धि मानवीय सम्भावनाओंमें बाधिका नहीं रह जाती है, वरन् व्यक्तिके अन्ध विश्वासों-भ्रमोंको नष्ट करती है तथा भावोंका मूल्यांकन और स्वस्थ विकास करती है। इससे भी आगे बढ़कर उसकी उपयोगिता इस बातमें है कि वह जीवनको ऐसे अनुद्घाटित क्षेत्रका खाका खींचकर दिखा देती है, जिसे ही अन्तमें प्रातिभ-शक्ति उद्घाटित कर देती है। और प्रातिभ शक्ति जो कुछ उद्घाटित कर देती है, बुद्धि उसकी व्याख्या विश्लेषणा करनेमें प्रवृत्त होती है; वह प्रातिभ शक्तिकी उपलब्धियोंके द्वारा जीवनमें (कर्तव्य) कर्म सम्पन्न करती है ['कामायनी'-में इड़ा और श्रद्धा-पुत्र मानवका साथ रहकर कर्म करते हुए आनन्द पानेका यही रहस्य है : मानवमें श्रद्धा द्वारा प्रदत्त प्रातिभ ज्ञान और इड़ामें बुद्धि तत्त्व थे। मानव श्रद्धामय था और इड़ा तर्कमयी थी।]

अब एक बातपर विचार और करना है। प्रातिभ शक्तिका स्फोट व्यक्तिमें किस प्रकार होता है? अहम् विरहित, परमसत्ता द्वारा प्रबुद्ध, अनुभूतिके अतिरिक्त प्रतिभा और कुछ नहीं होती। अतएव परम सत्ता (महाकाल, शिव, अद्वैत ब्रह्म)के प्रति विश्वास और श्रद्धाके द्वारा ही यह अनुभूति उत्पन्न हो सकती है; इसे शास्त्र चिन्तन द्वारा नहीं पाया जा सकता। कामायनी श्रद्धामें परम सत्ताके अद्वैत विश्व-रूपके प्रति ऐसा ही विश्वास था, ऐसी श्रद्धा थी। इसलिए उसके द्वारा इच्छा, कर्म, और ज्ञानका सामंजस्य हो सका।

यद्यपि पुनरावृत्ति दोष तो होगा, फिर भी अन्तमें यह निवेदन करना आवश्यक है कि इच्छा, कर्म और ज्ञानके समन्वयका सीधा और सरल अर्थ राग विराग समन्वित काम प्रेरित कर्म सम्पन्नतासे है। कई स्थलोंपर मैंने, इसीलिए, कहा है कि कामायनी-रहस्य आनन्दवाद कर्मठ विदेहोंका ही आनन्दवाद है, जिसका समर्थन गीतामें भी किया गया है।

'कामायनी'की वस्तु और प्रतिपाद्यकी व्याख्याके उपरान्त अब उसके मूल्याङ्कन समस्या उत्पन्न होती है। मैंने आरम्भ ही में यह स्पष्ट कर दिया है कि काव्यका मूल्यांक दो प्रकारसे किया जाना चाहिए। हमें यह देखना चाहिए कि कविने जो कुछ कहन चाहा है उसे प्रेषणीय (या समर्पणीय) वह बना सका है या नहीं; और फिर य जाँचना चाहिए कि काव्यके प्रतिपाद्यका समाजके व्यावहारिक जीवनपर क्या प्रभाव पडता है। पहला प्रकार काव्य-कला-शास्त्रकी कसौटी स्वीकार करता है और दूसरा लौकिक यथार्थके अभ्युदयविषयक चिन्तनकी अपेक्षा रखता है। काव्यके इन दो मूल्योंको समर्पण मूल्य और प्रभाव मूल्य कहा जाता है। उत्कृष्ट साहित्यिक कृतिको इन दोनों मूल्य-कसौटियोंपर खरा उतरना पडता है। अस्तु, पहले 'कामायनी'के समर्पण-मूल्यपर सक्षेपमें विचार कर लिया जाय।

डॉ० नगेन्द्रने 'कामायनीके अध्ययनकी समस्याएँ' नामक अपनी पुस्तकमें लिखा है :—"कामायनीके शिल्पविधानमें निश्चय ही अनेक छिद्र रह गये हैं—उसका वास्तु-शिल्प अपनी पूर्णताको नहीं पहुँच सका; उसकी आधारभूत प्रकल्पनामें जो अखण्डता है, उसका प्रतिफलन वस्तु विन्यासमें नहीं हो पाया—अगोंकी समन्विति कई जगह टूट गई है, अभिव्यजनामें अनेक त्रुटियाँ रह गई हैं जो व्याकरण और काव्य शास्त्रकी कसौटीपर खरी नहीं उतरतीं; कुछ बिम्ब अधूरे रह गये हैं—अलकार छिन्न भिन्न हो गये हैं; शब्दोंके पूलोंकी जालीमें पतके कोमल स्पर्शोंकी साज-सँवार नहीं है, कहानीमें मैथिलीशरण गुप्तकी प्रबन्ध-कलाकी गठन और प्रवाह नहीं है—आदि-आदि। उसके दोषोंकी अन्वेषणा आज कुछ अधिक व्यग्रतासे की जा रही है। आलोचक उसके गौरवके प्रति जितना आकृष्ट हो रहा है, आजका स्रष्टा कलाकार उसकी अपूर्णताके प्रति उतना ही आग्रहशील हो उठा है।"

इस कथनको मैंने इसलिए उद्धृत कर देना ठीक समझा कि इसमें 'कामायनी'-के शिल्प एव प्रेषणीयता-गुणविषयक उन सारी प्रमुख त्रुटियोंकी ओर सक्षेपमें सकेत है जिन्हें आजके स्रष्टा कलाकार और अन्वेषण-कर्ता व्यग्रताके साथ निबन्धों पुस्तकोंमें दिखाते चल रहे हैं। अतएव यह मत न केवल डॉ० नगेन्द्रका है, वरन् कई विद्वानों, साहित्यकारोंका भी। उपर्युक्त उद्धरणके अनुसार ये त्रुटियाँ वस्तु विन्यास, भाषा शैली और अलकरणविषयक ठहरती हैं। अगोंकी समन्वितिका कई जगह टूट जाना वस्तु-विन्यासका दोष है, अभिव्यजनामें अनेक त्रुटियोंके होने तथा बिम्बोंके अधूरे रहनेका [illegible] भाषा-शैलीसे है और अलकारोंका छिन्न भिन्न होना अलकरण-दोष है। इसी

प्रकार कुछ लोग लिंग दोष, मुहावरोंके गलत प्रयोग शब्दोंके गलत प्रयोग और विराम-चिह्नोंके गलत प्रयोग आदिकी चर्चा उठाते हैं। ये सब दोष भाषा दोषके अन्तर्गत ही आते हैं।

पहले मैं अन्तिम दो प्रकारकी त्रुटियोंपर विचार कर लेना चाहता हूँ। जहाँतक 'कामायनी'में व्याकरणविषयक दोषोंका प्रश्न है, यह तो मानना होगा कि वे इस काव्यमें मिलते हैं। परन्तु इसका कारण यह नहीं स्वीकार किया जा सकता कि प्रसादजीको व्याकरण सम्मत भाषा और मुहावरोंका सम्यक् बोध नहीं था। उनका गद्य-साहित्य उनकी भाषाकी प्रौढता और अभिव्यंजना सामर्थ्यकी कीर्तिलेखा है। यह भी मान लेना मात्र अनुमान होगा कि कामायनी निर्माणके उपरान्त अपने अस्वास्थ्यके कारण कविको पाण्डुलिपिके संशोधनका अवसर नहीं मिला; क्योंकि इस काव्यकी रचनाके बाद प्रसादजी 'इरावती' उपन्यास लिखनेमें प्रवृत्त हुए। यदि अस्वास्थ्यके कारण वे संशोधनमें असमर्थ होते, तो अन्य महान् कृतिकी रचनामें सोत्साह वे अग्रसर किस प्रकार होते!

तो फिर इन त्रुटियोंका क्या कारण हो सकता है? बात यह है कि जब ऋतम्भरा प्रज्ञा सम्भवतम उच्च वैचारिक भूमिपर आरोहण करके, अपनी सम्पूर्ण शक्तिके साथ, सृजनात्मक आनन्दकी काष्ठागत अनुभूतिसे प्रेरित होकर, जीवनके व्यापक आयामोंको आलोकित करनेके लिए, अभिव्यंजनाके स्तरपर तन्मय संचरण करने लगती है; उस समय वह विश्व शक्ति या महाचितिकी उस परा कलाके सदृश होती है, जो आनन्द-उन्मद हो विश्व रूपमें अपनी अभिव्यक्ति करती हुई उत्थान-पतन, अन्धकार-प्रकाश, सुख दुःखमय समन्वित जीवनकी सृष्टि करती है। ऐसी स्थितिमें उसकी गतिमें आरोहण अवरोहण ऊर्ध्वगमन स्खलन, सभी अपनी सत्तामें मनोरम एक-रस होते हैं। इस तथ्यका समर्थन विश्वके सभी महान् कवि करते हैं। डा० नगेन्द्रने ठीक ही लिखा है कि "ज्यों ही मैं कामायनीका मूल्यांकन करनेके लिए प्रवृत्त होता हूँ, मुझे लांजाइनसकी यह प्रसिद्ध उक्ति अनायास ही याद आ जाती है—महान् प्रतिभा निर्दोषतासे बहुत दूर होती है। क्योंकि सर्वांगीण शुद्धतामें अनिवार्यतः क्षुद्रताकी आशंका रहती है और औदात्यमें ... कुछ न कुछ छिद्र अवश्य रह जाते हैं।"

अतएव 'कामायनी'में व्याकरणविषयक भाषा दोषको पाकर व्यग्र होनेकी स्थिति वाछनीय नहीं स्वीकार की जा सकती। हाँ, यदि इन दोषोंके कारण काव्यके रसास्वादन, अर्थ-बोध या काव्यके समग्र बोधमें बाधा उपस्थित होती, तो निश्चित रूपसे व्यग्र होनेकी आवश्यकता होती। पर तथ्य इसके विपरीत है। इन तथाकथित दोषोंके कारण काव्यकी चारुता और अर्थवत्तामें वृद्धि ही होती है। जैसे—

> "यह लीला जिसकी विकस चली
> वह मूल शक्ति थी प्रेम कला,"

'विकस चली'का व्याकरण सम्मत रूप होगा 'विकसित हो चली'; पर 'विकस चली'में विकसन क्रियाकी जो द्रुति ध्वनित है, वह 'विकसित हो चली'में शिथिल हो जाती है।

इसी प्रकार, 'और उस मुखपर यह मुस्क्यान'में 'मुस्क्यान'के लिए 'मुस्कान' शुद्ध रूप माना जाता है; परन्तु 'मुस्क्यान'में व्यंजित अधरोंकी स्फीति 'मुस्कान'में बाधित-संकुचित रह जाती है।

भाषाके नवीन प्रयोग, छायावाद और रहस्यवादमें अनेक होते रहे; प्रयोगवादी एवं नये साहित्यकार आज भी डंकेकी चोटपर अभिनव भाषा प्रयोग करते चल रहे हैं और उनमेंसे अधिकांशको आजके पाठक स्वीकार कर चुके हैं। जब 'घकियाना', 'स्त्री मारो' तथा कतिपय अन्य आंचलिक शब्द प्रयोगोंको हम भाषा शक्तिके रूपमें मानते चल रहे हैं, तब 'कामायनी'में उनको देखकर व्यग्र क्यों हों? 'पल्लव'की भूमिकामें पंतजी-ने लिखा है कि "तुक रागका हृदय है, जहाँ उसके प्राणोंका स्पन्दन विशेष रूपसे सुनाई पड़ता है।" 'रागके हृदय'की प्रेरणासे भी प्रसादजीने कई ऐसे प्रयोगोंको स्वीकार किया होगा जो व्याकरणसे सम्मत नहीं हैं, पर बोलचालकी भाषामें वे अर्थवान् और अति-प्रचलित हैं। 'मैं'के लिए 'हम'का प्रयोग हिन्दीके विद्वानोंकी सहजता व्यक्त करता है, व्याकरणसे अशुद्ध होकर भी। इसी प्रकार कर्तामें, व्याकरण सम्मत स्थलोंपर, 'ने' का प्रयोग न करना केवल बोलचालकी आंचलिक बलवती विशेषता है। इसलिए जब हम 'कामायनी'में ऐसे वाक्य पाते हैं कि "अरे पुरोहितकी आशामें कितने कष्ट सहे हो"-तो सर पीटनेकी आवश्यकता नहीं प्रतीत होती।

प्रसादजीने 'काव्य-कला और अन्य निबन्ध'में लिखा है—"सूक्ष्म आभ्यन्तर भावोंके व्यवहारमें प्रचलित पद-योजना असफल रही। उनके लिए नवीन शैली, नया वाक्य विन्यास आवश्यक था। हिन्दीमें नवीन शब्दोंकी भंगिमा स्पृहणीय आभ्यन्तर वर्णनके लिए प्रयुक्त होने लगी। शब्द विधानमें ऐसा पानी चढ़ा कि उसमें एक तड़प उत्पन्न करके सूक्ष्म अभिव्यक्तिका प्रयास किया गया। इस नये प्रकारकी अभिव्यक्तिके लिए जिन नये शब्दोंकी योजना हुई, हिन्दीमें पहले वे कम समझे जाते थे, किन्तु शब्दों-में भिन्न प्रयोगसे एक स्वतन्त्र अर्थ उत्पन्न करनेकी शक्ति होती है। समीपके शब्द भी उस शब्द विशेषका नवीन अर्थ-द्योतन करनेमें सहायक होते हैं।" इससे 'कामायनी'के *कविके भाषा प्रयोगविषयक मतपर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। अच्छा होता कि 'कामा यनी'की* इन तथाकथित त्रुटियोंके सौन्दर्यका सन्तुलित अन्वेषण विद्वानों द्वारा शीघ्र ही प्रकाशमें आता।

अब अभिव्यंजनामें अनेक त्रुटियोंके होने और बिम्बोंके अधूरे रहनेकी बात लीजिए। मेरा मत है कि ये त्रुटियाँ 'कामायनी'में नहीं हैं, वे ऊपर-ऊपरसे प्रतीत भर होती हैं। *ऐसी प्रतीति भी क्यों होती है, इसका उत्तर प्रसादजीकी कलाविषयक धारणा'*, और साधनाके सम्यक् बोधसे उपलब्ध होगा। वह यह मानते थे कि 'कला संकुचित कर्तृत्व शक्ति है।' और वस्तुतः उत्कृष्ट कला होती भी यही है। 'कामायनी'में कलाकी इस संकुचित कर्तृत्व शक्तिका पाठागत वैभव विलास है। शब्द चयनमें, शब्दोंके बचाव ... विन्यासमें, स्पष्ट बिम्बोंमें और भावके समग्र बिम्ब विधानमें सर्वत्र कला-

शक्तिका, समृद्धि एवं सम्भवतम सामर्थ्यसे पूर्ण, सहज नाद देता जा सकता है। कहा जाता है कि कला जिस भाषामें लिपटकर काम करती है उसी भाषामें वह मनोरम होती है। शास्त्रीय भाषामें इसे व्यञ्जनाकी परम शक्ति कह सकते हैं। चित्रकूट प्रसंगमें तुलसीदासने भरतकी वाणीके कौशल एवं सामर्थ्यकी विवेचना करते हुए लिखा है:—

"अगम सुगम मृदु मंजु कठोरे।
अरथ अमित अति आखर थोरे॥"

इसका तात्पर्य यह है कि वाणी वही उत्कृष्ट है जिसका अभिप्रेत सुगम होकर भी अगम बना रहे (अर्थात उसे पूर्णतः ग्रहण करनेके लिए ग्राहककी कल्पनाको निरन्तर सचरण-अवकाश बना रहे), वह अभिप्रेत ठोस (कठोर) किन्तु मृदु-मंजु हो (ताकि उसका सरस बिम्ब निर्मित हो सके), अर्थ अमित हो परन्तु सम्भवतम भाषामें सुनिर्दिष्ट भी हो, और अक्षर थोड़े हों। स्पष्ट है कि ऐसी सूक्ष्म पदावली साधारणतया अर्थके विचारसे, अधूरी या टूटी हुई लगेगी और इसके द्वारा निर्मित बिम्ब अधूरा लगेगा। 'कामायनी'की कलामें ऐसी ही क्षमता है। कविने पाठककी कल्पनापर निरन्तर भार डालना चाहा है, यह उसकी कलाकी सहज साध रही है, इसीलिए प्रबन्ध काव्यकी सृष्टिमें प्रवृत्त होकर भी वह प्रबन्ध-काव्यके परम्परागत शिल्प नियमका पूरा निर्वाह न कर सकी। यह बात न सुननेमें ठीक लगती है और न जाचनपर खरी उतरती है कि 'कामायनी'में मैथिलीशरण गुप्तकी प्रबन्ध-कलाकी गठन और प्रवाह नहीं है। जो जानते हैं कि कला-सौन्दर्य अपने उत्कर्षमें क्या होता है, और वह अपनी अभिव्यक्तिकी विरल रेखाओंमें कितना अपूर्व होता है, वे इस बातको किस प्रकार स्वीकार कर सकते हैं!

अलंकारोंके छिन्न भिन्न होनेका जो आक्षेप कामायनीकारकी कलापर लगाया जाता है, उसके विषयमें यह निवेदन किया जा सकता है कि वास्तवमें अलंकार तो भाषा-शक्तिके लावण्यपूर्ण निखार होते हैं। समर्थ प्रतिभा द्वारा भाषामें जो सौन्दर्य व्यक्त होता है उसकी व्याख्या करके शास्त्रीय विवेचक अलंकारोंका निर्धारण करते हैं। भाषाका यह सौन्दर्य चूँकि विविध रूपोंमें विविध प्रयोगोंके कारण, व्यक्त होता है; इसलिए अलंकारोंके विविध स्वरूप और नाम निश्चित होते रहते हैं। और चूँकि महान् प्रतिभा स्वच्छन्द रूपसे भाषाकी अभिव्यंजना शक्तिका उद्घाटन करती हुई नवीन सौन्दर्योंका सृजन करती रहती है, इसलिए मात्र ज्ञात अलंकरण विधानोंकी कसौटीपर उसका मूल्यांकन करना समीचीन नहीं होता। शास्त्रीय रूढ़ अलंकारोंके आधारपर काव्यका मूल्य आँकना अब बहुत पुराना, नीरस और कृत्रिमता पोषक लगता है। मैं इस शास्त्रीय अलंकरण-कसौटीको साहित्यकी प्रगतिमें बाधक ही मानता हूँ। वास्तवमें हमें यह जाँचनेका प्रयत्न करना चाहिए कि 'कामायनी'में जहाँपर अलंकार छिन्न भिन्न होते हुए प्रतीत होते हैं, वहाँपर कोई अभिव्यंजना-सौन्दर्य है या नहीं, और यदि है तो उसकी मननपूर्वक विवेचना होनी चाहिए। इस दिशामें अभी अनुसंधान-कर्ताओंका ध्यान नहीं गया है। कवि अलंकारका पण्डित नहीं होता, और न अलंकारोंकी परि-

भाषाओंको सामने रखकर कविता करता, उसकी प्रतिभा जिस भाषा-सौन्दर्यको लेकर व्यक्त होती है, उसीको परख करना हमारा काम है। जहाँतक मुझे 'कामायनी'के इस रूप-पक्षका बोध है, उसके आधारपर मैं मानता हूँ कि उपर्युक्त प्रकारका आक्षेप निराधार है।

वास्तवमें इन त्रुटियोंकी प्रतीति होनेका प्रबल कारण पूर्वोक्त (तथाकथित) प्रथम प्रकारकी त्रुटिका बोध है। डॉ० नगेन्द्रके उस उद्धरणमें प्रथम त्रुटि यह बताई गई है कि 'कामायनी'में 'अन्वितिकी कई जगह टूट गई है'। इसे दूसरे शब्दोंमें इस प्रकार कहा जा सकता है कि 'कामायनी'की कथा (या वस्तु)-योजनामें समन्वितिका अभाव है। यही मत आचार्य शुक्लका रहा, जिसका उल्लेख मैं (पृष्ठ १३ पर) कर आया हूँ। यही कारण है कि डॉ० नगेन्द्रने पूर्वोक्त पुस्तकमें लिखा है कि 'अभीतक कामायनीकी कथाकी एक निर्भ्रान्त रूपरेखा नहीं बन पाई है और अन्य प्रसंगोंके विषयमें विद्वानोंमें मतभेद चला आ रहा है। ''अतः 'कामायनी'के अध्ययनकी एक आवश्यकता उसकी कथावस्तुकी रूप-रेखाका स्पष्टीकरण भी है।' मैं यह स्पष्ट कर आया हूँ कि इस काव्यके समग्र कलेवरमें पूर्ण अन्विति है, कविकी वस्तु-योजनामें कहीं भी विच्छिन्नता, असामंजस्य, भटकाव या 'अन्वितिका अभाव' नहीं है। अतएव इस विषयमें मुझे और कुछ नहीं कहना है। परन्तु सारी पूर्व-चर्चाओंके समाहार निमित्त, मैं उन प्रमुख निष्कर्षोंको यहाँ संक्षेपमें रख देना चाहता हूँ, जिनसे 'कामायनी'की कथाकी समन्वितिको स्पष्ट रूपमें ग्रहण करनेमें सहायता मिलेगी।

'कामायनी'के निर्माणके पूर्व कविका चिन्तन

बीसवीं शतीके दूसरे दशकमें, जहाँ एक ओर छायावादका वैभव व्यक्त होने लगा, वहाँ दूसरी ओर यथार्थकी चेतनाका उन्मेष भी हुआ। तीसरे दशकमें यह यथार्थ-चेतना बढ़ती रही। प्रेमचन्दके उपन्यास और कहानियाँ इसी कालावधिमें प्रस्तुत हुए। प्रसादजी भी इस प्रबल चेतनासे प्रेरित होकर समाजके जीवनके अध्ययनमें प्रवृत्त हुए। अपने युगके समाजके यथार्थको उन्होंने देखा-परखा। और वे इस निष्कर्षपर पहुँचे कि यथार्थ तो यह है कि हमारा समाज 'कंकाल' भर रह गया है, और कारण यह है कि समाजकी काम भावना विकृत है। फिर तो समाधान भी उन्हें यही ज्ञात हुआ कि जबतक काम भावनाको स्वस्थ न किया जाएगा, तबतक समाजमें न स्वास्थ्य आयेगा और न समृद्धि। 'कंकाल' उपन्यास इसी यथार्थ चिन्तनकी सृष्टि है।

प्रसादजी भारतवर्षके इतिहासके मननशील अध्येता अनुसन्धाता भी थे। ऐतिहासिक नाटकोंमें उन्होंने भारतके पौरुष, कर्त्तव्य भावना, प्रेम भावना और राष्ट्रीयताको इसलिए स्पष्ट करना चाहा कि समाजको अपनी मूल सांस्कृतिक आत्माका बोध हो सके। इन कृतियोंमें उन्होंने प्रेमको न केवल वैयक्तिक स्तरपर आत्म-ज्वालासे अनुप्राणित प्रदर्शित किया, वरन् उसे राष्ट्र तथा समाजके प्रति व्यक्तिकी कर्त्तव्य भावनाकी प्रेरणा और शक्ति देनेवाली चैतन्य ज्वालाके रूपमें भी दिखाया। व्यक्ति-चेतनासे लेकर समष्टि-

चेतनात्मक प्रेमकी व्याप्ति इन कृतियोंमें प्रतिफलित रही। भारतके आस्तिक-नास्तिक दर्शनों, कला-संस्कृति, साहित्य एवं इतिहासकी स्वतन्त्र मीमांसा करते हुए प्रसादजीने ल आय जोवन मनोरमी पाण्डित्यपूर्ण प्रतिष्ठा की।

अपने रहस्यवादकी स्वरूप मीमांसाके निमित्त, उन्होंने अपनी इन सारी चारिक उपलब्धियोंका भरपूर उपयोग करते हुए, अपने निबन्धोंमें यह दिखाया कि ह रहस्यवाद यथार्थसे पलायन नहीं, वरन् परम यथार्थ है। यह आनन्दवाद ही है; ह आनन्दवाद, जिसकी स्थापना इन्द्रने की थी, और वैदिक युगमें समस्त जड़वादी भोगवादी), विवेकवादी तथा दु:खवादी दार्शनिक सरणियोंका प्रत्याख्यान करके गार्यावर्त्तके तरुण आर्योंने जिसे स्वीकार किया, क्योंकि वे स्वत्वके उपासक थे। यह गानन्दवाद उन विदेहोंके कर्मठ जीवनकी व्यवहार्य वस्तु था जिनके नेता प्रसिद्ध ग्राथव विदेह थे। और वे आर्य हिरण्यगर्भके उपासक थे। 'शालवती' कहानीमें तिहासकी भूमिपर इस विदेह आनन्दवादको प्रसादजीने उतारा। इस आत्मवादी आनन्दवादमें उन्हें 'काम'के स्वस्थ रूपका पूरा समाधान मिला। क्योंकि एक तो यह गमको जीवनका मूल तथा विकासका साधन स्वीकार करता है; दूसरे, इसमें वर्जनाओंके लिए अवसर नहीं, आत्मकी ज्वालामें सब निर्मल हो जाता है; और तीसरे, यह जीवनके भी आयामों और मानव-चेतनाकी सभी सम्भावनाओंको व्यवहारमें स्वीकार करनेके उत्साहसे निरन्तर स्पन्दित रहता है। इसमें लोकोन्मुखी चेतनाका सर्वांगीण परिस्फुटन, वेकास और उत्कर्ष कविको ज्ञात हुआ। अस्तु, 'कंकाल'को उन्होंने इसी आनन्दामृतसे वस्थ 'मानव' बनाना चाहा, 'विकृत काम'को संस्कृत करना चाहा।

और इसके लिए जब उन्होंने वैदिक युगमें ऐतिहासिक आधार ढूँढना चाहा, तो उन्हें मनु, श्रद्धा और इडाके विराट् व्यक्तित्व उपलब्ध हो चले। कामकी प्रसादीय भावनाको जीवनके विराट् आयाममें व्यक्त करनेमें, इन पात्रोंके वैशिष्ट्य एवं पारस्परिक सम्बन्ध, कवि-कल्पनाको बड़े सशक्त प्रतीत हुए।

वस्तु-परिकल्पना और समन्वित कथा-विन्यास

चिन्तन और आधारके इन तत्त्वोंको लेकर कवि अपनी नवीन सृष्टिकी अखण्ड परिकल्पनाके निर्माणमें प्रवृत्त हुआ। कई खण्ड बिम्ब, अपनी विच्छिन्न सत्तामें, उसके मानसमें उठे। इसीलिए कवि प्रारम्भमें 'कामायनी'की कथाके इन कतिपय बिम्बोंको भिन्न भिन्न अवसरोंपर भिन्न भिन्न काव्य प्रकारोंमें व्यक्त करने लगा। यह काव्य एक क्रममें नहीं लिखा गया है, यह कहा ही जाता है। 'इन्द्रजाल'में संगृहीत कहानियाँ, 'देवरथ', 'शालवती' और 'चित्र मन्दिर' इसी कालमें ('कामायनी'के निर्माण कालमें) लिखी गई हैं; जिनमें कवि-मानसकी काम भावना व्यक्त होती रही। अन्तमें व्यापक आत्मवादी काम-भावनाके सूत्रमें, वैदिक युगकी विभिन्न वैचारिक सरणियोंके उत्तयन, संघर्ष और आत्मवादकी विजयकी कहानीके रूपमें, इन सारे बिम्बोंका समन्वय हो उठा।

कथा सूत्र इस प्रकार है - प्रलयके पूर्व इन्द्रने असुरोंके एकेश्वरवादी विवेकवाद या प्राणवादका प्रत्याख्यान करके 'आत्मवाद'की स्थापना सारस्वत प्रदेशमें की। परन्तु कालान्तरमें देव जाति इसे भूल चली और वह अपूर्ण अहंतामें द्वैत भावना ग्रस्त रही। दोनों देवासुर जातियाँ अन्ततोगत्वा भोगवादी बन उठीं, और उनके यज्ञ-कर्म हिंसासे पूर्ण रहे ('इड़ा' सर्गमें इस तथ्यकी ओर स्पष्ट संकेत है)। अस्तु अपने विकासमें बाधक पाकर सृष्टि शक्तिने प्रलयके रूपमें उनका विनाश कर दिया। शेष रह गये मनु। काव्यका पहला सर्ग इन्हींको 'हिम गिरिके उत्तुंग शिखरपर' लेकर प्रस्तुत होता है। इसमें द्वैत भावनामूलक 'विकृत काम' (भोगवाद) और हिंसाको प्रलयका कारण बताया जाता है, तथा मनुको प्रकृतिकी सर्वोपरिताका बोध होता दिखाया जाता है। इसके बाद 'आशा' सर्गमें प्रकृतिवाद और बहुदेववादके स्थानपर एकेश्वरवादकी अनुभूति मनुमें उठती है और वे यज्ञ-कर्ममें प्रवृत्त होते हैं। इस यज्ञ-कर्मके रूपमें प्रलय-पूर्वकी देव संस्कृति मनुके माध्यमसे अपनी पुनर्प्रतिष्ठाके निमित्त उभरती है। तत्पश्चात् तीसरे सर्गमें श्रद्धाके द्वारा मनुको 'आत्मवाद' और आत्मवादी संस्कृतिके मौलिक तत्त्वोंका परामर्श दिलाया जाता है। इन्द्र द्वारा प्रलय पूर्व संस्थापित संस्कृति प्रलयोपरान्त पुन अपनी स्थापनामें सचेष्ट हुई। इस प्रकार इन तीन सर्गोंमें जहाँ एक ओर द्वैत मूलक काम भावनाके कारण प्रलयका होना बताया गया, वहाँ दूसरी ओर यह भी स्पष्ट कर दिया गया कि नयी सृष्टिके प्राचीनकालमें प्रकृति पूजा और बहुदेववादके स्थानपर ज्यों ही एकेश्वरवादकी अवतारणा हुई उसी समय आत्मवाद भी व्यक्त हुआ ('काव्य-कला और अन्य निबन्ध में प्रसादजीने यही माना है)। प्रथम तीन द्वैत भावना उत्पन्न करते हैं जिससे भोगवादका जन्म होता है, और अन्तिम अद्वैत आनन्द भावनाका जनक है।

चूँकि भोगवादियोंके समान यह आनन्दवाद भी कामके भोगमूलक (यौन भोग) पक्षको अनिवार्य रूपसे स्वीकार करता है, इसलिए चतुर्थ सर्ग 'काम'को लेकर प्रस्तुत होता है। सृष्टिका आरम्भ कामसे होता है, अतएव मनु श्रद्धा द्वारा नव-सृजनकी भूमिकामें सर्वप्रथम 'काम' ही खड़ा किया गया। कामने अपनी देव संस्कृतिकी विकृतियोंका विवेचन करके अपने नूतन प्रगतिशील आनन्दवादी रूपकी स्वीकृतिकी प्रेरणा मनुको दी। तत्पश्चात् मनुमें वासनाका उभार वेगसे होता है। चूँकि मनुके भीतरसे देवोंकी विकृत संस्कृतिका पुनरुभार 'आशा' सर्ग ही से हो रहा था, अत यहाँ भी उनकी वासना भोगमूलक ही रही। मनुको काम वाणीका बोध नहीं हो पाया था, और न वे श्रद्धाके व्याख्यानको ही ठीकसे समझ पाये थे। परन्तु श्रद्धाके विषयमें यह बात नहीं थी। अतएव जब 'वासना' सर्गसे मनुका 'नर्मभय उपचार' पाकर उसकी(?) नारी बेसुध हो चली और आँख बन्द करके मात्र भोगमें सुख पानेके उन्मादसे तड़प उठी, तब उसको अन्तर्चेतनासे आनन्दवादी रतिका 'लज्जा'के रूपमें उदय हुआ, और यह सीख दे गई कि 'हे नारी, तू यौन भोगमें नरके साथ उतर अवश्य, परन्तु अपनी [illegible] रखकर ऐसा कर। भोग जीवनका

प्राथमिक कार्य अवश्य है, पर यही समस्त जीवन नहीं है, जिस विश्वास-निष्ठाको लेकर तूने नव सृष्टिके प्रारम्भमें मानवताकी विजय हेतु पैर बढाया, उसे न छोडना।' इस प्रकार 'काम'ने मनुको और 'रति'ने (लज्जाके रूपमें) श्रद्धाको मात्र भोग-चेतना नहीं, वरन् इसके बलपर और इसके आगे बढकर मनोहर कर्म करनेकी आत्मवादी चेतना प्रदान की।

परन्तु मनुके माध्यमसे उभरनेवाली विकृत भोगमूलक देव-संस्कृति इससे दबी नहीं, वरन् बढती गई। असुर पुरोहित आकुलि और किलात ने उसे सहयोग दिया, अतएव देवासुरके मिश्रित माध्यमसे हिंसामूलक यज्ञमें व्यक्त होकर, प्रलयोपरान्त नवोदित आत्मवादके सामने वह चुनौतीके रूपमें प्रस्तुत हुई। 'कर्म' सर्गमें इन दो संस्कृतियोंका प्रथम खुला संघर्ष होता है। श्रद्धा मनुसे अप्रसन्न हो जाती है, और मनु नरके साथ उसकी नारीकी जिस सम्भोगानन्द मिलनकी भूमिका निर्मित हो चली थी वह दब जाती है। द्वैत मूलक एकान्त स्वार्थको लेकर उसके और मनुके बीच वाद विवाद होता है। मनु क्षणिकवादी भोगका समर्थन करते हैं, और श्रद्धा उस व्यापक विराट् मानवताका समर्थन करती है जो अहम् इदम्-समन्वित आत्मवादी काम-चेतना का स्वाभाविक वैशिष्ट्य है। मनुने देखा कि श्रद्धा अपनी निष्ठासे (लज्जाके द्वारा निरूपित मार्गसे) तिल भर भी टससे मस नहीं हो रही है, तो उन्होंने छल वाणीका सहारा लिया, और कहा कि 'अबसे मैं वही करूँगा जो तुम कहोगी।' फिर तो संघर्ष टल जाता है, और आत्मवादी चेतनाके दिव्य स्तरपर श्रद्धा मनुके साथ 'पागल सुख' लूटनेमें खो जाती है।

परन्तु 'ईर्ष्या' सर्गमें इन दोनों संस्कृतियोंका संघर्ष पुन छिडा। मनुका विकृत काम सम्भोगके उपरान्त अपने नग्न रूपमें खडा हुआ मनुकी काम चेतना निरन्तर कम होने लगी। इधर श्रद्धा नव मानवताके नव संस्कारकी भूमिका निर्मित करने लगी। वह भोगी देव जातिकी नहीं, वरन् कर्मशील नवीन मानव-जातिकी माँ बननेवाली थी। उसने मनुकी असुर संस्कृतिके स्थान पर तकली-संस्कृति (रचनात्मक संस्कृति)की स्थापना करके सुन्दरताका अपूर्व गान विश्वमें भरना चाहा। आवश्यक हिंसा और तामसी आहारके स्थानपर वह आनन्दवादी कर्तव्य हिंसा और सात्विक आहारकी योजना तैयार करने लगी, और, 'परिवार'की परिधिमें देवजातिके यायावरी भोगको स्थापित करके जीवनका स्वस्थ विकास चाहने लगी। उसका कुटीर बनाना, तकली कातना, अन्न बीनना तथा पारिवारिक जीवनके संयममें रहनेका मनुको परामर्श देना आदि कार्य इसी निमित्त थे। उसने सम्भोग सुखके समक्ष वात्सल्य आह्लादको अधिक स्पृहणीय बताया। यह सब मनु देवके सामने विभ्राट-सा प्रतीत हुआ। वह अहेर और सम्भोगके आगे जानेको तैयार नहीं था। आत्मवाद और मोहमुग्ध-भोगवादके बीच इस बार निर्णायक संघर्ष काल उपस्थित हुआ। और परिणाम हुआ सम्बन्ध त्याग। मनुकी देव संस्कृति वहाँसे हटकर अन्यत्र अपनी स्थापनाके प्रयत्नमें

प्रवृत्त हुई। यहीं 'ईर्ष्या' सर्ग समाप्त हो जाता है। यह दो सांस्कृतिक काम-चेतनाओंके खुले संघर्ष और विच्छेद की कहानी रही।

यहाँसे कथाकी दो धाराएँ प्रवाहित होती हैं। श्रद्धा, अपनी निष्ठामें दृढ़, आत्मवादी संस्कृतिकी स्थापना निमित्त भावी सन्ततिके जनन-पोषणके मार्गपर चली और मनु भोगवादी मार्गपर।

मनु ऐकान्तिक सुखकी खोजमें व्यथित घूमते रहे। उन्हें पर्याप्त आत्मग्लानि भी हुई। ठीक इसी समय 'काम' उन्हें शाप देता है। क्योंकि मनुने उसे खण्डित कुरूप कर दिया था, जब कि उसने उनके माध्यमसे अपना अखण्ड विकास चाहा था। कामके शापका विश्लेषण करनेपर यह स्पष्ट हो जाता है कि मनुकी विकृतियोंके कारण उनके द्वारा स्थापित व्यवस्थामें भोग, कर्म और ज्ञान अपनी अलग अलग सत्ता बनाकर दुःख-के हेतु ठहरेंगे। आनन्द अप्राप्य रहेगा।

बादमें मनु सारस्वत प्रदेश पहुँचते हैं और वहाँकी रानी इडाके सम्पर्कमें आते हैं। इडा और मनु देव-संस्कृतिको पुनः स्थापित कर देते हैं। भोगवादी मनु बुद्धिवादी (या चेतनावादी) इडाकी सहायतासे 'प्रजापति' बने। इडामें वैदिक युगके विवेकवाद और यज्ञ-कर्मवादके वैचारिक तत्त्व पूरी मात्रामें विद्यमान थे। उसमें कर्मविषयक हेतु विचारकी शक्ति थी। पर वह स्वयं भोगवादसे विरत थी। यहीं उसकी और मनुकी प्रकृतियोंका मौलिक विरोध रहा। और इसलिए अपने प्रदेशको भौतिक समृद्धि प्रदान करके भी वह लोगोंको शान्ति सुख न दे सकी। एक ओर उसमें भोग और कर्म (साधन कर्म)में समन्वय स्थापित करनेका बोध नहीं था (क्योंकि वह स्वयं भोगसे दूर थी), और दूसरी ओर मनु थे जो बुद्धिकी समस्त साधन-शक्ति और उसकी सम्पूर्ण उपलब्धियोंको *खींचकर अपने वैयक्तिक मोहान्ध भोगकी तृप्तिमें लगाना चाहते थे।* दूसरे शब्दोंमें, मनु भोगमूलक मानववादकी ओर बढ़ रहे थे (जो अन्ततोगत्वा चार्वाकवाद हो जाता है), और इडा भोगको नितान्त वर्जित मानकर ('धरणीकी वर्जित मादकता' मानकर) विवेकवादी मानववादका उत्कर्ष करना चाहती थी (इस मार्गके अन्तर्गत वैदिक यज्ञवाद और विधि निषेधमय कर्मकाण्ड भी आ जाते हैं)।

इस वैषम्यका परिणाम रहा संघर्ष। मनुने इडापर बलात्कार करके विवेकवाद को (भोगसे विमुख ज्ञानको) भोग भूमिपर खींच लानेका प्रयत्न किया। पर उनकी हार हुई। भोगवाद और विवेकवाद, जो 'इडा' सर्गमें एक साथ कर्मरत हुए थे, विच्छिन्न हो उठे, और 'कर्म' लक्ष्य हीन होकर अशान्तिका कारण बना। यही वह स्थल है जहाँ (कामायनीकारकी शब्दावलीमें) इच्छा, सकाम कर्म और ज्ञान (विरक्तिमूलक विवेक) समन्वित होनेके स्थानपर एक दूसरेसे दूर हो गये। कामने मनुको इसी आशय का शाप भी दिया था, यह पहले बताया जा चुका है। 'इडा', 'स्वप्न' सर्गके उत्तरार्द्ध, और 'संघर्ष' सर्गोंमें यही सब विन्यस्त किया गया है।

'स्वप्न' सर्गके आरम्भ ही में कविने श्रद्धाके आत्मवादी संस्कारोंमें दीक्षित होते

भी उसने पाठकोंको दे दिया। इसके बाद उसी सर्गमें यह दिखा दिया गया कि स्वप्नमें मनुके संकट और रुद्र एवं प्रजाके कोपको देखकर श्रद्धा मनुको ढूँढने निकल पड़ी। तत्पश्चात् 'संघर्ष' सर्गमें विन्यस्त उपर्युक्त घटनाओंका उल्लेख काव्यमें किया गया। मनुके घायल होनेपर विवेकवादिनी इडाका हृदय ऊपर आया; और वह भोगी मनुके प्रति सहज सहानुभूतिसे प्रेरित हुई। इस स्थलपर कविने उसके हृदयकी मार्मिक व्यंजना प्रस्तुत की है।

शीघ्र ही श्रद्धा और मानव भी वहाँ आ जाते हैं। और एक बार पुन. कथाकी तीनों धाराएँ (मनुकी भोगवादी, इडाकी विवेकवादी और श्रद्धाकी आत्मवादी निष्ठा-धाराएँ) एक बिन्दुपर मिलती हैं। श्रद्धाके उपचारसे (अर्थात् आत्मवादके अमृत-स्पर्शसे) निश्चेष्ट, 'मोह-मुग्ध-जर्जर अवसाद'ग्रस्त भोगवाद जी उठा; मनुकी चेतना लौट आई। श्रद्धाके सामने उन्होंने अपनी गलती स्वीकार की, और पर्याप्त आत्म भर्त्सना भी की। परन्तु उनकी अन्तश्चेतनामें पुरानी देव-संस्कृतिकी वासना बनी हुई थी। इस वासनाका पुनः उभार आता है और मनु सबको छोड़कर भग जाते हैं। भोगवादकी चरम परिणति जीवनसे पलायन ही ठहरता है। इडामें भी आत्म-ग्लानि भर उठी; और वह अपनेको अपराधी महसूस करने लगी। इस प्रकार, इस सर्ग में मनुका ऐकान्तिक भोगवाद और इडाका भोग विमुख विवेकवाद दोनों आत्म-ग्लानिको प्राप्त हुए। इसलिए कविने इस सर्गका नाम 'निर्वेद' रखा।

स्पष्ट हो जाना चाहिए कि इस स्थलपर आत्मवादके अतिरिक्त वैदिक कालकी अन्य सभी वैचारिक-सरणियों (या जीवन मतों)को परास्त दिखा दिया गया (क्योंकि मनुके भोगवादी और इडाके भोगविमुख विवेकवादी सकाम कर्म मार्गोंमें उन सभीका समावेश हो जाता है)। प्रलयके उपरान्त जो देव-संस्कृति अपनी स्थापनामें कई प्रकारसे प्रयत्न करती रही, वह पुन (और आर्यावर्तके तरुण आर्योंके लिए सदाके लिए) निष्फल हो गई। और आत्मवादकी निर्विघ्न प्रतिष्ठाके निमित्त अवसर उपस्थित हुआ। 'निर्वेद' सर्गकी समाप्ति इसी स्थलपर होती है।

'दर्शन' सर्गके पूर्वार्द्धमें एक ओर भोग और कर्ममें समन्विति स्थापित करनेमें असमर्थ इडाको श्रद्धा द्वारा विश्व-जीवनविषयक आत्मवादी बोध प्रदान कराया जाता है, तो दूसरी ओर 'मानव'के व्यक्तित्वकी उदात्त रेखाओं एवं सम्भावनाओंकी व्यंजना प्रस्तुत करते हुए उसे इडाके कलह-कोलाहलपूर्ण प्रदेशकी सुव्यवस्था निमित्त तत्पर दिखाया जाता है। इस स्थलपर पुन कथाकी दो धाराओंको समानान्तर रूपमें प्रवाहित होनेका अवसर उपस्थित होता है। मनुका भोगवादी पलायन ऐकान्तिक स्वार्थ भूमि या वैयक्तिक भूमिपर था और उसका समाधान भी उसी भूमिपर किया जा सकता था। दूसरी ओर, इडाके (भोग विमुख) विवेकवादी कर्म प्रदेशमें व्याप्त अव्यवस्था सामाजिक भूमिपर थी, उसका समाधान उसी भूमिपर करना था। अतएव श्रद्धा स्वयं प्रथम समस्याको सुलझानेके निमित्त अग्रसर हुई, और 'मानव' दूसरी समस्या-भूमिपर चला। मानवमें श्रद्धा ही थी, वह 'श्रद्धामय' था।

'दर्शन' सर्गके उत्तरार्द्धमें श्रद्धा और मनुका पुनर्मिलन दिखाया गया है। मनु, इडा तथा सारस्वत प्रदेशकी प्रजाके प्रति अपनी द्वेष-भावना व्यक्त करते हैं; और श्रद्धा उन्हें पुनः सत्परामर्श देती है। मनु श्रद्धामें 'विश्व-माँ'की मूर्ति देखते हैं। अबतक उनके लिए नारी केवल नारी (भोग्या) थी; पर अब उन्होंने नारीके मातृत्वको न केवल स्वीकार किया, वरन् उसीमें उन्हें विश्व-मंगल भी ज्ञात हुआ। 'ईर्ष्या' सर्गके अन्तमें श्रद्धा-नारीकी जिस उभरती हुई मातृ मूर्तिको देखकर वे भागे थे, वही अब उनके लिए श्रेयमयी बन उठी। मनुका भोगवादी विकृत काम अब उदात्त भूमिपर उठ आया।

इसी उपयुक्त अवसरपर श्रद्धाने उन्हें आत्मवादी आनन्दके तत्त्व चिन्तनका बोध कराया; और उनके मानसमें महाचितिकी विश्व रूपमें अभिव्यक्तिका आह्लादक बिम्ब उभर आया (इसीको कविने इस स्थलपर नटेशके नृत्य बिम्ब द्वारा व्यक्त किया है)। इसके पश्चात् उन्होंने इस आत्मवादी अनुभूतिको स्थायी रूपसे पाने तथा उसे व्यवहारमें अभिव्यक्त करनेका उपाय पूछा। 'रहस्य' सर्ग यही उपाय लेकर प्रस्तुत होता है।

मानव-चेतनाकी तीन संचरण भूमियाँ हैं : शरीर, इन्द्रिय और मनकी भूमि, प्राण-शक्तिकी भूमि; और मनन-चिन्तनकी भूमि। पहली भूमिमें भोग (भूख प्यास), दूसरीमें (सकाम) क्रिया, और तीसरीमें मनन-चिन्तनकी प्रधानता रहती है। व्यक्तिके सम्यक् विकासके लिए इन तीन व्यक्तित्व-खण्डोंका अपनी स्वतन्त्र सत्तामें सक्रिय होते हुए भी परस्पर सम्बद्ध-समन्वित रहना आवश्यक होता है। समन्वयके अभावमें व्यक्तित्वका सर्वांगीण विकास नहीं हो पाता। चूँकि काम ही चेतनाका मौलिक स्फुरण है, अतः वही इन तीनोंमें अखण्ड रूपसे व्याप्त रहकर उनका समन्वय कर सकता है। जबतक वह इन तीन भूमियों (गोलकों)में अलग-अलग रहता है, तबतक आनन्द नहीं प्राप्त होता और संघर्ष बना रहता है। इसलिए इन तीनोंको समन्वित करना कामके विशुद्ध, व्यापक रूपकी अभिव्यक्तिके हेतु अनिवार्य साधना है।

श्रद्धाने मनुको यह 'रहस्य' स्पष्ट किया। उसने बताया कि भोग, सकाम (मोह-मुग्ध) कर्म, और (भोग विमुख) ज्ञानको एक इकाईमें परिणत करना मनुष्यके लिए आवश्यक है। इसके लिए व्यक्तिको अन्त साधना करनी होती है; यम-संयम और आत्मके निष्कम्प निदिध्यासनके द्वारा यह साधना पूरी होती है। 'आनन्द'तक आरोहण इसी साधनाके द्वारा 'कामायनी'में दिखाया गया है। 'रहस्य' सर्ग इसी वैयक्तिक साधनाको प्रस्तुत करके समाप्त हो जाता है। इस स्थलपर यह संकेत कर देना आवश्यक लगता है कि कविकी यह योजना अत्यन्त आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है। जबतक वैयक्तिक स्तरपर कामकी उपर्युक्त अखण्ड प्रतिष्ठा नहीं हो पाती, तबतक 'समूह' या 'जाति'का जीवन मांगलिक नहीं हो सकता। जब किसी समाजका प्रत्येक सदस्य अपनी अहम्मूलक काम-चेतनाकी, अन्त.साधना द्वारा, समष्टि-व्याप्ति सिद्ध कर [illegible] स्थित होनेमें समर्थ हो जाता है।

और, व्यक्तिके इस अन्तःप्रदारकी मौलिक आवश्यकताकी उपेक्षा करके, मात्र समूहकी दृष्टिसे जो व्यवस्था की जायगी वह, सद्भावसे प्रेरित होनेपर भी, अन्ततोगत्वा भटकावमें पड़ी रहेगी। समूह द्वारा व्यक्तिपर आरोपित व्यवस्था मूल हीन ठहरती है। यही कारण है कि आत्मवाद व्यक्तिके स्व-सवारको, अन्तःसाधनाके मार्गको, अधिक एवं मौलिक महत्त्व प्रदान करता है। और यही कारण है कि कामायनीकारने मानव द्वारा, अव्यवस्थित सारस्वत प्रदेशकी व्यवस्था निमित्त, किये गये प्रयत्नोंको प्रत्यक्ष रूपमें न दिखाकर, मनुकी अन्तःसाधनाको ही प्रस्तुत करना ठीक समझा। अन्तमें 'आनन्द' सर्ग मनु, श्रद्धा, इडा, मानव और सभी प्रजाको आनन्द भूमिपर प्रस्तुत करके यह संकेत प्रदान कर देता है कि समाजोत्थानका मार्ग व्यक्तिके उत्थानके माध्यमसे ही सम्भव और वाञ्छनीय होता है।

इस प्रकार काव्य-वृक्षका चरम उत्कर्ष उस स्तरको प्राप्त होता है जहाँ व्यष्टिगत और समष्टिगत दोनों लोकोन्मुखी चेतनाओंको महाचिति निरन्तर एकरस स्पर्श करती है। यहाँ व्यष्टिके माध्यमसे विश्व शक्ति स्वयं अवतरित होकर लोक-जीवनका सम्भवतम भोग करती है। इस स्थितिमें व्यक्तिके शरीर, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, अहंकार और आत्ममें सहज एकता स्थापित हो जाती है। उसका काम पूर्ण हो जाता है।

× × ×

अबतक जो कुछ कहा गया, उससे यह स्पष्ट हो जाता है कि 'कामायनी'की वस्तु-योजनामें पूर्ण समन्विति है। अब संक्षेपमें उसके आयामोंपर भी विचार कर लिया जाय। प्रलयके पूर्वकी देवासुर-जातियों और प्रलयोपरान्तकी नवीन मानव-सृष्टिके समस्त वैदिकयुगीन आर्योंकी विविध दार्शनिक सरणियों और उनपर आधारित व्यवहारोंको 'कामायनी'की वस्तु व्याप्त किये हुए है। इसमें वैदिक युगीनप्रकृति उपासना, बहुदेवोपासना, एकेश्वरवाद, तप मार्ग, चार्वाकीय भौतिकवाद, सात्योंके विवेकवाद, क्षणिकवाद, अणु परमाणुवाद, अनात्मवाद आदिका स्पष्ट समावेश है। और साथ ही, इन दुःखवादी मतोंके विरोधमें स्थापित आनन्दमूलक आत्मवादके उद्भव, विकास एवं पूर्ण प्रतिष्ठाका समन्वित इतिहास भी है। *शिव रुद्र-आनन्दके उन सभी वेदकालीन विचार-तत्त्वोंका इसमें समावेश है जिन्हें आगमोंमें परिवर्द्धित किया गया। विदेहोंकी* ऐतिहासिक आनन्दवादी समाज-व्यवस्था (जिसका उल्लेख प्रसादजीने 'सात्वती' कहानी में किया है) का इतिहास मानो इस काव्यमें निम्रायित हो उठा है। यह भी कहना गलत न होगा कि गीतामें जिस दर्शनका निरूपण किया गया है उसको, ऋग्वेदसे लेकर उपनिषद् कालतकके, आर्य-जीवनकी व्यावहारिक भूमिपर सक्रिय रूपमें प्रदर्शित करनेका विराट् प्रयत्न 'कामायनी' है। इसमें सारे भारतकी सहस्रों वर्षोंकी तत्त्व चिन्तनाओंके आकलन, समीक्षण, प्रत्याख्यान और मूल्यांकनका अपूर्व प्रयत्न है। और, यह सब कामके स्वरूप विकासके माध्यमसे सम्पन्न किया गया है। चूँकि काम-चेतनाकी क्रिया मनोवैज्ञानिक विषय है और देश काल-निरपेक्ष है, अतएव 'कामायनी'में विन्यस्त कामके पूर्ण

होती है। कदाचित् इसीलिए अनुसन्धानकर्त्ताओंने इस काव्यमें डार्विनके विकासवाद, आधुनिक परमाणुवाद, विज्ञानवाद एवं क्षणिकवाद आदिके विचार तत्त्वोंको ढूँढा है।

× × ×

आत्मवादका मूल्यांकन

'कामायनी'की वस्तुमें मूल आधार आत्मवाद ही ठहरता है, अतएव मूल्य प्रतिपाद्य भी वही है। उसीपर कामका व्यापक विकास होता है और वही स्वस्थ लोकोन्मुखी जीवनको आनन्द भूमिपर अवस्थित करनेमें समर्थ दिखाया गया है। इसलिए आत्मवादका मूल्य ही 'कामायनी'का प्रतिपाद्य मूल्य है। परन्तु आत्मवाद एक तत्त्व दर्शन है, और तत्त्व दर्शनकी समीक्षा प्रमुखतः तत्त्व शास्त्रकी भूमिपर होनी चाहिए। इसके लिए समस्त तत्त्व चिन्तनोंके आकलन और तुलनात्मक समीक्षाकी आवश्यकता होती है। और इस प्रकारकी विवेचना विशुद्ध दर्शनकी (और दार्शनिकों द्वारा ही) होगी। प्रतिपाद्यका साहित्यिक मूल्यांकन इससे भिन्न होगा ही।

साहित्यिक मूल्यांकनमें हम यह देखते हैं कि काव्यके द्वारा कविने समाजको जो उपलब्धि करायी है वह सामाजिक एवं वैयक्तिक जीवनकी प्रगति सुख शान्तिमें कितना योग प्रदान करती है, वह हमें निराशा, जड़ता, कुरूपता और अव्यवस्थाकी ओर ले जाती है, या आशा, चैतन्य, सुन्दरता, और सुव्यवस्थाकी ओर। इस कोटिके मूल्यांकनके लिए समीक्षकमें व्यापक लोक ज्ञान होना चाहिए, और उसमें किसी प्रकारका आग्रह न हो। इस निवेदनके बाद मैं 'कामायनी'के प्रतिपाद्य मूल्यकी संक्षिप्त चर्चा कर रहा हूँ।

'कामायनी'का आत्मवाद अपूर्व रूपमें प्रगतिशील जीवन-दर्शन है। इसकी यह अपूर्वता इस बातमें है कि यह एक ओर रूढ़ियों या प्रतिगामिताको अस्वीकार करता है, तो दूसरी ओर जीवनका समग्र ग्रहण एवं भोग करता है। श्रद्धाकी निम्नांकित पंक्तियोंका साक्ष्य लीजिए —

"चेतना का सुन्दर इतिहास
अखिल मानव भावों का सत्य,
विश्व के हृदय पटल पर दिव्य
अक्षरों से अंकित हो नित्य।"

इसका आशय इस प्रकार है —'सम्पूर्ण मानवीय भावोंका सत्य, जो चेतनाका सुन्दर इतिहास है (अर्थात् चेतनाने सभी मानव भावोंका मानव-कल्याण हेतु विकास किया है, वे सभी सत्य हैं), विश्व जीवनके बीच दिव्य अक्षरोंमें (अर्थात् मनोहर-उदात्त कर्मों द्वारा) व्यक्त हो।' स्पष्ट है कि आत्मवादिनी श्रद्धा जीवनके सभी भावोंको स्वीकार करनेका परामर्श देती है। जैसा कि मैं कह आया हूँ, इस मतके अनुसार जीवन वही सुन्दर होता है। जिसमें इन्द्रियोंका हनन नहीं वरन् पूर्ण उत्कर्ष हो, जिसमें उनसे स्वस्थ कर्म सम्पन्न होते रहें। प्रसिद्ध ही है कि आत्माके रथको, इन्द्रिय-रूपी

घोड़ोंको मन रूपी बागडोरसे नियन्त्रित करके, बुद्धि परम आनन्दतक ले जानेमें समर्थ होती है। यही कारण है कि आत्मवादमें त्याग और ग्रहणकी अलग-अलग सत्ता नहीं रहती। वहाँ तो सबको एक ही लक्ष्यकी ओर प्रेरित कर दिया जाता है।

व्यष्टि और समष्टिगत चेतनाओंकी समन्विति द्वारा जीवनके समग्र ग्रहणको त्यागसे अभिन्न बनाया जाता है। इस समन्वितिके हेतु एक 'सर्वान्तर आत्म'की सत्ताके प्रति निष्ठा अनिवार्य है। यह निष्ठा श्रद्धाकी वस्तु है। इसके पूर्वकी समस्त तार्किक उपलब्धियोंके बाद मानवीय बुद्धि (इडा) इसी निष्ठाके चरणोंमें नत मस्तक होकर आनन्दका आस्वादन कर पाती है। विश्वका प्रत्येक तत्त्व चिन्तक किसी-न किसी मूलतक जाकर तर्क करना बन्द कर देता है और उसे ही अपने तत्त्व चिन्तनका मूल प्रतिपाद्य घोषित करता है। इसलिए यदि कोई तत्त्व चिन्तन यह मानता है कि सारे विश्वकी 'सर्वान्तर' आत्मा सत् चित्-आनन्द है और वह तर्कसे नहीं जानी जा सकती है वरन् वह श्रद्धाका विषय है, तो प्रतिगामी दर्शन नहीं कहना चाहिए। वृहद्वासिष्ठका यह मत यहाँ उद्धृत कर देना मैं ठीक मानता हूँ —

"नामरूपविनिर्मुक्तम् यस्मिन् सन्तिष्ठते जगत्।
तमाहु प्रकृतिम् केचिन्मायामन्ये परे त्वणु॥"

अर्थात् नाम-रूपसे रहित यह जगत् जिसमें स्थित होता है उसे कोई प्रकृति कहता है, कोई माया कहता है और कोई अणु कहता है। अतएव चाहे कोई उस मूल तत्त्वको जिस नामसे पुकारे, हमें देखना यही चाहिए कि उसके आधारपर जीवनको बनाये रखने, उसे सहने और उसका भरपूर आनन्द लेनेमें क्या सहायता प्राप्त होती है।

हम स्पष्ट कर आये हैं कि आत्मवाद मनुष्यको अक्षय्य शक्तिका प्रतीक मानता है, वह मानवको विश्व-मानव बननेमें समर्थ मानता है और इसीमें परम पुरुषार्थ समझता है। व्यक्तिवाद और समाजवाद आधुनिक युगके प्रबल विरोधी तत्त्व हैं। व्यक्ति और समाजका संघर्ष पुराना है और परिवर्तित परिवेशमें नये-नये रूपोंमें व्यक्त होता रहता है। इनके सामंजस्यके प्रयत्न निरन्तर होते रहते हैं। परन्तु आजतक कोई ऐसा वैचारिक स्तर नहीं प्राप्त हो सका जिसपर सदाके लिए यह सामञ्जस्य स्थापित हो सके। साम्यवादी समाजवाद इस निष्ठाके साथ चल रहा है कि समूहका हित व्यक्तिके हितसे ऊपर है और एक दिन वह व्यवस्था स्थापित होगी जब द्वन्द्व न रहेगा। आत्मवाद प्रमुखतः यहाँ मार्क्सवादी समाजवादसे भिन्न है। वह यह मानता है कि द्वन्द्वोंकी प्रत्यक्ष सत्ता कभी समाप्त नहीं हो सकती उनके रूप बदल सकते हैं, पर उनका अस्तित्व नहीं समाप्त हो सकता।

पर इसका यह अर्थ नहीं है कि आत्मवाद वर्ग शोषणको मानता है, उसे प्रोत्साहन देता है, अथवा उसकी ओरसे आँखें बन्द रखता है। ऐसा मानना भ्रम होगा। 'कामायनी'में स्पष्ट ही कहा गया है कि 'कल्याण भूमि यह लोक' (अर्थात् लोक ही कल्याणका मार्ग है), तथा 'परलोक चिन्तन मात्र प्रवचना' है। मनुको फटकारता हुआ काम कहता है —

"तुम भूल गये पुरुषत्व मोह में
कुछ सत्ता है नारी की;
समरसता है सम्बन्ध बनी
अधिकार और अधिकारी की।"

द्वन्द्वोंकी स्वीकृति इसी समरसताकी भूमिपर होती है। दूसरे शब्दोंमें, आत्मव द्वन्द्वमें द्वन्द्वातीतिका हामी है; और यह द्वन्द्वातीति (या समरसता) मानवीय अन्तर्चेत की अनुभूति मात्र है, गोचर बाह्य व्यवस्था नहीं। यह स्थिति बाह्य विश्वमें नहीं, ब व्यक्तिकी अन्तर्चेतना-भूमिमें होती है। यही कारण है कि कुछ लोग इसे व्यक्तिवा दर्शन माननेके भ्रममें हैं। परन्तु वास्तवमें जिस मानवीय अन्तर्चेतनामें द्वन्द्वातीति आत्मवाद स्वीकार करता है वह न वैयक्तिक है, न समष्टिगत, वरन् वह इन दोनों नित्य अखण्ड रूपसे व्याप्त सत्ता है। यह वह चेतना स्तर है जहाँ द्वन्द्व अपनी नि सत्तामें रहकर भी संघर्ष नहीं करते, वरन् सभी एक इकाईमें संघटित होकर पूर्ण सवि और आनन्दमय होते हैं। यहीं जीवनका समग्र ग्रहण और भोग सर्वदा आनन्दप्र होता है। और व्यक्ति कह उठता है कि 'यह मैं हूँ' अर्थात् यह सारा विश्व मैं ही हूँ।

विवादका अन्त तो होता ही नहीं। इसे लोग थोथा आदर्शवाद भी कह दे हैं। कारण यह है कि व्यक्तिवाद और समाजवादके पक्षोंपर ही खड़े होकर देखने आत्मवादकी उक्त धारणाओंको ग्रहण करना सम्भव ही नहीं होता। परन्तु कामाय कारने इस आत्मवादको तरुण आर्यों (विदेहों)के जीवनकी व्यवहार्य वस्तु माना इतिहास इस मान्यताकी सत्यताका साक्षी है। आज अपने सशक्त ज्ञान प्रतीकोंके भू जानेके कारण और विज्ञानके क्षेत्रमें विश्वके अन्य राष्ट्रोंसे पीछे एवं निर्बल रहने कारण, हमें यह सही न जँचे, परन्तु समय इसकी उपादेयता और सत्यताको लेकर प्रख होगा। अन्यथा अन्तर्राष्ट्रीय स्तरपर आज जो हिंसाके स्फुलिंग एकत्रित होते चल रहे हैं, वे विश्वकी सत्ता ही निगल जानेके हेतु ठहरगे।

मैं 'कामायनी'के आत्मवादको आजकी परिवर्तित स्थितिमें, नये परिवेशमें और जीवनके नये आयामोंमें सफलतापूर्वक मानवका मार्ग-दर्शन करनेवाला मानता हूँ। यह वीरोंका दर्शन है, क्रान्तियोंमें निरन्तर अग्रसर होता च युगानुकूल परिवर्तनका समर्थक है। यह मानवकी नहीं, अखिल मानवताकी (पूर्णताको) सर्वोपरि महत्त्व देता है। श्रद्धाके इस कथनके साथ मैं इस वि सहार कर रहा हूँ:—

"शक्ति के विद्युत् कण, जो व्यस्त
विकल बिखरे हैं, हो निरुपाय,
समन्वय उसका करे समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय।"